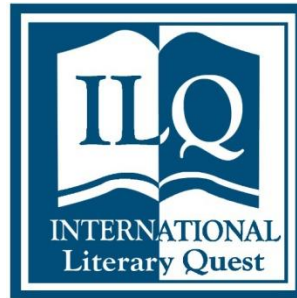


ISSN : 2319-7137

Volume : 10/Issue : 06
July-December-2019

INTERNATIONAL LITERARY QUEST

An International Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal



Chief Editor

Prof. Ashok Singh
Hindi Department
Banaras Hindu University

Editor
Dr. Vikash Kumar
Dr. Surendra Pandey

©सम्पादक

प्रधान सम्पादक

प्रो० अशोक सिंह

सम्पादक

डॉ० विकास कुमार

डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

उप सम्पादक

डॉ० नलिनी माथुर (एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भगिनी निवेदिता कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय)

डॉ० विनय कुमार शुक्ल (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभागाध्यक्ष, रामानुजप्रतापसिंह देवशासकीय स्ना.महा., बैकुण्ठपुर, कोरिया, छ.ग.)

सुनील कुमार सिंह (असिस्टेंट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अर्मापुर स्ना. महाविद्यालय, कानपुर)

कार्यकारी सम्पादक

डॉ० सच्चिदानन्द चौबे (प्राचार्य, हंसराज राम लालदेई स्ना. महाविश्वविद्यालय, झुरिया, भगिनी, गोरखपुर)

मोहम्मद आदिल (असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भवन्स मेहता पी.जी. कालेज, कौशाम्बी, उ.प्र.)

आफताब आलम (शोध छात्र, प्रा.भा.इ.सं. पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

सह सम्पादक

डॉ० अजीत कुमार राय (गाजीपुर)

डॉ० नीतू टहलानी (पूर्व शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

सुदर्शन चक्रधारी (शोध छात्र, प्रा.भा.इ.सं. पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० रिपुंजय कुमार सिंह (पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

डॉ० रविशंकर पाण्डेय (रोहतास, बिहार)

राणा अवद्युत कुमार (शोध छात्र, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

विधि परामर्शदाता

डॉ० रणजीत सिंह चौहान

अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय

ISSN : 2319-7137

मूल्य : ₹0 250.00

सम्पादकीय पता

डॉ० विकास कुमार

सिविल लाइन, तकिया रोड,

सासाराम, रोहतास (बिहार)

ई-मेल : internationalliteraryquest@gmail.com

मो० : 09470828492, 9934468661

वेबसाइट- www.internationalliteraryquest.in

कम्पोजिंग

सुधीर कुमार, 7408996394

मुद्रक :

राजैरिया ऑफसेट

जगतपुरी, दिल्ली-110093

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित लेखों एवं उद्धरणों का दायित्व स्वयं लेखकों का है। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं जिम्मेदार होगा।

संपादक मण्डल

प्रो० अनीता सिंह

अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो० रवीन्द्रनाथ सिंह

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० प्रभाकर सिंह

हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० एस० आर० जयश्री

महात्मा गांधी कॉलेज, तिरुवन्तपुरम्, केरल

प्रो० बी० गनेशन

बैंगलोर विश्वविद्यालय, कर्नाटक

डॉ० मिकी निशिओका

एसो०प्रो० रिसर्च डिवीजन ऑफ एशियन, लैंग्वेजेज एण्ड कल्चर III रिसर्च इंस्टिट्यूट ऑफ वर्ल्ड लैंग्वेजेज, ओसाका यूनिवर्सिटी, जापान

प्रो० कीम उ जो

भारतीय अध्ययन विभाग, हाइकू यूनिवर्सिटी, दक्षिण कोरिया

प्रो० आरिफ नजीर

हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी

डॉ० सुनीता सिंह

शिक्षा संकाय, ली० मोयने कॉलेज, सायराक्यूस, न्यूयार्क, अमेरिका

डॉ० मृत्युंजय सिंह

एसो० प्रो०, हिन्दी विभाग, एस०पी० जैन कॉलेज, सासाराम, बिहार

डॉ० सावित्री सिंह

संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, सासाराम, रोहतास, बिहार

डॉ० दिग्विजय सिंह

हिन्दी विभाग, के०डी०बी० डिग्री कॉलेज, दुबहर, बलिया

डॉ० प्रिया सिंह

राजनीतिशास्त्र विभाग, गुलाब देवी महिला, पी०जी० कॉलेज, बलिया

डॉ० विकास कुमार सिंह

असि० प्रो०, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० राजकुमार उपाध्याय मणि

असि० प्रो० एवं विभागाध्यक्ष, प्रयोजनमूलक हिन्दी, सरगुजा विश्वविद्यालय, अंबिकापुर, छत्तीसगढ़

डॉ० वर्षा सिंह

असि०प्रो० अंग्रेजी विभाग. देशबन्ध कॉलेज. दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादकीय



जमीन जल चुकी, आसमान बाकी है,
दरख्तों तुम्हारा इंतजार बाकी है।
वे जो खेतों के मेड़ों पर उदास बैठे हैं,
बादलों अब तो बरस जाओ सूखी जमीन पर
मकान गिरवी है और लगान बाकी है।

पत्रिका के इस अंक में पूरे भारतवर्ष के कई जगहों से आलेख प्राप्त हुए हैं और साथ ही आलेख के साथ-साथ उन सभी लेखकों के नवीन शोध परक विचार भी आये हैं। बच्चों के बौद्धिक विकास एवं मानसिक मापन के द्वारा शैक्षिक मापन की अवधारणा क्या होनी चाहिए, डॉ० आमोद कुमार सिंह ने अपने आलेख में बखूबी रेखांकित किया है। डॉ० रूपक कुमार का लेख बिहार में सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन की ओर ध्यान आकृष्ट कराता है। 'गाँधी और अहिंसा' शीर्षक के माध्यम से कुमार रमन किरण जी का लेख अहिंसा के सिद्धांत के अन्तर्गत अकेला एक व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म, अपनी आत्मा के रक्षार्थ बड़े से बड़े साम्राज्य की नींव हिला देता है। अहिंसा हिंसा से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। मनीष कुमार शर्मा जी का लेख 'प्रेमचंद की कहानी की उत्तर कथा और रेणु' शीर्षक में रेणु जी को आधुनिकतावादी फैशन की परवाह न करते हुए कथा साहित्य को एक लम्बे अरसे के बाद प्रेमचंद की उस परम्परा से फिर जोड़ा जो बीच में मध्यमवर्गीय नागरिक जीवन की केन्द्रीयता के कारण भारत की आत्मा से कट गई थी। मानव जीवन में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा का महत्व केवल भावात्क ही नहीं है वैज्ञानिक भी है। डॉ० आलोक कुमार पाण्डेय का आलेख 'हिन्दी की पहचान के विकास में अहिन्दी क्षेत्र का अवदान : एक अवलोकन' इसी की ओर इशारा करता है।

पत्रिका के इस अंक में विद्वान लेखकों द्वारा लिखित आलेख शिक्षा के क्षेत्र में छात्र/छात्राओं को एक नई दिशा व उनके ज्ञान के बौद्धिक विकास को मजबूती प्रदान करेगा।

International Literary Quest के प्रधान सम्पादक प्रो० अशोक सिंह, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पत्रिका को नये रूप व नये कलेवर के साथ पत्रिका को प्रकाशित करने में आशीर्वाद व प्रोत्साहन दिया। आशा है आप सभी पाठकगण का स्नेह व आशीर्वाद निरन्तर मिलता रहेगा जिससे अग्रिम अंक को प्रकाशित करने में एक नयी पहल होगी।

विकास कुमार
(संपादक)

अनुक्रम

1.	बच्चो का बौद्धिक विकास एवं मानसिक माप डॉ आमोद कुमार सिंह	10–14
2.	बिहार में सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन (1990–2015) : एक अध्ययन डॉ० रूपक कुमार	15–20
3.	IMPACT OF WORKPLACE ENVIRONMENT ON HEALTH WORKERS Dr. Urmila Kumari	21–28
4.	गाँधी और अहिंसा कुमार रमन किरण	29–36
5.	प्रेमचंद की कहानी की उत्तर कथा और रेणु मनीष कुमार शर्मा	37–39
6.	भारत में प्रगतिवाद के उदय का कारण डॉ० अरुण कुमार मिश्र	40–53
7.	A NEW DIMENSION IN AGRICULTURE IN BIHAR IN GLOBALIZED ENVIRONMENT AJAY KUMAR	54–58
8.	NATURE AND MEANING OF THE POLICY OF NON-ALIGNMENT DR. SUBODH KUMAR YADAV	59–64
9.	FUNCTIONS, OBJECTIVE AND ROLE OF SEBI IN STOCK MARKET IN INDIA MD. ZAFAR ALAM	65–69
10.	भारतीय दर्शने मोक्षस्य स्वरूपम् रामकृपाल साह	70–72

11.	हिन्दी की पहचान के विकास में अहिन्दी क्षेत्र का अवदान : एक अवलोकन डॉ० आलोक कुमार पाण्डेय	73—80
12.	कलाकांत त्रिपाठी के उपन्यासों में चित्रित किसान जीवन विनोद कुमार	81—87
13.	किसान के आँसुओं का सैलाब 'फाँस' डॉ० रवीन्द्र कुमार यादव	88—90
14.	"संयुक्त प्रान्त में रेलवे के विकास के समाजिक प्रभाव" डॉ० रमेश कुमार	91—100
15.	"उत्तर-वैदिक कालीन सामाजिक जीवन" डॉ० विमलेश कुमार सिंह यादव	101—103
16.	हिन्दी एकाँकी का जनक - डॉ. रामकुमार वर्मा डॉ.जोण पणिक्कर.वी	104—107
17.	समाज के पथ प्रदर्शक तुलसीदास डॉ. सुषमा कुमारी	108—112
18.	हिन्दी ग़ज़ल परम्परा में बिहार के ग़ज़लकारों का अवदान डॉ० जियाउर रहमान जाफरी	113—117
19.	संस्कृत वाङ्मय में विज्ञापन-तत्त्व डॉ० गङ्गेश 'गुञ्जन'	118—125
20.	कौमी एकता के प्रथम सूत्रधार : कबीर डॉ० रवि कुमार	126—130
21.	INDIA'S FOREIGN TRADE DURING PRE-REFORM PERIOD ARVIND KUMAR	131—141
22.	समकालीन हिन्दी कविता और स्त्री जीवन चन्द्र भूषण रजक	142—147

23.	लोकसाहित्य की अवधारणा एवं महत्व डॉ० रेखा कुमारी	148—150
24.	Understanding Health and Healthcare in Tribal Areas Dr. Pallavi Agrawal	151—157
25.	Schooling of Child with Special Need Parent Involvement and Participation Prof D. R. Sahu, Dr. Mudra Sharma	158—165
26.	कुछ आर्थिक विचार के पहलू : छंद के रूप में डॉ० अशोक कुमार साव	166—169
27.	प्रकृति के कवि गोपाल सिंह नेपाली डॉ० गुरु चरण सिंह	170—176
28.	ज्यॉ-फ्रेंकोज ल्योटार्ड: उत्तरआधुनिकता: महान वृत्त की मृत्यु डा० सतीश चन्द्र तिवारी	177—179
29.	हिन्दी में स्त्री-लेखन : दशा और दिशा डॉ० नृपेन्द्र नारायण सिंह	180—184
30.	भारत में पुनर्जागरण और ज्योतिबा फुले अवधेश कुमार	185—189
31.	Trends of Principal Exports:- During Pre Reform Periods Dr. Arvind Kumar	190—194
32.	डॉ० विवेकी राय के उपन्यासों में ग्राम्य-जीवन अविनाश कुमार पाण्डेय	195—197
33.	“उत्तरा” महिला पत्रिका उत्तराखण्ड की महिलाओं की सच्ची सहेली श्रीमती जशोदा बिष्ट	198—205

34.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति डॉ० टी० श्रीदेवी	206—208
35.	छत्तीसगढ़ी साहित्य में अनुवाद की भूमिका श्रीमती अलका यादव	209—212
36.	बाल श्रम (एक समाजकास्त्रीय अध्ययन) सुमित कुमार सिंह	213—216
37.	काशीनाथ सिंह के उपन्यासों की भाषा शैली विनोद कुमार यादव	217—222
38.	समकालीन हिन्दी कहानियों में वृद्ध विमर्श बैद्यनाथी राम	223—226
39.	आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों में सांस्कृतिक मूल्य डॉ० विकास कुमार	227—232
40.	आठवें दशक का राजनैतिक स्थिति एवं प्रमुख उपन्यास डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय	233—236
41.	स्त्री-अस्मिता के विविध दृष्टिकोण डॉ० हिमानी भाटिया	237—241
42.	गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में राष्ट्रवाद एवं मानवतावाद का समाज पर प्रभाव ज्योत्स्ना राय	242—244
43.	Importance of Microfinance in India Dr. Suresh Kumar	245—252
44.	भारतीय पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास सिम्मी रानी	253—258
45.	Of Woman Born: Feminist Deconstruction and Reconstruction of the Creation myth in Doris Lessing's <i>The Cleft</i> Lata Dubey	259—264
46.	पीढ़ीगत समाज का पारिवारिक स्वरूप डॉ० रामाकान्त प्रसाद	265—269
47.	मुगल साम्राज्य की स्थापना : एक ऐतिहासिक विवरण डॉ० आदित्य कुमार सिंह	270—274
48.	दलित इतिहास का संवैधानिक परिदृश्य : संक्षिप्त अवलोकन डॉ० राजकिशोर राम	275—282

49.	समाजवाद सत्येन्द्र कुमार सिंह	283—285
50.	हिन्दी कविता की परंपरा में आधुनिकता का प्रवेश बिपिन कुमार सिंह	286—290
51.	स्वामी विवेकानंद और शिक्षा का अर्थ राकेश कुमार रंजन	291—294
52.	मार्क्सवाद सत्येन्द्र कुमार सिंह	295—297
53.	Spatial Territorial System Diffusion of Marwarh and Ujjainian Rajput clan Settlements in Bhojpur Plan Dr. Birendra Kumar	298—301
54.	Spatial Territorial System Diffusion of Sakarwar (Raj Kumari) Rajput Clan settlements in Bhojpur Plan Dr. Archana Singh	302—304
55.	ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय पंचायती राज व्यवस्था का संक्षिप्त अवलोकन डॉ० मधुकर आनन्द	305—309
56.	प्रयाग कुम्भ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसका शैक्षिक महत्त्व पन्धारी लाल	310—315
57.	केदारनाथ सिंह की काव्य यात्रा : एक अवलोकन अपराजिता मिश्रा	316—322
58.	सामाजिक पुनर्निर्माण में बुनियादी शिक्षा का महत्त्व डॉ० धर्मेन्द्र कुमार	323—327
59.	बिहार में बाढ़ की समस्या और समाधान प्रकाश कुमार पासवान	328—331
60.	वेदों में हरिश्चन्द्र डॉ० सुधा कुमारी	332—336

बच्चों का बौद्धिक विकास एवं मानसिक माप

डॉ आमोद कुमार सिंह

सहायक प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, बी. पी. एस. कॉलेज देसरी (वैशाली)

सारांश

जो तथ्य बच्चों के शारीरिक विकास के साथ है, वही मानसिक विकास के साथ भी सत्य है। आपने व्यक्तियों को दूसरों के प्रति यह कहते सुना होगा कि अमुक व्यक्ति अत्यन्त प्राभावशाली और मेधावी है, अमुक अत्यन्त योग्य और अमुक अत्यन्त मन्द बुद्धि तथा मूर्ख है। एक बालक 3 वर्ष की अवस्था में ही कविता-पाठ करने लगता है तो माँ अत्यन्त गौरव का अनुभव करती है और दूसरे लोग यह कहने में नहीं हिचकते हैं कि बालक प्रतिभाशाली है। इसी प्रकार जब तक एक 3 वर्षीय बालक शब्दों का साफ-साफ उच्चारण भी नहीं कर सकता तो माँ उसके बारे में चिन्तित हो उठती है और दूसरे लोग उसे मन्द-बुद्धि कहकर पुकारते हैं। वस्तुतः तथ्य यह है कि बालकों की मानसिक योग्यता में भेद होता है और इसी कारण एक सामान्य व्यक्ति द्वारा प्रतिभा वान और मन्द-बुद्धि का किया गया वर्गीकरण बालक की एक या दो क्रियाओं के ऊपर ही आधारित हो सकता है, अतः वह उसके व्यक्तित्व का सही आकलन नहीं होगा।

मनोविज्ञान ने बुद्धि मापने की सही प्रविधियों और उनकी सम्यक् व्याख्या के द्वारा व्यक्तियों के मानसिक विकास के आधार पर उनका वर्गीकरण कर मानव जाति को बहुत लाभ पहुंचाया है। मनोविज्ञान के द्वारा ही हम इस तथ्य का कारण जान सके कि 'जॉन स्टुअर्ट मिल' सामान्य उम्र से बहुत पहले ही क्यों ग्रीक पढ़ना सीख सके। एक बालक उम्र के पहले पढ़ना सीख लेता है, और दूसरा लगातार स्कूल जाने पर भी 23 वर्ष की उम्र में गणित के सरलतम प्रश्नों को भी हल नहीं कर पाता ? मनोविज्ञान ने ऐसी मानसिक परीक्षाओं को जन्म दिया जो व्यक्तियों का वर्गीकरण उनकी सहज-प्रज्ञा के आधार पर करती है। इसी ने बुद्धि और उसके मापने की अवधारणा को जन्म दिया तथा बुद्धि को मापने वाली ये विधियाँ बुद्धि-परीक्षाएँ कहलाई। जिसे मानसिक माप कहते हैं।

परिचय

मानसिक माप का अर्थ और परिभाषा

मापन एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार की परिणाम और मात्रा का संकलन का संकलन किया जाता है। आज आपको हिन्दीवाणी मापन से संबंधित सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराएगा। जिसके अंतर्गत मापन का अर्थ और परिभाषा मापन के प्रकार, मापन की

विशेषताये, मापने के अंग, मापन के तत्व, मापन के स्तर, शैक्षिक मापन की अवधारणा, शैक्षिक मापन का अर्थ आदि की जानकारी दी जाएगी।

मानसिक मापन किसे कहते हैं? मानसिक मापन के आधार पर विभिन्न प्रकार के मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। जैसे— रुचि, योग्यता, क्षमता व्यक्ति परीक्षण।

मापनी की परिभाषा, शैक्षिक मापन, भौतिक मापन की विधियाँ, मापन के स्तर हैं। मापन अर्थ और परिभाषा, नाप और माप का अर्थ मापन की आवश्यकता क्यों होती है।

शैक्षिक मापन की अवधारणा— मनोविज्ञान में देखा जाए तो मापन का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम वुंट के द्वारा 1879 में जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय के प्रयोगशाला में स्थापना के परिणाम स्वरूप हुआ था। शैक्षिक मापन का विकसित काल 1900 से 1960 तक माना जाता है। 1960 के आस पास बहुत सारे परीक्षण हुए। जिसके लिए मापन की आवश्यकता पड़ती थी।

आजकल हम देखते हैं कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानव के व्यवहार में परिवर्तन लाना है। और वह परिवर्तन किस रूप में हुआ है। इसकी जानाकारी के लिए मापन आवश्यक है।

बुद्धि—मापन का इतिहास

बुद्धि मापने का सर्वाधिक उपयुक्त प्रविधि, जो आज अपनायी जाती है, का यह स्वरूप बहुत—से परीक्षणों के उपरान्त विकसित होकर इस अवस्था को प्राप्त हुआ। बुद्धि—मापन के विकास के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण है, यहाँ हम स्थानाभाव के कारण इसकी रूपरेखा पर ही विचार—विमर्श करेंगे। जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए पुस्तक के अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची दी हुई है। वे उससे लाभ उठाकर अपनी मानसिक दृष्टि कर सकेंगे और बुद्धि—परीक्षण— उसके जन्म, विकास एवं प्रविधियों के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करेंगे।

अभी बहुत समय नहीं हुआ जबकि वह व्यक्ति जो सामान्य बौद्धिक स्तर से बहुत नीचे होता था, मूर्ख समझा जाता था और उसके अन्दर किसी दुरात्मा का वास माना जाता था। दुरात्मा को दूर करने के लिए उसके साथ लोगों का व्यवहार अत्यन्त क्रूर, अमानवीय और कीड़े लगाने तक का होता था। भारत में जादू—टोने वाले ऐन्द्रिजालिक भूत उतारने वाले ओझा और इसी प्रकार के अन्य तान्त्रिक जब भी बुद्धिहीन और मूर्ख लोगों के ऊपर से प्रेतात्मा आदि का प्रभाव हटाने के बहाने उन्हें बड़े शारीरिक कष्ट देते, जूतो, बेंतो से मारने और घोर पाशविक व्यवहार करते हैं, सुदूर ग्रामों में बसने वाली पिछड़ी जातियों में यदि तरुणियाँ, 'हिस्टीरिया' के रोग से उन्मादग्रस्त हो जाती हैं, उन्हें बेहोशी आ जाती है। तो प्रेत उतारने वाले ओझा आते हैं और बुरी तरह मार लगाते हैं। साँप काट लेता है तो भगतई होती है, सर्प देवता मनाए जाते हैं, किन्तु डाक्टर तक ले जाने का प्रयास नहीं किया जाता। इन सब का कारण लोगों की निरक्षरता, अज्ञानता एवं उचित शिक्षा का अभाव तथा शताब्दियों से चले आ रहे परम्परागत अन्धविश्वास है।

यूरोप मे भी इसी प्रकार की दशा 18वीं शती मे सामाजिक न्याय की भावना का उदय हुआ जिसने उन क्रूरताओं को समाप्त कर दिया।

मानसिक आयु और बुद्धि-लब्धि

मानसिक आयु — हमने अभी देखा कि बिने महोदय ने बुद्धि-परीक्षा के सम्बन्ध में मानसिक आयु की भी चर्चा की है। मानसिक आयु सम्बन्धी धारणा के विकास ने बुद्धि परीक्षा के वास्तविक महत्व को बढ़ाया और उसकी प्रयोजनता के अधिक अर्थपूर्ण बना दिया।

“मानसिक आयु किसी व्यक्ति, के द्वारा प्राप्त विकास की सीमा की अभि-व्यक्ति है जो उसके उन कार्यों द्वारा वर्णित की जाती है जिनकी एक आयु-विशेष पर अपेक्षा होती है।”

इससे तात्पर्य यह है कि जिस बालक की मानसिक आयु 8 वर्ष बताई जाती है, वह परीक्षा के अनुसार अपनी 8 वर्ष की उम्र के ही सामान्य बालकों के समान कार्य करने में सफल होता है।

बुद्धि-परीक्षा के लिए परीक्षक बहुत-सी उन वस्तुओं का संकलन करेगा, जिन्हे वह अपनी परीक्षा में सम्मिलित करना चाहता है तथा उनको एक विशिष्ट क्रम से लगायेगा। फिर विभिन्न उम्र के प्रतिनिधि बालकों को समस्याएँ हल करने के लिए देगा। यह सब इस प्रकार से आयेजित किया जायेगा कि बालकों की विभिन्न उम्र की सामान्य उपलब्धियों का ठीक-ठीक पता लग जाय। परीक्षा में विभिन्न उम्र के प्रतिनिधि बालकों द्वारा कार्यों में जिस सिमा तक सफलता पाई तथा एक ही उम्र के अधिक बालको ने जिस कार्य को सफलतापूर्वक किया, वही उस विशिष्ट उम्र की मानसिक आयु निश्चित कर ली गई। जैसे, 5 वर्ष की उम्र के सामान्य बालकों की औसत उपलब्धि ही उनकी 5 वर्ष की मानसिक आयु का प्रतीक होगी। यदि कोई 5 वर्ष का बालक ऐसे कार्यों को कर लेता है, जो 6 वर्ष का सामान्य बालक कर सकेगा तो उसकी मानसिक आयु 6 वर्ष ही कहलायेगी। किन्तु यदि 5 वर्ष का बालक ऐसे कार्यों को कर सकता है जो उससे छोटी उम्र का 4 वर्ष का सामान्य बालक कर लेता है तो उस बालक की मानसिक आयु 4 वर्ष ही मानी जायेगी, जबकि उसकी वास्तविक आयु 5 वर्ष की मानी जायेगी। इस प्रकार प्रथम बालक अपनी उम्र के सामान्य बालकों से अधिक श्रेष्ठ होगा, और दूसरा बालक अपनी उम्र के सामान्य बालकों की अपेक्षा हीन होगा।

वास्तव में मानसिक आयु किसी विशिष्ट उम्र में उसकी मानसिक परिपक्वता को बताती है कि बालक उस वास्तविक आयु पर मानसिक दृष्टि से कितना प्रौढ़ हुआ है। यही प्रौढ़ता व परिपक्वता की मात्रा मानसिक आयु है। बालक की आयु-बुद्धि के साथ-साथ उसकी मानसिक परिपक्वता भी बढ़ती जाती है। बिने-परीक्षा व्यक्ति को “सामान्य मानसिक योग्यता” को ही मापती है जिसका विकास थोड़े-बहुत अन्तर से प्रौढ़ता तो एक रूपेण होता है। व्यक्ति का

मानसिक विकास जिस उक्त से पूर्ण प्रौढता को प्राप्त होता है की प्राप्त होता है वहा सभी के द्वारा 14 से 22 वर्ष माना जाता है। वह विविध परीक्षाओं में विभिन्न हो सकता है।

बुद्धि-लब्धि – किसी भी व्यक्ति को जो प्रतिभा प्राप्त होती है, उसकी मात्रा को बताने वाली बुद्धि-लब्धि कहलाती है, अथवा व्यक्ति के पास बुद्धि की कितनी मात्रा है, उसकी माप अथवा उसके द्वारा उपलब्ध बुद्धि ही बुद्धि-लब्धि है। बुद्धि-लब्धि निकालने के लिए मानसिक आयु की वास्तविक आयु से भाग दिया जाता है : जैसे—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \quad (\text{I.Q.} = \frac{\text{M.A.}}{\text{CA}})$$

उदाहरण के लिए यदि बालक की वास्तविक आयु 10 वर्ष है, और बिने-परीक्षा के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि यह 12 वर्ष के सामान्य बालकों के समान कार्य कर लेता है तो उसकी मानसिक आयु 12 वर्ष मानी जायगी तथा उसकी बुद्धि-लब्धि इस प्रकार होगी :-

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \quad (\frac{12}{10} = 1.2) \quad \text{CA}$$

प्रायः दशमलव के भागों को पूर्णांक बनाने के लिए और इससे आने वाली असुविधा को दूर करने के लिए 100 से गुणा कर दिया जाता है और संख्या को पुर्णांक बना दिया जाता है। यह केवल सुविधा की दृष्टि से ही किया जाता है।

इसी उदाहरण में—

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = 1.2 \times 100 = 120$$

बुद्धि-लब्धि किसी भी बालक की मानसिक अभिवृद्धि की मात्रा को प्रकट करती हैं। उपर्युक्त उदाहरण में बालक के मानसिक विकास की गति सामान्य बालक से अधिक है। यदि किसी बालक की बुद्धि-लब्धि 90 रही होती तो उसको मानसिक विकास सामान्य माना जाता यदि यह 75 रही होती तो उसकी अभिवृद्धि सामान्य से कम हुई होती। चूँकि बुद्धि-लब्धि मानसिक विकास की मात्रा को बताती है, इसीलिए इसे हम प्रतिभा का सूचीपत्र भी कह सकते हैं।

आगे एक सूची दी हुई है जिसमें 'बुद्धि-लब्धि' और 'प्रतिभा' की मात्रा का संबंध दिखाया गया है। इस सूची का निर्माण टरमैन, रॉबिन्सन के अध्ययन के आधार पर किया गया है तथा डा0 मैरिल द्वारा यह स्वीकृत और मान्य है:

(बुद्धि-लब्धि)	(प्रतिभा)
140-169	अत्युत्कृष्ट
120-739	उत्कृष्ट
110- 119	सामान्य से ऊपर
90-109	सामान्य
80-89	सामान्य से नीचे
70-79	हीन बुद्धि की सीमा-रेखा

60-69	मुखं
50-59	मूर्खं
25-49	मूढ
0-24	जड

आकड़ा संग्रहण

बुद्धि की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दी है। उनमें आपस में कोई समानरूपता नहीं है। वस्तुतः बुद्धि की परिभाषाएँ उतनी हैं जितने इस विषय के लेखक। किन्तु उन परिभाषाओं में अन्तर प्रतीत होता है। यह सम्भव है कि परिभाषा का दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उनकी आत्मा तो एक ही है।

अनुसंधान

बुद्धि-परीक्षा के लिए दो अवधारणएँ बहुत ही महत्वपूर्ण मानी गईं। उनमें से एक मानसिक आयु' और दूसरी 'बुद्धि-लब्धि' है। मानसिक आयु एक व्यक्ति द्वारा प्राप्त विकास के विस्तार की वह अभिव्यक्ति है जो उसके कार्यों द्वारा व्यक्त होती है तथा सामान्यतः उन कार्यों को करने की क्षमता उस व्यक्ति में उस विशिष्ट उम्र में ही होनी चाहिए।" बुद्धि-लब्धि को प्राप्त करने के लिए मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग दिया जाता है तथा परिणाम को 100 से गुणा कर देते हैं। जो मान आता है, वही 'बुद्धि-लब्धि' कहलाती है।

निष्कर्ष

बुद्धि-परीक्षा के महत्वपूर्ण उपयोगों का ऊपर वर्णन किया गया है। वस्तुतः आज के युग के लिए, विशेष रूप में शिक्षा के क्षेत्र में तो यह वरदान सदृश सिद्ध-हुई है। किन्तु इन बुद्धि-परीक्षाओं का, जो बहुत प्रकार की होती हैं, बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए तथा उनमें बहुत ही सतर्कता बरतनी चाहिए। परीक्षण किन्हीं अनुभवी और सुप्रशिक्षित एवं दक्ष व्यक्तियों द्वारा आयोजित किये जाने चाहिए। परीक्षा-अंक को पूर्ण रूप से सही नहीं मानना चाहिए, क्योंकि बुद्धि-परीक्षा किसी भी प्रकार से पूर्ण नहीं हो सकती। उसका विषय भौतिक जड़-वस्तु न होकर चेतन और अस्थिर मन वाला बालक होता है: उसमें कुछ त्रुटि आ जाना स्वाभाविक है। अतः हमें उनकी उपयोगिताओं की सीमा जान लेनी चाहिए। हमें व्यक्ति की बुद्धि-परीक्षा के द्वारा प्राप्त जानकारी के अलावा उसके बारे में और बहुत अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, और तब उसी के अनुसार उसे व्यावसायिक अथवा शैक्षिक मार्गप्रदर्शन करने का निर्माण करना चाहिए।

संदर्भ:

कुछ महान विद्वानों की परिभाषाओं को उद्धृत है जो इस विषय के पारंगत माने जाते हैं, यथा-

1. बिने और साइमन की परिभाषा- "निर्णय, सदभावना, उपकरण, समझने की योग्यता, व्यक्तियुक्त तर्क और वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने की शक्ति ही 'बुद्धि' है।"
2. बर्ट की परिभाषा- "नवीन मनोशरीरिक संयोगों के आयोजन द्वारा अपेक्षाकृत नवीन परिस्थितियों में पुनर्व्यवस्थापन की शक्ति ही बुद्धि है।"
3. स्टर्न की परिभाषा "नयी परिस्थितियों में अपनी विचारधारा को सुव्यव-स्थित कर लेने की एक सामान्य शक्ति "बुद्धि" है।
4. टरमैन की परिभाषा- "अमूर्त वस्तुओं के विषय में सोचने की योग्यता ही 'बुद्धि' है।"
5. पिण्टनर की परिभाषा - "जीवन में आगत नूतन परिस्थितियों में अपने को सुव्यवस्थित करने की व्यक्ति की क्षमता की 'बुद्धि' है।

बिहार में सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन (1990–2015) : एक अध्ययन

डॉ० रूपक कुमार

एम.ए., पीएच.डी. (राजनीति विज्ञान), बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार में पिछले पच्चीस साल (1990–2015) के दौरान सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन का दौर रहा। प्रायः हर सामाजिक परिवर्तन अपनी शैशवावस्था में समाज में उपलब्ध मिथकों और नैतिक मापदण्डों से ही अपनी पहचान गढ़ता है। फिर एक पृथक विचारधारा और राजनीतिक सिद्धांत रचा जाता है और अंततः सत्ताधिकार का प्रश्न सर्वप्रमुख प्रश्न बन जाता है। सामाजिक परिवर्तन में आंदोलन का फल यह निकला कि बिहार में सत्ता पर कब्जा बनाए रखने वाली सामाजिक शक्तियों में बदलाव हुआ और लालू प्रसाद 1990 में सत्ता में आये। लालू प्रसाद के जाने के बाद नीतीश कुमार बिहार की गद्दी पर काबिज हुए। सामाजिक बदलाव की यह प्रक्रिया चलती रहती है क्योंकि सामाजिक शक्ति हमेशा शिखर पर बैठी नहीं रह सकती है। उसमें बदलाव होता रहता है।

दरअसल, बिहार की राजनीति में लालू प्रसाद का अवतार अचानक नहीं हुआ। इसकी भूमिका तो त्रिवेणी संघ, जनेऊ और समाजवादी आंदोलन के दौरान ही बन गई थी। पिछली शताब्दी के पचास के दशक से नब्बे के दशक में कांग्रेस के निष्कंटक राज में इनके लिए वैसा स्पेस नहीं था। इन दशकों में कांग्रेस का आधार खिसकता चला गया और लालू प्रसाद सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन की पहचान को लेकर सत्तासीन हो गये और पंद्रह वर्षों तक सत्ता में रहे।

यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि बिहार में 1990 से 2005 के काल को सामाजिक सशक्तीकरण के काल के रूप में जाना जाता है। इसके पहले का काल आर्थिक व सामाजिक रूप से समृद्ध समुदायों के काल के रूप में चिन्हित किया जाता है। लालू प्रसाद के शासन काल ने निश्चय ही पिछड़ों, दलितों एवं शोषितों को जुबान दी। उनके अंदर सशक्तीकरण का भाव जागा। लेकिन सिर्फ सामाजिक परिवर्तन और पहचान से पेट नहीं भरता। सामाजिक न्याय के साथ काम और विकास भी चाहिए। अर्थात् सामाजिक न्याय एवं परिवर्तन के साथ आर्थिक न्याय एवं परिवर्तन होना भी आवश्यक होता है। लेकिन '90 दशक के पहले भी बिहार बदहाल रहा और नब्बे के दशक के बाद भी। अस्पताल, स्कूल, सड़क, बिजली, पानी, रोजगार के साथ अन्य

सुविधाओं की हालत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन सबसे जुड़ा था असली सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक सशक्तीकरण। ऐसा नहीं हुआ।¹

यहां इस बात को भी रेखांकित करने की आवश्यकता है कि बिहार में सन् 1990 से 2005 तक शासक वर्ग जो स्थायित्व प्राप्त था, इसके पीछे *सामाजिक अभियंत्रण* (सोशल इंजीनियरिंग) की भी महती भूमिका थी। इसमें दलित नेतृत्व अलग से खड़ा हो सके, इसका न अवसर मिला, न ही नौबत आयी। इस प्रकार लालू—राबड़ी शासन के दौरान बिहार की सामाजिक—राजनीतिक सत्ता—संरचना में जो बदलाव आया, वह सम्पूर्ण क्रांति के मूल्यों को सामने रखकर किसी क्रांतिकारी प्रक्रिया के तहत नहीं, बल्कि संसदीय लोकतंत्र की दलगत सीमाओं के अन्तर्गत वोट की राजनीति के दबावों के तहत आया। इसलिए इसके फलितार्थ के रूप में *सामाजिक न्याय* जैसे उदात्त लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति समर्पित जमातों की जगह सत्तापेक्षी जातीय समूहों की उपस्थिति बनी और एक नयी किस्म की जड़ता का शिकार हो गया बिहारी समाज। इसने किसी भी प्रगतिशील आन्दोलन की संभावना को निरुद्ध किया और जाति को एकमात्र सत्य के रूप में प्रतिस्थापित करने की कोशिश की। इस प्रकार सत्ता—संरचना में भारी उलट—पुलट के बावजूद बिहार में राजनीति की दिशा संकुचन का शिकार हो अन्तर्मुखी हो गयी।

हालांकि बिहार में लालू प्रसाद जब सत्ता में आये तो वे समाजवादियों की रेडिकल धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। लेकिन आगे चलकर लालू प्रसाद ने अपने को *माय* के आधार पर सुदृढ़ करना शुरू किया, तो उनके विरोध में 1994 में कुर्मी चेतना महारैली हुई और फिर नीतीश कुमार के नेतृत्व में समता पार्टी बनी और जनता दल टूटा। *लव—कुश* की पार्टी बन गयी समता पार्टी और मुख्यतः यादवों की पार्टी बनकर रह गया जनता दल। आगे चलकर अध्यक्ष के चुनाव के प्रश्न पर जनता दल फिर टूटा तो लालू प्रसाद बिहार में राजद बनाकर सिमटे, लेकिन बिहार में प्रभाव उनका रहा। भाजपा का भय उनका बल बना, हालांकि उनका प्रभाव लगातार घटता भी गया। उनके प्रभाव की क्षतिपूर्ति कभी भाजपा की टूट से, तो कभी कांग्रेस की कमजोरी से हुई जैसे सन् 2000 में।²

लालू प्रसाद के राजनीतिक स्वार्थ से पिछड़ों की एकता टूटी और टूट से बनी समता पार्टी, भाजपा के साथ चली गयी, जिससे बिहार में भाजपा की ताकत अचानक बढ़ गयी। ध्यान से देखें तो राजनीतिक जातिवाद का एक हिस्सा भाजपा के साथ गया, तो यह सम्प्रदायवाद और जातिवाद के मोर्चे का एक रूप बन गया। और इधर राजनीतिक जातिवाद का दूसरा हिस्सा राजद अल्पसंख्यकों के साथ रहा, तो यह जातिवाद और संप्रदायवाद के गठजोड़ का दूसरा रूप हो गया। उनके नव—कुलक नेतृत्व में सामाजिक न्याय के नारे की संभावना कुंठित हो गयी। नीतीश कुमार ने उनसे अलग होकर समाजवादियों की मॉडरेट धारा का प्रतिनिधित्व करना शुरू किया। सामाजिक धाराओं की इस लड़ाई में नीतीश कुमार को अक्टूबर—नवम्बर 2005 के विधान

सभा चुनावों में भारी समर्थन मिला। इस चुनाव में नीतीश कुमार की सफलता ने मंडलवादी राजनीति में एक नए दौर का सूत्रपात किया।³

बहरहाल इस पूरी मंडलवादी राजनीति में सामाजिक न्याय का नारा प्रेरणा स्रोत रहा। मोटे तौर पर सामाजिक न्याय का मतलब है, समाज में सबको गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार। इसमें सबके लिए जीवन में हर क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए मौका देने की बात शामिल है। लेकिन विडम्बना तो यह है कि जातीय आधार पर सामाजिक न्याय के नारे के बूते खड़ी सत्ता किसी जाति विशेष में एक वर्ग की संरचना तो करती ही है। यह विवाद का विषय नहीं हो सकता। दरअसल जाति आधारित सामाजिक न्याय की सत्ता के दो पहलू होते हैं। एक तो यह कि जाति के बीच का सत्ताधारी समूह अपनी आर्थिक संपन्नता पर जोर देता है। वह सवर्णों की तरह हर स्तर पर, चाहे वह आर्थिक हो या सांस्कृतिक, समानता भर चाहता है। दूसरा पहलू यह होता है कि उस सत्ता से सामाजिक न्याय से वंचित आबादी सामाजिक स्तर पर संतुष्टि भर महसूस करती है।

दरअसल, जब सामाजिक न्याय की सत्ता के नेतृत्व का उद्देश्य सवर्ण समानता हो जाता है तो वह दो काम एक साथ करता है। संसदीय व्यवस्था में वह अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए सामाजिक न्याय से वंचित जातियों की एका पर जोर देने के बजाय मात्र उन जातियों के बीच में गठजोड़ बनाने की कोशिश करता है जो कि सत्ता को ज्यादा-से-ज्यादा सुरक्षित रख सके और कोई ऐसा गठजोड़ नहीं चाहता जो नेतृत्वकारी जाति के लिए चुनौती बन सके। दूसरा, वैसी सत्ता सामाजिक न्याय की शेष जातियों को गोलबंद होने की स्थितियों और उन्हें सत्ता से दूर रखने की पुरजोर कोशिश करती दिखाई देती है। एक समय के बाद तो वह जाति आधारित सामाजिक न्याय की विरोधी भी हो जाती है।⁴

इसमें कोई दो राय नहीं कि बिहार में अति पिछड़ी जातियां, आर्थिक और सामाजिक दोनों ही आधार पर पीड़ित रही हैं। इनकी तादाद पिछड़ों की कुल आबादी में बहुमत से ज्यादा है। लेकिन 1990 के दशक के दौरान इन जातियों को नये-नये संगठनों के तहत संगठित होकर सामाजिक न्याय की मांग करनी पड़ रही थी। आखिर यह किस बात का द्योतक है कि सामाजिक न्याय की सत्ता के कार्यकाल में अति पिछड़े वर्ग को अलग से संगठित होने की जरूरत पड़ रही थी। इस पहलू को समझना जरूरी है।

बिहार में सामाजिक न्याय की सत्ता के बाद रैलियों, प्रदर्शनों में बसों, ट्रकों और खाने-पीने के पैकटों का चलन जोर से बढ़ा। सामाजिक न्याय से वंचित जातियां इससे पहले सत्तू, रोटी, अचार बांधकर और कांख में मोटरी दबाकर रैलियों और प्रदर्शनों में पहुंच जाया करती थीं। लेकिन लालू-राबड़ी शासन काल के दौरान आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग ने इस पूरी प्रक्रिया को ही महंगा बना दिया। दरवाजे पर बस, ट्रक लगाकर और रास्ते में खाने-पीने का इंतजाम कर संघर्ष की ऊर्जा और ऊष्मा को ठंडा कर दिया।⁵

बिहार में सामाजिक न्याय की राजनीति के संकट का एक अन्य कारण हमारा नागरिक समाज है, जो सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार के प्रति निरपेक्ष या उदासीन रहा। राज्य ने तो कोई विजन नहीं ही दिया, नागरिक समाज ने भी विकास की दिशा में कोई सार्थक प्रयास नहीं किया, जिससे विकास की गाड़ी आगे बढ़ सके। सिविल सोसायटी में भी सबसे ज्यादा जिम्मेदारी इलीट वर्ग की बनती है। लेकिन बिहार के जो इलीट वर्ग हैं, वे इस निरपेक्षता या उदासीनता का प्रतीक बन गये हैं। उनका यही सोच रहा है कि राज्य को *मैनिपुलेट* कर अपना हित साधा जाए। लेकिन राज्य के विकास में जो सांस्कृतिक, सामाजिक संबंध होते हैं, उसे बनाये रखने में इन लोगों (इलीट वर्ग) की भूमिका क्षीण रही है। इलीट वर्ग कभी स्वयं को कॉमन मास के साथ आइडेंटिफाई नहीं करता। उनकी समस्या के साथ, उनके संबंधों के साथ वह स्वयं को जोड़ने में असफल रहा।

बिहार में सामाजिक न्याय की त्रासदी का ऐतिहासिक पहलू भी है। इसकी जो नींव है, वह स्वतंत्रता पूर्व की है, जिसकी वजह से राज्य का पिछड़ावन दूर नहीं हो पा रहा है। सबसे बड़ी बात, पिछड़ेपन का जो सामाजिक ढांचा है, वह असामाजिक है, जिसके कारण अत्यधिक शोषण, बराबरी का अभाव, थोड़े से लोगों का अधिकांश लोगों पर वर्चस्व आदि है। इतना ही नहीं यदि इस व्यवस्था को बदलने का प्रयास किया जाता है, तो उतनी ही शक्ति से उसे रोकने का प्रयास भी कुछ लोगों द्वारा किया जाता है। यदि इसे गहराई से देखें तो बिहार सामाजिक न्याय की त्रासदी के लिए राजनीतिक कारणों से कहीं अधिक यहां का सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचा जिम्मेदार है।⁶

एक बात और मैं जानना चाह रहा हूँ कि बिहार के अंदर कोई बिहारव्यापी सांस्कृतिक और सामाजिक सुधार आंदोलन क्यों नहीं हुआ, जबकि अन्य प्रदेशों महाराष्ट्र, पंजाब, दक्षिण के राज्यों में राज्यव्यापी सांस्कृतिक, सामाजिक सुधार आंदोलन चला, जिसका उद्देश्य समाज के भीतर की कुरीतियों को दूर करना था और उन आंदोलनों ने किया भी। ये आंदोलन वैसे समय में चल रहे थे, जब विकास की बात नहीं थी। लेकिन इन राज्यों ने यह महसूस किया कि राज्य को आगे बढ़ने के लिए व्यापक सुधार होना चाहिए और इन राज्यों ने इस तरह की नींव रखी भी, जिसके कारण स्वतंत्रता बाद इन राज्यों को विकासोन्मुख नींव मिली। लेकिन बिहार में ऐसा नहीं हुआ।

आजादी के पूर्व हम जाएं, तो देखेंगे कि अंग्रेजों ने जो जमींदारी प्रथा कायम की, वह बिहार के पिछड़ेपन के लिए व्यापक रूप से जिम्मेदार है। इस परंपरा को अंग्रेजों ने एक संस्थागत रूप दिया और इसे आर्थिक विकास और राजनीतिक शक्ति के संग जोड़ दिया। उसका नतीजा यह हुआ कि हमारी जमींदारी की जो व्यवस्था थी, उसने शोषण को बढ़ावा दिया तथा बराबरी को घटा दिया। इतना ही नहीं, जमींदारों ने अपने साधनों का प्रयोग भी विकास के लिए नहीं किया। कुछ राज्यों में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा गरीबों के हितों का काम भी किया गया, लेकिन

इस सब के मूल में किसी न किसी तरह से गरीबों का शोषण करना ही रहा। जमींदारों के पास जो साधन थे, जो पूंजी थी, उसे आम आदमी के विकास पर खर्च नहीं किया गया। तत्कालीन जमींदारी व्यवस्था का मूल उद्देश्य बिन काम किये हुए उपज का अधिक से अधिक हिस्सा हड़प लेना था। उसका नतीजा यह हुआ कि न तो वे जनता के लिए कुछ कर सके और न ही कोई अपनी आंतरिक संरचना (पूंजी) ही विकसित कर सके। डुमरांव राज, दरभंगा राज सरीखे कितने राज रहे हैं, जिन्होंने स्वास्थ्य, शिक्षा, गरीबी उन्मूलन पर ध्यान नहीं दिया। दूसरे राज्यों के अंदर विकास हुआ, क्योंकि उन राज्यों में जो उत्पादक वर्ग थे, उन्होंने शोषण तो किया लेकिन उत्पादन कर पूंजी भी बचाई और उस पूंजी का हिस्सा विकास के नाम पर भी लगाया। अर्थात् बिहार में जमींदारों और राजाओं ने राजधर्म का पालन नहीं किया।⁷

बिहार मार्का सत्तावादी सामाजिक न्याय के समक्ष संकट का एक और प्रमुख कारण सामाजिक व्यवस्था में बराबरी की कमी रही है। हालांकि ये कमी शुरू से ही रही है, लेकिन यह विभाजन 1990 के दशक के दौरान बढ़ गया। अगड़ा और पिछड़ा तथा सवर्ण और अवर्ण के बीच ही विभाजन नहीं, बल्कि सवर्णों और अवर्णों की भी उपजातियां हैं। उस उपजाति में भी कई स्तरों पर विभाजन है। इस विभाजन का परिणाम यह हुआ कि कोई शक्ति उभरकर सामने नहीं आयी, जो स्थानीय लोगों को नेतृत्व प्रदान कर आगे बढ़ने की दिशा दे सके। राज्य ने भी व्यवस्था को तोड़ने का कोई सार्थक प्रयास नहीं किया। बल्कि उसे और आगे बढ़ाया। जिस पार्टी की सरकार बनी, उसने सबको प्रतिनिधित्व देने के नाम पर प्रत्येक जाति को अपनी सरकार में शामिल कर जाति की राजनीति को बढ़ाया। ये सब चीजें सामाजिक न्याय की राह में रोड़ा हैं।

किसी भी 'रिजीम' ने सामाजिक मान्यता को नहीं बदला। व्यक्ति बदल गये। पार्टियां बदल गयीं। जाति बदल गयी, परन्तु जो सामंती विचारधारा है, उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं दिया। आम जनता के सामने मौलिक बदलाव की दिशा कभी नहीं आयी। ऐसी स्थिति में कोई बदलाव हो पाता है कि नहीं, यह कहना मुश्किल है। बिहार के संदर्भ में एक और बात है कि यहां के अधिकांश आंदोलन आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों से जुड़े रहे, जिनमें राजनीतिक शक्ति के अंदर अपनी भागीदारी के लिए एवं कुछ सामाजिक सम्मान पाने के लिए मुद्दे उठाए गये। ऐसा कोई भी व्यापक आंदोलन शुरू नहीं हुआ, जो सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार को गति और दिशा दे सके। इसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक-राजनीतिक मुद्दे ज्यादा दिन तक टिक नहीं पाते हैं और मूल ढांचा बराबर वैसा का वैसा ही रहता है। इन आंदोलनों में एक और बात देखी गयी है कि सभी आंदोलनों का नेतृत्व उसी वर्ग के हाथ में रहा या है, जिसका समाज पर आधिपत्य है। परिणाम यह हुआ कि समाज में जो बराबरी का अभाव है, जो जकड़न है, वह टूट नहीं पा रही है।⁸

बहरहाल, 2005 में सत्ता में आते ही नीतीश कुमार ने सबसे पहले अति पिछड़ी जातियों और महिलाओं को पंचायत में आरक्षण दिया। महिलाओं को पंचायतों में 50 प्रतिशत आरक्षण के

साथ ही लड़कियों को साईकिल दिये जाने से गांवों में चिंतन के स्तर पर जबरदस्त बदलाव आया है। नीतीश कुमार ने सत्ता में आने के बाद अनुसूचित जातियों के बीच नया श्रेणीकरण किया और दलित से महादलित की नई *सोशल इंजीनियरिंग* शुरू की। महादलित आयोग का गठन किया। महादलित परिवारों के लिए अलग से योजनाएं बननी शुरू हुईं। यह बिहार की परंपरागत छवि को नये सिरे से रचने और गढ़ने की ताकत रखता है। उन्होंने विकास को मुद्दा बनाया। न्याय के साथ विकास को सबसे ऊपर रखा।⁹

नीतीश ने जाति के एजेंडे को सरका कर विकास के एजेंडे के नीचे जातीय समीकरणों को रखा तथा समरस समाज की स्थापना पर बल दिया। सन् 2010 में चुनाव में नीतीश कुमार के दोबारा सत्ता में वापसी का राज यह था कि लोग बिहार को विकसित होना देखना चाहते थे। लोग चाहते थे कि बिहार तेजी से आगे बढ़े। सन् 2015 के विधान सभा चुनाव में नीतीश कुमार के नेतृत्ववाले *महागठबंधन* की जीत को बिहार में सामाजिक परिवर्तन का नया अध्याय माना जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक न्याय को वास्तविक रूप में निम्न पिछड़ी जातियों, दलितों, महिलाओं और मुस्लिमों तक पहुंचाना नीतीश कुमार के लिए महत्वपूर्ण चुनौती होगी।

संदर्भ सूची

1. रोमा मित्रा, *कास्ट पोलराइजेशन एण्ड पॉलिटिक्स*, सिंडीकेट पब्लिकेशन, पटना, 1994, पृ. 139
2. श्रीकांत, *बिहार में चुनाव : जाति, हिंसा और बूथ लूट*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 48
3. अरुण सिन्हा, *नीतीश कुमार और उभरता बिहार*, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 153
4. उपरोक्त.
5. उपरोक्त.
6. विपन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, *आजादी के बाद का भारत (1947-2000)*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2002, पृ. 382.
7. उपरोक्त.
8. उपरोक्त.
9. संजय कुमार, "न्यू फेज ऑफ बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहार" घनश्याम शाह (सं) *कास्ट एण्ड डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स इन इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, नई दिल्ली, 2002, पृ. 328.

IMPACT OF WORKPLACE ENVIRONMENT ON HEALTH WORKERS

Dr. Urmila Kumari

Asstt. Professor, Deptt. Of Psychology, L.P. Shahi Degree College, (Ganipur), B.R.A
Bihar University Muzaffarpur

ABSTRACT

Employee morale can be impacted in both positive and negative ways by the workplace environment. Workplace environment plays a major role in the performance and productivity of an employee. Most industries have an unsafe workplace environment and are most time unhealthy too. This study is focused on the workplace environment in a health facility and how it affects the health worker. An unsafe health facility environment such as unsuitable furniture, poorly designed workstations, lack of ventilation, excessive noise, inappropriate lighting, poor supervisor support, poor work space, poor communication, poor fire safety measures for emergencies, and lack of personal protective equipment, can adversely affect the productivity of the employee. Health workers in such environment are exposed to occupational diseases such as heat stress, deafness, ergonomic disorders and suffocation. Health worker's productivity and performance can decrease due to poorly planned workplace environment as this adversely affects their morale and may give rise to poor motivation and no job satisfaction as a result, it becomes a challenge for the management to provide a safe work environment for the workers to ensure health, efficiency, productivity and good performance. The relationship between the health worker, work and the workplace environment is very crucial and hence it becomes an integral part of work itself. Management effort in ensuring an active workforce should be focused on employee personal motivation and the infrastructure of the work environment.

Keywords: Workplace; Productivity; Performance; Ergonomic; Workforce

INTRODUCTION

The environment can be termed as a man's closest surrounding which he can manipulate for his survival or existence. If this surrounding is wrongly manipulated, it may lead to unsafe situations rising and making it difficult for man's survival. Hazards as a result of the poorly managed surrounding can

hinder employees productivity rate and lead to a low morale. This makes the workplace environment a very crucial determinant of the employee performance, morale, and productivity. The workplace entails an environment in which the worker performs his work while an effective workplace is an environment where results can be achieved as expected by management. Task performed in the workplace can be directly affected by the physical environment where the task is being performed.

The physical environment as an aspect of the workplace environment has direct impact on the human sense and can slow change interpersonal interactions and thus productivity. This is so because the characteristics of a room or a place of meeting for a group have consequences regarding productivity and satisfaction level. A large number of work environment studies have shown that workers/users are satisfied with reference to specific workspace features. These features preference by users are highly significant to their productivity and workspace satisfaction, they are lighting, ventilation rates, access to natural light and acoustic environment.

Lighting and other factors like ergonomic furniture has also been found to have positive influence on employees health [9-11] and consequently on productivity. Ambient features in office environments, such as lighting, temperature, existence of windows, free air movement etc, suggest that these elements of the physical environment influence employee's attitudes, behaviours, satisfaction, performance and productivity .

TODAY'S WORKPLACE

The physical environment at work plays a vital role in employees' productivity. Management must take an active part in defining the physical environment in which the health workers carry out their daily task to make it conducive. Management style can also influence worker's commitment and this should be monitored, these styles can be altered to suit the workers. This refers to changing aspects like ethics, behavior, commitment, drive, interpersonal relations and professionalism.

Today's management has to change the style of functioning in order to bring about effective changes in these aspects. Management has to spend more time on controlling these factors of the work environment rather than micromanage. This can be achieved by improving on the physical workplace and facilities, delegating responsibilities, increasing accountability, and encouraging team work. This will promote trust and loyalty among the workers and encourages better teamwork among them. Besides, they develop a sense of ownership and

belonging towards the organization. Maximizing health worker's productivity is centered on personal motivation and the infrastructure at the work environment.

Effective workplace communication is a key to cultivation of success and professionalism . A company that communicates throughout the workplace in an effective manner is more likely to avoid problems with completing the daily procedures, and less likely to have a problem with improper occurrence and will generate a stronger morale and a more positive attitude towards work. When employees communicate effectively with each other, productivity will increase because effective communication means less complains and more work getting done .

It removes confusion and frees up wasted time that would have been otherwise spent on explanation or argument . It makes workplace more enjoyable, less anxiety among co-workers which in turn means positive attitude towards work and increased productivity .

Furthermore, another aspect of communication that affects productivity is noise level. Noise has negative influence on communication, frustration levels increase while productivity decreases in relation to persistence and loudness of noise. A reason adduced for this is that spoken communication becomes progressively more difficult as noise levels increase.

The ability of a health worker to effectively work in a crowd of many uncontrolled patients is limited. In a survey in a survey reported that nine out of ten workers believed that a workspace quality affects the attitude of employees and increases their productivity [21]. Chandraseker also confirm that unsafe and unhealthy workplace environment in terms of poor ventilation, inappropriate lighting, excessive noise etc. affect workers' productivity and health [15].

Workplace environment factors

Health worker' performance can be influenced by salary increase and bonuses, but this is short lived and have a limited effect compared to the impact workplace environment has on the performance of the employee. It is the quality of the employee's workplace environment that most impacts on their level of motivation and subsequent performance. How well they engage with the organization, especially with their immediate environment, influences to a great extent their error rate, level of innovation and collaboration with other employees, absenteeism and ultimately, how long they stay in the job.

Many studies have revealed that most employees leave their organization because of the relationship with their immediate supervisor or manager, or

because the physical environment is no longer conducive. The most important workplace factors that can affect health workers' performance include; job aids, goal-setting, supervisor support, workplace incentive, performance feedback, defined processes, and other physical, social and environmental factors.

Job aids: Providing templates, guides, soft training, checklists etc. to the health worker to assist in improving their performance. This is to make their work easier and minimize error rate and improve patients' satisfaction.

Goal-setting: When health workers are being involved in setting meaningful goals and key performance indicators (KPI) for their work. This can be done informally between the health worker and their immediate supervisor or as part of an organization's formal performance management process.

Supervisor support: Immediate supervisors act as advocates for employees, gathering and distributing the resources needed by the employees for them to be able to do a good job and providing positive encouragement for a job well done.

Workplace incentives: The organization determines what motivates its employees and sets up formal and informal structures for rewarding employees behaving in the way required.

Performance feedback: A feedback process where the health worker's performance assessment is fed back to them. This consists of both positive feedback on what the health worker is doing right as well as feedback on what requires improvement.

Defined processes: The organization constrains the variability of how work is actually performed through documenting processes and communicating such expectations to employees.

Physical factors: Physical factors in the workplace such as poor layout or overcrowding can lead to common types of accident such as tripping or striking against objects.

Social factors: Here the relationship between the health worker and the employers and the patient is considered. Poor inter-personal skill and attitude among the colleagues can affect performance.

Environmental factors: Environmental factors such as temperature, lighting and ventilation can have a direct impact on health-for example very high temperatures can lead to heat stress and heat exhaustion. This in-turn affects the performance of the health worker.

RESEARCH METHOD

The study was conducted in Abuja metropolis. Data analyzed was collected through the use of Questionnaires. 40 health workers in Zenith Medical and Kidney Centre were given the questionnaires and there was a 100% return rate.

The survey was conducted using a questionnaire with 3 sections administered to a total of 40 health workers in a private owned secondary health facility in FCT, Abuja. The survey included a 15 questions questionnaire addressing aspects of the work environment, human resources, and infrastructure, asking health workers to state their agreement on a 5-point scale.

WORKPLACE FACTORS ANALYSIS

Work space and facilities required for the job: The physical work space and work facilities in the health center are extremely important in maximizing health worker productivity. **Table 1** shows the response of the workers to questions regarding factors of physical work environment.

S.N	RESPONSES	PERCENTAGE
1	Highly satisfied	3.4
2	Satisfied	74.7
3	Partially satisfied	15.9
4	Dissatisfied	4.1
5	Highly dissatisfied	1.9
	TOTAL	100

Table 1: Satisfaction of health workers towards the work space and facilities provided.

On average, 74.7% of respondents showed satisfaction towards work space and facilities provided. Majority of the health workers are given the required space and facilities to do their job.

Environmental factors: Effects of lighting, ventilation, temperature, and noise level on health workers performance was considered. Most of the workers (65%) agreed that poor workplace environmental factors such as lighting, ventilation, temperature, and noise level in the work area can have negative impact on their performance and productivity (**Table 2**).

S.N	RESPONSES	PERCENTAGE
1	Strongly Agree	7.6
2	Agree	65.5
3	Partially Agree	20.4

4	Disagree	4.1
5	Strongly Disagree	2.4
	Total	100

Table 2: Effects of workplace environmental factors on health workers' productivity.

Relationship with supervisors at the workplace: Health workers supervisors act as advocates for the junior colleagues, gathering and distributing the resources needed in order to do a good job and providing positive encouragement for a job well done. From **Table 3**, it can be inferred that 49.4% respondents maintain a strong relationship with their superior at the workplace. Therefor it can be concluded that there is a strong supervisor support for the health workers.

S.N	RESPONSES	PERCENTAGE
1	Very Strong	12.6
2	Strong	49.4
3	Partially Strong	25.8
4	Not very strong	8
5	Not Strong	4.2
	Total	100

Table 3: Relationship level with supervisors at the workplace.

Quality of work aid and equipment standard: Enhancing performance through provision of work aids such as templates, guides, checklist and soft-trainings were assessed and 51.8% of the respondents agreed that work aids has a positive impact on their performance(**Table 4**).

S.N	RESPONSES	PERCENTAGE
1	Strongly Agree	29.4
2	Agree	51.8
3	Partially Agree	15.2
4	Disagree	2.4
5	Strongly Disagree	1.2
	Total	100

Table 4: Effect of work aids on health workers' performance.

Communication system at the workplace: A formal communication system at the workplace promotes trust and loyalty among the workers and encourages better team work. 56.9% respondents feel that there is a formal communication

system at the workplace and this is vital in maintaining the social life among the health workers, also in ensuring that tasks are properly communicated from one level to another for better performance (**Table 5**).

S.N	RESPONSES	PERCENTAGE
1	Very Good	20.4
2	Good	56.9
3	Fairly Good	10.5
4	Not Good	6.7
5	Bad	5.5
	Total	100

Table 5: Communication system at workplace.

Results and Analysis

Physical environment on health worker performance

Physical environment, which consists of office design, ventilation, lighting and other basic amenities have a great impact on the performance of workers in the health facility. Analysis revealed that a large number of employees (74.7%) felt satisfied about their location and office space where they stay half of the day, and were also satisfied with the other amenities like lightings, toilets, furniture, colour of the office wall and roof structure. 65% of the respondents reported the workplace is gentle and quiet. 64% felt that work place has noise distraction when there is large crowd of patients; also room temperature seem to affect 60% of the respondents and it does not have any effect for very few respondents (30%). With all these results gathered, it can be said that physical environment of the workplace has an impact on health workers productivity.

Conclusion

Health worker's job satisfaction should be the target for health system improvements. Health worker satisfaction is associated with intent to stay, and health worker retention is necessary for the provision of high quality health care. The results from this study have shown the effect of workplace environmental factor on health workers performance and productivity and suggest that efforts should be geared towards improving the physical environment, social environment, and work system associated with the workplace. Effort should focus on providing healthcare workers with the infrastructure and tools they need to do their jobs.

This includes sufficient job aids, supervisor support, proper ventilation, lighting, incentives, recognition and reward system, and general infrastructure. In addition to being necessary for health workers to deliver high quality care, this could foster health worker satisfaction, increasing the benefits of the investment. This is important to consider in the context of the many ongoing experiments with pay for performance, which are unlikely to boost satisfaction if weak infrastructure prevents health workers from successfully fulfilling their tasks.

References :

1. Chapins A (1995) Workplace and the performance of workers. Reston: USA.
2. Mike A (2010) Visual workplace: How you see performance in the planet and in the office. International Journal of Financial Trade 11: 250-260.
3. Shikdar AA (2002) Identification of ergonomic issues that affect workers in oilrigs in desert environment. Inter JOSE 10: 169-177.
4. Becker F (2002) Improving organizational performance by exploiting workplace flexibility. J Faculty Manage 1: 154-162.
5. Becker FO (1981) Workspace creating environments in organization. New York: Praeger.
6. Humphries M (2005) Quantifying occupant comfort: Are combined indices of the indoor environment practicable? Building Research and Information. 33: 317-325.
7. Karasek R, Theorell T (1990) Health work: Stress, productivity and the reconstruction of working life.

गाँधी और अहिंसा

कुमार रमन किरण

पूर्व सहायक प्राध्यापक (तदर्थ) अनुग्रह नारायण सिन्हा मेमोरियल कॉलेज, औरंगाबाद, बिहार

गाँधीजी की विचारधारा में अहिंसा वह प्रधान तत्व है जिसे साध्य भी कहा जा सकता है और साधन भी। अहिंसा की अवधारणा की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए एण्ड्रयूज ने लिखा है कि 'महात्मा गाँधी की अहिंसा की अवधारणा नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों का समावेश है। नकारात्मक दृष्टिकोण से अहिंसा का अर्थ स्वार्थ, विरोध या क्रोध होने पर भी किसी को कष्ट न पहुँचाना अथवा उस पर अघात न करना है। सकारात्मक दृष्टिकोण से अहिंसा का तात्पर्य उदारतापूर्वक दूसरों को क्षमा करना, त्याग की भावना रखना तथा बुराई को प्रेम तथा दया से जीतना है।' यंग इण्डिया में गाँधीजी ने लिखा कि 'अहिंसा कायर लोगों का हथियार नहीं है। किसी व्यक्ति को अहिंसा का उपासक तभी समझा जा सकता है जब शक्तिशाली होते हुए भी दूसरों को क्षमा कर सके।' गाँधीजी ने अहिंसा को ऋणात्मक एवं धनात्मक दोनों ही अर्थों में परखा है। उनके अनुसार ऋणात्मक अर्थ में अहिंसा का तात्पर्य शरीर अथवा मन से किसी जीव को हानि नहीं पहुँचाने से है। बुरे कार्य करने वाले को शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से पीड़ा न पहुँचाई जाए। यदि बुरी भावना के बिना कोई प्राकृतिक कार्य हो जाय जो उसमें बुराई नहीं है जैसे यदि कोई व्यक्ति किसी बालक पर वार करना चाहे और अन्य व्यक्ति उस बालक को बचाने के लिए वहाँ से हटा दे तो उसमें अहिंसा ही मानी जाएगी। अहिंसा की यह मांग है कि बुरे कार्य करने वाले को उसके शिकार पर झपटने का अवसर ही न दिया जाए। धनात्मक अर्थ में अहिंसा विस्तृत प्रेम एवं परमार्थ की प्रतीक है। अहिंसा पर चलने वाला अपने शत्रु से भी प्रेम करता है। सच्ची अहिंसा सत्य तथा निर्भीकता पर अवलम्बित है। जिस प्रकार से व्यक्ति अपने प्रियजनों के साथ धोखा नहीं करता और उन्हें भयभीत अथवा त्रस्त भी नहीं रखता, उसी प्रकार का व्यवहार शत्रु अथवा विरोधी के प्रति भी अपेक्षित है। जीवन दान सबसे बड़ा दान है, वह व्यक्ति जो इसका पालन करता है सभी प्रकार के विरोध को शान्त कर देता है। शांतिपूर्ण समझौते के लिए यही मार्ग है। अहिंसा एवं कायरता साथ-साथ नहीं चलते। निर्भीक व्यक्ति ही अहिंसा का मार्ग अपना सकता है। अहिंसा का प्रयोग अत्यन्त साहस पूर्ण चुनौती है।¹

अहिंसा हिंसा से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। क्षमा दण्ड से अधिक पुरुषोचित है। दण्ड देने में क्षम्य व्यक्ति द्वारा क्षमादान ही सच्ची क्षमा है। बिल्ली की पकड़ में आया हुआ चूहा बिल्ली को क्षमा करने की क्षमता नहीं रखता। अहिंसा शक्ति का ही रूप है। शक्ति शारीरिक क्षमता से उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए अदम्य इच्छा शक्ति की आवश्यकता है। भारत के वे ऋषि जिन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त का आविष्कार किया, न्यूटन से अधिक प्रतिभा संपन्न थे वे वेलिंगटन से भी अच्छे योद्धा थे। शास्त्रों का उपयोग जानते हुए भी उन्होंने हिंसा की निरर्थकता का अनुभव किया और विश्व को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अहिंसा का पाठ सिखाया।²

अहिंसा में बुराई करने वाले के समक्ष नम्र आत्म समर्पण का उद्देश्य नहीं होता क्योंकि अहिंसा का अर्थ है आततायी की इच्छा के विरोध में अपनी समस्त आत्म शक्ति का प्रयोग।

अहिंसा के सिद्धान्त के अंतर्गत अकेला एक व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म अपनी आत्मा के रक्षार्थ बड़े से बड़े साम्राज्य की नींव हिला देता है। आत्मा की अमरता का ज्ञान प्राप्त कर समस्त पार्थिव बुराईयों को अहिंसा के माध्यम से जीता जा सकता है।³ गाँधीजी ने अहिंसा को कायरता का पर्याय मानने वालों को बार-बार आड़े हाथों लिया है। वे कायरता के स्थान पर हिंसा को अधिक अच्छा समझते हैं। कायरता का अपमान पूर्ण जीवन जिनसे हिंसात्मक मार्ग ही श्रेष्ठ है क्योंकि हिंसा के द्वारा व्यक्ति कम से कम अपने सम्मान की रक्षा का उद्यम तो करता है।⁴ वे अहिंसा को प्रेम एवं सहिष्णुता पर अवलम्बित मानते हैं भी बुराई करने वालों के प्रति निष्क्रियता अथवा आज्ञाकारिता को स्वीकार नहीं करते। अत्याचारी से संबंध तोड़कर अत्याचार का प्रतिकार करना उन्होंने उचित माना है।⁵ वे दुख तथा हिंसा का अंतर भी स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार कोई चिकित्सक किसी रोगी पर शल्य चिकित्सा करता है उसे कड़वी औषधि देता है तो वह रोगी को दर्द अवश्य पहुँचाता है किन्तु हिंसा नहीं करता। रोगी इसके लिए चिकित्सक को धन्यवाद ही देता है। यदि कोई व्यक्ति अपने अफसर के बुरे व्यवहार के कारण सेवा से त्यागपत्र देता है तो वह त्यागपत्र असहयोग माना जाकर दुख पहुँचा सकता है न कि हिंसा का कारण। यदि इसके विपरीत कोई जोर जबरदस्ती से न्याय प्राप्त करने का प्रयास करे तो उसे हिंसा द्वारा प्राप्त न्याय ही माना जाएगा।⁶ हिंसा का कोई भी कार्य अहिंसा के समझ कम प्रभावपूर्ण तथा कम महता का है। हिंसा के मार्ग का अनुसरण करने वाले क्रांतिकारियों के समक्ष अहिंसा का प्रयोग करने वाला भी उतने ही गर्व के साथ खड़ा हो सकता है क्योंकि अहिंसक कार्य बेगुनाह व्यक्तियों के खून से रंगा हुआ नहीं होता। किसी बेगुनाह व्यक्ति का आत्म बलिदान उन लाखों व्यक्तियों के बलिदान से जो अन्य व्यक्तियों को मारने में शहीद हुए, लाखों गुना अधिक प्रभावशाली है। निर्दोष व्यक्ति द्वारा अपना बलिदान ईश्वर अथवा व्यक्ति कृत निरंकुशता का शांति पूर्ण प्रत्युत्तर है।⁷

गाँधी जी ने क्रांतिकारियों के हिंसात्मक कार्य के विरोध में यह व्यक्त किया है कि वे अहिंसा को धीमी गति वाली दीर्घकालिक प्रक्रिया न मानें। वे अहिंसा को विश्व की सर्वाधिक गतिशील प्रक्रिया मानते हैं क्योंकि इसमें सफलता सुनिश्चित है।⁸ अहिंसा में संघर्ष की स्थिति अधिक सक्रिय एवं वास्तविक होती है। आततायी के विरुद्ध संघर्ष में बदले की भावना का प्रयोग किया जाए तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ेगी, किन्तु उसका मानसिक एवं नैतिक विरोध उसे आगे बढ़ने से रोकेगा। गाँधीजी के अनुसार अत्याचारी की तलवार की धार को मोटी करने के लिए तेज धारवाले हथियार की आवश्यकता न होकर उसकी आकांक्षा को, कि कोई उससे शारीरिक प्रतिरोध करेगा, निराश करने की आवश्यकता है। आत्मा का प्रतिरोध उस व्यक्ति को हतप्रभ कर सकता है। यद्यपि यह एक आदर्श है फिर भी इस आदर्श में उतनी ही सत्यता है जितनी यूक्लिड की ज्यामिति संबंधी परिभाषाओं में।⁹

अहिंसा का सिद्धान्त राज्यों के पारस्परिक संबंधों में भी उतना ही कल्याणकारी है जितना की व्यक्ति तथा व्यक्ति के संबंधों में। गाँधीजी के अनुसार युद्धोन्माद स्वार्थ तथा आर्थिक शोषण का प्रेरक है। निरस्त्रीकरण का वरण कर यदि राष्ट्र अपने उपर बड़ा संकट उठाने को तैयार हो तो वह न केवल अनुकरणीय होगा अपितु समस्त विश्व में अहिंसा की प्रेरणा का स्रोत बन जाएगा।¹⁰ सैन्य शक्ति का आत्मा की शक्ति के समक्ष नग्न स्थान है। भय, निर्बल का शोषण, अनैतिक लाभ, सांसारिक सुख भोग की तृष्णा सभी आत्मा की शक्ति से असंगत है। शांति का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। सच्चाई शांति से भी अधिक आवश्यक है।

असत्य हिंसा की जननी है। सत्यवादी मनुष्य अधिक समय तक हिंसक नहीं रह सकता। वह अंत में हिंसा का पूर्ण त्याग कर देगा। सत्य तथा अहिंसा एवं असत्य तथा हिंसा में तालमेल नहीं हो सकता। हम मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण अहिंसक न भी हो, तब भी अहिंसा को लक्ष्य बनाकर शनैः-शनैः उस ओर बढ़ सकते हैं। व्यक्ति राष्ट्र अथवा विश्व के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति अहिंसा के मापदण्ड पर ही आधारित होनी चाहिए। कुछ व्यक्तियों का सत्य भी महत्व रखता है जबकि करोड़ों का असत्य हवा के तेज झोकें में भूसे के समान विलुप्त हो जाता है।¹¹

अहिंसा से आक्रमण करने की क्षमता पूर्व आवश्यकता के रूप में है। अहिंसा स्वेच्छा से जान बूझकर प्रतिशोध का एक प्रतिक है जबकि क्षमा का भाव बलवान माना गया है। प्रतिशोध का विचार क्षति के वास्तविक अथवा काल्पनिक भय के कारण उत्पन्न होता है। कुत्ता भयभीत होने पर भौंकता है तथा काटने लगता है। ऐसा व्यक्ति जो पृथ्वी पर किसी से भी नहीं डरता, वह पीड़ा पहुँचाने वाले अपने शत्रु के विरुद्ध भी क्रोध का तनिक भी भाव ही नहीं रखता।¹² अहिंसा समाज के हित में स्वेच्छा से अपने आप पर लगाया गया नियंत्रण है यह पवित्र करने वाली आंतरिक शक्ति है। आर्थिक क्षति उठाकर भी व्यक्ति इसका पालन करता है। आत्मिक शक्ति को पहचानने एवं आत्म त्याग की भावना को विकसित करने के लिए उचित प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसके द्वारा जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है, जीवन के मूल्य परिवर्तित हो जाते हैं तथा स्वार्थ के पुर्नानुमान ध्वस्त हो जाते हैं। यदि हर व्यक्ति इसका प्रयोग न भी करे तब भी किसी एक व्यक्ति के पूर्ण अहिंसक होने पर सभी उसी प्रकार अनुशासित हो सकते हैं जैसे कि एक ही सेना नायक द्वारा समस्त सेना की शक्ति नियमन एवं संचालन किया जाता है।¹³

गाँधीजी के अनुसार अहिंसा को केवल वध न करने के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। स्वार्थ अथवा क्रोधवश किसी का जीवन हरने या दुःखी करने का नाम हिंसा है। ऐसे कार्य करने से अपने आप को रोकना अहिंसा है। अहिंसा निस्वार्थ है। निस्वार्थ होकर अपने शरीर की चिंता किए बिना सत्य को पहचानना तथा अन्य व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करना अहिंसा है। दुर्बलता अथवा कायरता को दूर रखने की आवश्यकता पर बल देते हुए गाँधीजी ने व्यक्त किया है कि एक हिंसक व्यक्ति किसी दिन अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर व्यक्ति में अहिंसा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि हम स्वयं अपनी स्त्रीयों तथा धार्मिक स्थानों की अहिंसा के द्वारा रक्षा करना नहीं जानते तो हमें, यदि हम पुरुष हैं लड़ते हुए उनकी रक्षा करनी चाहिए।¹⁴

अहिंसा असहयोग का अभिन्न अंग है। सब प्रकार से असफल होने के बाद भी अहिंसा द्वारा संघर्ष जारी रह सकता है। अहिंसा का त्याग करने पर पराजय निश्चित है। हिंसा शासन का मूल आधार है। व्यक्ति हिंसा से हिंसा को नहीं जीत सकता। अहिंसा का प्रारंभ मन या मस्तिष्क से होता है। मन में घृणा का भाव विद्यमान रहते अहिंसा का प्रयोग आत्मघाती है यदि व्यक्ति मन से शुद्ध होकर अहिंसक बना रहता है तो वह हिंसा का सहभागी नहीं कहा जा सकता। गाँधीजी ने बोअर युद्ध, यूरोपीय महायुद्ध तथा जुलु युद्ध में स्वयं सेवक के रूप में अपने शांतिपूर्ण कार्यों की सफाई देते हुए व्यक्त किया है कि उनका कार्य युद्ध में सम्मिलित होने वालों के समान हिंसक दिखाई देते हुए भी अहिंसक रहा है। यद्यपि गाँधीजी युद्ध में शस्त्र उठाने वाले तथा रेडक्रॉस का कार्य करने वाले दोनों को समान रूप से युद्ध का दोषी मानते हैं किन्तु अपने कार्य को गाँधीजी ने इस कारण अहिंसक माना है कि वे स्वयं मन से हिंसा में विश्वास नहीं करते थे अपितु विवशतावश उन्होंने युद्ध के दिनों में सेवा कार्य किया। बाद में गाँधीजी ने अहिंसा के

मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने सिद्धान्तों के प्रति स्पष्ट विचार तथा अनुभव का उपयोग कर अहिंसा के प्रति अपने निष्ठा में अधिकतम दृढ़ता प्रदान की।¹⁵

अहिंसा के सिद्धान्त तथा व्यवहार की व्याख्या करते हुए महादेव देसाई ने व्यक्त किया है कि अहिंसा में छल, प्रपंच आदि का कोई स्थान नहीं होता। सभी कार्य खुले तौर पर किए जाते हैं। सत्य को गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं होती। सत्य तथा अहिंसा का वरन करने वाला पराजय शब्द को स्वीकार ही नहीं करता। अहिंसा अत्यंत गत्यात्मक प्रक्रिया है। युद्ध के भयंकर संहारक अस्त्रों से सुसज्जित व्यक्ति अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए उद्यत रहते हुए भी 24 घंटों में कुछ समय के लिए शस्त्र रखकर आराम करने की आवश्यकता अनुभव करता है। इस प्रकार वह दिन के कुछ समय के लिए क्रियाहीन रहता है किन्तु सत्य एवं अहिंसा के समर्थक कभी क्रियारहित नहीं होता, क्योंकि वह बाह्य शस्त्रों पर निर्भर नहीं करता। उसके अस्त्र शस्त्र उसके मन में निवास करते हैं और वह अहोरात्र काम करता रहता है। व्यक्ति चाहे सोता हो अथवा जागता हो, घूम रहा हो अथवा खेल रहा हो, आंतरिक प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। गाँधीजी ने अहिंसा का महत्व दर्शाते हुए यह कामना की है कि व्यक्ति को सैन्य शक्ति पर आधारित राज्य का समर्थन नहीं करना चाहिए। यदि सेना में भर्ती होने की अनिवार्यता सामने आये तो उसका भी प्रतिकार का दण्ड के लिए अपने आप को प्रस्तुत करना ही उचित है। वे रेडक्रॉस जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को युद्ध के समय सेवायें अर्पित करने के स्थान पर विश्वव्यापी सेवा कार्य करने की प्रेरणा देते हैं ताकि पीड़ित मानवता को सहारा मिल सके। वे युद्ध की स्थिति को बर्बरता का प्रतिक मानते हैं। वे राज्यों की कृत्रिम सीमाओं को समाप्त करने के इच्छुक हैं ताकि सभी भाईचारे की भावना से रहें और युद्ध के समस्त कारणों को समाप्त कर दें। उनके अनुसार राज्यों की सीमाएँ ईश्वर कृत नहीं हो। स्वीटजरलैंड जैसे देश को जो स्थाई तटस्थता का उदाहरण है, सेना की आवश्यकता नहीं हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य निरस्त्रीकृत होकर आक्रामक के हाथों अपना विनाश होता देखता रहें। गाँधीजी ने ऐसे समय में अहिंसा के सिपाहियों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। वे चाहते हैं कि सर्वप्रथम आक्रमणकारी सेना को सभी प्रकार की सहायता तत्काल बंद कर दी जाय। इसके पश्चात् त्रमोपली के युद्ध क्षेत्र के समान सभी पुरुष स्त्री तथा बालक एक भारतीय दीवार के रूप में खड़े हो जायें और आक्रमणकारियों को अपनी मृत शरीरों के उपर से जाने का निमंत्रण दें। गाँधीजी ने इसे असंभव नहीं माना। उनके अनुसार कोई भी निर्दयी सेना निर्दोष पुरुषों या स्त्रियों को रौंदकर आगे बढ़ने का प्रयोग दोहरा नहीं सकती। यदि प्रथम प्रयास में अपार जनहानि उठानी भी पड़े तब भी व्यक्तियों को ऐसा बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा। वह अदभूत अहिंसक शौर्य प्रदर्शन का अनुकरणीय उदाहरण बन जायेगा।¹⁶

अहिंसा एवं सत्य को गाँधीजी ने एक ही सिक्के के दो पहलू माना है। वे इसे बिना छाप का धातु का ऐसा सिक्का मानते हैं जिसमें यह पता लगाना कठिन होता है कि उल्टा हिस्सा कौन सा है तथा सीधा हिस्सा कौन सा। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है। साधन सर्वदा व्यक्ति की पहुँच में रहना चाहिए और इस तरह अहिंसा एक सर्वोच्च कर्तव्य के रूप में है। यदि साधन की चिंता रखी जाय तो साध्य को किसी न किसी दिन प्राप्त किया जा सकता है। सत्य की खोज निरंतर होनी चाहिए सत्य ही ईश्वर है।¹⁷ यद्यपि सत्य एवं अहिंसा का मार्ग कठिन है फिर भी अविराम प्रयत्नों से दोनों को आत्मसात किया जा सकता है। जिस प्रकार से रास्ते पर चलने वाला नट पूर्ण एकाग्रचित होकर चलता है, उससे भी अधिक एकाग्रता सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए अपेक्षित है।¹⁸

गाँधीजी के अनुसार सामूहिक रूप से अहिंसा का प्रयोग संभव है। मानव समुदाय पूर्ण अहिंसक बना रह सकता है। अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने व्यक्त किया है कि जन समुदाय द्वारा अहिंसक आंदोलन को हिंसक आंदोलन नहीं बनाया जाता, केवल बुद्धिजीवियों का वर्ग ही हिंसा को भड़काने वाली कार्यवाही करता है। समूह द्वारा अधिक अनुशासन का प्रयोग किया जाता है जबकि व्यक्तिगत रूप में व्यक्ति अधिक शिथिलता का परिचय देता है। हिंसक संघर्ष के समय लड़ने वाली सेना की टुकड़ी आज्ञा पाने पर गोलियाँ चलाती है और आज्ञा पाकर गोली चलाना तुरंत बंद कर देती है— चाहे व्यक्तिगत रूप में बदले कि भावना दबी ही क्यों न रह जाय। ऐसी स्थिति में अहिंसा के बारे में यह कैसे संभव है कि अहिंसक जन समूह हिंसा पर उतारू हो जायेगा। अहिंसक आंदोलन अधिक अनुशासनबद्ध होता है। क्योंकि इसका संचालन कम से कम साधनों द्वारा ही समूह को अहिंसा का प्रशिक्षण देकर तदनुसार व्यवहार प्राप्त कर लेता है। नेतृत्व की अहिंसा के सिद्धान्त में पूर्ण निष्ठा तथा उसके स्वयं के व्यवहार में अहिंसा का प्रयोग अहिंसक आंदोलन में जन समुदाय को चमत्कृत रूप से अनुशासनबद्ध रख सकता है।¹⁹

अहिंसा का प्रयोग वह व्यक्ति नहीं कर सकता जो मृत्यु से डरता हो अथवा जिसमें प्रतिरोध करने की क्षमता न हो। गाँधीजी के अनुसार अहिंसा की 5 विशेषताएँ हैं:—

1. अहिंसा में मानव सूलभ संपूर्ण आत्म शुद्धि अंतरनिहित होती है।
2. अहिंसा की शक्ति अहिंसक व्यक्ति की हिंसा करने की योग्यता न कि इच्छा के अनुपात पर निर्भर करती है।
3. अहिंसा बिना किसी अपवाद के हिंसा से श्रेष्ठ है अर्थात् अहिंसक व्यक्ति की शक्ति सम्पन्नता उसके व्यवहार की तुलना में अधिक होती है।
4. अहिंसा में पराजय का प्रश्न कभी उत्पन्न नहीं होता। हिंसा की परिणति निश्चित पराजय है।
5. अहिंसा में अंततः विजय सुनिश्चित है — यदि विजय जैसे शब्द का अहिंसा के लिए प्रयोग किया ही जाय। वास्तव में जहाँ पराजय का कोई स्थान ही न हों वहाँ विजय का कोई अर्थ ही नहीं होता।²⁰

अहिंसा की मान्यता सर्वव्यापी होती है। व्यक्ति किसी एक कार्य के बारे में अहिंसा तथा दूसरे के बारे में हिंसा का अनुमोदन नहीं कर सकता है। ऐसा होने पर अहिंसा एक नीति मात्र रह जायेगी न कि जीवन शक्ति।²¹ मानवीय प्रकृति के ईश्वरी गुण उसे स्थाई शांति की ओर ही ले जाते हैं। यदि ईमानदारी से विश्व में शांति स्थापित करने के प्रयास किये जाये तो संहारक यंत्रों को सदा के लिए समाप्त किया जा सकता है। जीवित ईश्वर में निष्ठा की कमी ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फैली अविश्वास की भावना का मूल कारण है। ईसा मसिह को शांति का राजकुमार मानने वाले राष्ट्र भी व्यवहार में शांति स्थापित करने से कतराते हैं।²²

गाँधीजी ने अहिंसा की सफलता के निम्न आधार प्रस्तुत किये हैं :—

1. अहिंसा मानव प्रजाति का नियम है और हर दृष्टि से पाशविक शक्ति से श्रेष्ठ है।
2. प्रेमी रूपी ईश्वर में विश्वास नहीं रखने वालों को अहिंसा की उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं होती।
3. अहिंसा से आत्म सम्मान एवं गौरव की रक्षा होती है किन्तु इसके द्वारा चल सम्पत्ति तथा भूमि की सुरक्षा प्रायः नहीं हो पाती है। सशस्त्र रक्षकों को रखने के बजाय अहिंसा का

- स्वभावतः प्रयोग फिर भी उपयोगी है। अनुचित उपायों से प्राप्त धन तथा अनैतिक कृत्यों की रक्षा के लिए अहिंसा का सहारा नहीं लिया जा सकता।
4. व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अहिंसा के प्रयोग में सम्मान के अलावा अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहना चाहिए। आधुनिक साम्राज्यवाद जो कि बल पर आधारित है, अहिंसा के साथ मेल नहीं खा सकता।
 5. ईश्वर तथा प्रेम में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति चाहें वह बालक, युवा, स्त्री अथवा वृद्ध ही क्यों न हों, अहिंसा रूपी शक्ति से युक्त होता है। अहिंसा को जीवन धर्म मान लेने के पश्चात समस्त जीवन अहिंसामय हो जाना चाहिए।
 6. यह मानना सर्वथा भ्रामक है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए लाभकारी है, मानव समुदाय के लिए नहीं।²³

सत्य तथा अहिंसा कोई प्रतिबद्धित गुण नहीं है बल्कि इनका प्रयोग विधान मंडलों तथा बाजार में समान रूप से हो सकता है। केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं अपितु समूहों, समुदायों एवं राष्ट्रों के व्यवहार में सत्य तथा अहिंसा का प्रयोग किया जा सकता है। यदि अहिंसा का जीवन के समस्त क्षेत्रों में उपयोग न हो तो इसकी व्यावहारिक विशेषता ही समाप्त हो जाएगी। व्यक्तिगत मोक्ष की कामना करने वालों के लिए सत्य तथा अहिंसा का इतना महत्व नहीं जितना दिन-प्रतिदिन के कार्यों राजनीति एवं दुनियाँदारी के संदर्भ में इनका महत्व है।²⁴ अहिंसा में विश्वास तब तक जागृत नहीं होता जब तक व्यक्ति ईश्वर में पूर्ण आस्था नहीं रखता। ईश्वर में पूर्ण आस्था रखने वाला व्यक्ति अपने विरोधीयों के जीवन का उतना ही सम्मान करता है जितना स्वयं के जीवन का। ईश्वर में आस्था रखे बिना अहिंसा के पथ पर विचरण नहीं हो सकता। ईश्वर की उपस्थिति तथा सभी हृदय में ईश्वर के दर्शन व्यक्ति को सर्वोच्च बलिदान की प्रेरणा देते हैं। आस्था को विकसित किया जा सकता है। व्यक्ति हिंसा को प्रार्थना के माध्यम से विकसित नहीं कर सकता। किन्तु आस्था बिना प्रार्थना के विकसित नहीं होती। अहिंसा तभी सफल होती है जब हम ईश्वर में जीवंत आस्था रखते हैं।²⁵ अहिंसक संघर्ष में घृणा अथवा बदले की भावना नहीं रहता और शत्रु भी मित्र में बदल जाते हैं। यह रेडियम के समान है। जिसकी सूक्ष्म मात्रा भी शरीर के रोगी अंग को शनैः-शनैः स्वस्थ बना देती है। इसी प्रकार सच्ची अहिंसा का अंश भी अदृश्य एवं शांत रूप में समस्त समाज को परिष्कृत करता है।²⁶

विरोधी एवं उग्र वातावरण के मध्य अहिंसा का वास्तविक प्रयोग होता है उग्र विरोध से अहिंसा सीमित नहीं होती। यदि अहिंसा सत्ताधारियों की कृपा पर निर्भर करे तो वह खोखली अहिंसा होगी। संपूर्ण समाज का संगठन अहिंसा पर आधारित किया जाना चाहिए। परिवार में यदि अहिंसा का आधार मान्य है तो समाज, जो परिवार का ही विस्तृत रूप है अहिंसा पर आधारित क्यों नहीं हो सकता? नाम मात्र के लिए लोकतांत्रिक बने रहने वाले राज्यों के सामने यही विकल्प है कि या तो वे सर्वाधिकारवादी राज्य बन जायेंगे या वे अहिंसा को अपनाकर पूर्ण लोकतांत्रिक राज्य कहलायेंगे। यह कहना निरर्थक है कि व्यक्ति अहिंसक हो सकता है। किन्तु राज्य जो व्यक्तियों द्वारा निर्मित होता है अहिंसक नहीं बन सकता।²⁷ व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा का नियम मान्य होना चाहिए। यदि हम साधन का ध्यान रखें तो साध्य स्वयंमेव प्राप्त होगा। अहिंसा साधन के रूप में है और साध्य है प्रत्येक राष्ट्र की संपूर्ण स्वतंत्रता। अहिंसा का पालन करने पर कोई भी राष्ट्र अपने को छोटा या बड़ा अनुभव नहीं करेगा।²⁸

इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति अहिंसा की ओर निरंतर बढ़ रहा है। हमारे आदि पूर्वज नरभक्षी थे। बाद में वे नरभक्षी होने के साथ-साथ पशुओं के शिकार पर निर्भर रहने लगे। शिकारी जीवन से तंग आकर वे कृषि करने के लिए एक स्थान पर रहने को उद्यत हुए। घुमक्कड़ जीवन को छोड़कर उन्होंने ग्राम, नगर तथा सभ्यताओं की स्थापना की। उनकी हिंसा कम होती गई और वे अहिंसा की ओर बढ़ने लगे। यदि ऐसा न हुआ होता तो आज मानव नस्ल लुप्त प्रायः होती जैसे की अन्य पशु नस्लें लुप्त होती गईं। महापुरुषों एवं अवतारी पुरुषों ने भी अहिंसा का संदेश दिया। किसी ने हिंसा का उपदेश नहीं दिया। हिंसा को सिखाने की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य का अन्तरात्मा जागृत होने पर वह हिंसक नहीं बना रह सकता। हिंसा में लिप्त रहने का अर्थ है सर्वनाश। अहिंसा की ओर मानवता की प्रगति बनी हुई है और भविष्य में भी मानव अहिंसा की ओर बढ़ता जायेगा।²⁹ अहिंसक आंदोलन बनाने के लिए अनशन का महत्वपूर्ण योगदान है। सत्ता का विरोध करने तथा स्वयं की जनता को हिंसक कार्यो तथा उपद्रव करने से रोकने के लिए अनशन का प्रयोग सफलता पूर्वक किया जा सकता है। धार्मिक क्रियाकलापों में तो अनशन का महत्व स्वीकार कर लिया गया है किन्तु कई व्यक्ति राजनीतिक संघर्ष में इसके प्रयोग पर टीका-टिप्पणी करते हुए दिखाई देते हैं। वास्तविकता यह है कि सांसारिक कार्यो के लिए अनशन का प्रयोग इसके वास्तविक मूल्य को पहचानने में सहायक रहा है। यह पृथ्वी पर स्वर्ग उतरने के समान है। इस विश्व के अलावा और कोई विश्व नहीं है। गुफा में रहकर अहिंसा का प्रयोग करने वाले तथा इस जीवन के पश्चात अगले जीवन में अहिंसा तथा अनशन की उपादेयता को सहानुभूतिपूर्वक स्वीकारने की आवश्यकता है। केवल जेलों में शासनाधिकारियों की ज्यादतियों के विरुद्ध शासन तथा राष्ट्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में अनशन से सफलता प्राप्त होती है। किन्तु व्यापक राष्ट्रीय हित में इसका प्रयोग ही वास्तविक अहिंसा का प्रतिक है।³⁰ गाँधीजी के अनुसार अनशन करना अहिंसा के पालन करने वाले के शस्त्रागार का अंतिम शस्त्र है। जब मानवीय समझ बूझ बिफल हो जाये तब अनशन प्रारंभ होता है। अनशन की क्रिया आध्यात्मिक है। अतः अनशन करनेवाला ईश्वर की प्रार्थना कर अपने आप को ईश्वर को सुपुर्द कर देता है। अनशन के द्वारा अन्य व्यक्तियों की सुसुप्त अंतरात्मा जागृत होती है। सत्य के लिए सही कदम उठाने से विचलित नहीं होना चाहिए। अनशन व्यक्ति की अंतरात्मा की आवाज का पालन करने के उद्देश्य से किया जाता है।³¹

संदर्भ सूची :

1. दी स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0-346-347
2. यंग इण्डिया, 11.8.1920
3. वही
4. वही
5. वही, 25.8.1920
6. वही, 1924-1926 पृ0-874-875
7. वही, 12.2.1925
8. वही, 30.4.1925
9. वही, 8.10.1925
10. वही
11. वही, 20.5.1925
12. वही, 12.8.1926

13. वही, 30.9.1926
14. वही, 16.6.1927
15. वही, 13.9.1928
16. वही, 31.12.1931
17. गॉधी, यर्वदा मन्दिर, पृ0-8-9
18. वही, पृ0-5
19. बोस, सेलेक्शन्स फ्रॉम गॉधी, पृ0-195-196
20. हरिजन, 12.10.1935
21. वही
22. वही, 16.5.1936
23. वही, 16.9.1936
24. बोस सेलेक्शन्स फ्रॉम गॉधी, पृ0-33
25. हरिजन, 18.6.1938 तथा 28.1.1939
26. वही, 12.11.1938
27. वही, 10.12.1938
28. वही, 11.2.1939
29. वही, 11.8.1940
30. वही, 26.7.1942
31. वही, 12.12.1947

प्रेमचंद की कहानी की उत्तर कथा और रेणु

मनीष कुमार शर्मा

शोधार्थी, राँची विश्वविद्यालय, राँची

फणीश्वरनाथ रेणु हिन्दी साहित्य के एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कथाकार हैं। वह विशुद्ध रूप से प्रेमचंद की परम्परा के कथाकार हैं जिनकी रचना धर्मिता के केन्द्र में भारतीय ग्रामीण परिवेश और उसकी आंचलिकता है। उन्होंने अपने साहित्य में ग्रामीण समाज के यथार्थ को रेखांकित और रूपायित किया है। आजादी के पूर्व के भारत के ग्रामीण जीवन की समस्याओं, व्यथा और करुणा को उकेरने का काम जिस प्रकार प्रेमचंद ने किया, उसी प्रकार आजाद भारत के ग्रामीणों, मज़दूरों और किसानों की समस्याओं का यथार्थ चित्रण फणीश्वरनाथ रेणु ने भी अपने कथा-साहित्य में किया। चाहे वह उनका कहानी-साहित्य हो या फिर उनका उपन्यास साहित्य। उनकी कहानियाँ संरचना, स्वभाव, शिल्प और संदर्भ की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियों की अगली और महत्वपूर्ण कड़ी प्रतीत होती हैं। प्रसिद्ध समालोचक शिवकुमार मिश्र का रेणु के लेखन के संदर्भ में महत्वपूर्ण कथन है – “रेणु हिन्दी के उन रचनाकारों में हैं, जिन्होंने आधुनिकतावादी फैशन की परवाह न करते हुए कथा साहित्य को एक लम्बे अरसे के बाद प्रेमचंद की उस परम्परा से फिर जोड़ा जो बीच में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन की केन्द्रीयता के कारण ‘भारत की आत्मा से कट गई थी।’”(1) जिस प्रकार जाति और गरीबी के विद्रूपता को प्रेमचंद ने अपनी कहानियों सद्गति, ठाकुर का कुआँ और सवा सेर गेहूँ में उकेरा है, उसी प्रकार फणीश्वरनाथ रेणु ने भी लाल पान की बेगम और रसप्रिया जैसी कहानियों में उसे पूर्ण मुखर किया है। ग्रामीण समाज आज भी गरीबी, जहालत, भूख और अभाव से ग्रस्त है जहाँ राजनीतिक और सामाजिक रूप से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। भारत की आजादी के बाद स्वराज की जो संकल्पना थी, वह खण्डित हो गई और रूग्ण भारत की विषादयुक्त कथा आज तक जारी है।

संदर्भ –1 भूमिका, फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियाँ, भारत, यायावर नेशनल बुक ट्रस्ट, 2004

प्रेमचंद से लेकर रेणु तक और परवर्ती कथा-लेखकों के साहित्य विमर्श तक कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। प्रेमचंद की मंत्र जैसी कहानियाँ सामाजिक भेदभाव का प्रमुख उदाहरण है जहाँ बूढ़ा व्यक्ति डॉ. चड्ढा के सामने अपने बीमार बेटे को लिए इलाज के लिए गिड़गिड़ाता रहता है परंतु उसे बूढ़ा, महत्वहीन गरीब और अशिक्षित, साधनहीन जानकर डॉ. चड्ढा उसके इलाज से इंकार कर देता है और बूढ़े के बेटे पन्ना की दुःखद मृत्यु हो जाती है। मनुष्य के महत्व की दृष्टि से डॉ. चड्ढा का चेतनाशून्य हो जाना और पुनः उनके सर्पदंश से मर रहे उनके पुत्र के इलाज हेतु बूढ़े भगत का आना और एक चिलम तम्बाकू का भी रवादार न

होना इस सामाजिक विभेद और अंतर को दर्शाता है। सद्गति जैसी प्रेमचंद की कहानियाँ पाठक को सोचने पर विवश कर देती हैं कि किस प्रकार भारतीय समाज में जाति की दुर्भावना अत्यन्त गहरे स्तर पर विद्यमान थी। यदि वह बूढ़ा खूसर ब्राह्मण, दुःखी चमार को अत्यधिक कार्य न सौंपता और उसके भोजन और जलपान आदि की व्यवस्था करता तो शायद दुःखी की इतनी हृदयविदारक और अस्वभाविक मृत्यु नहीं होती। जाति की बंदिशों में जकड़े ब्राह्मण ने आखिर दुःखी के मृत शरीर को अँधेरे में खींचते हुए अपने दरवाजे से हटाया। परन्तु दुःखी की मृत्यु हमारे समक्ष अनेक यक्ष प्रश्न खड़े करती है। आज भी हमारे समाज में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। बिल्कुल थके माँदे दुखी को थोड़ा देर आराम करते देखकर ब्राह्मण देवता बेचैन हो जाते हैं—“ अरे, दुखिया, तू सो रहा है? लकड़ी तो अभी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। इतनी देर तू करता क्या रहा ? मुट्ठी भर भूँसा ढोने में संझा कर दी। उस पर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल। तुझसे जरा सी लकड़ी नहीं कटती। फिर साइत भी वैसी निकलेगी, मुझे दोष मत देना।” (2) गाँठ वस्तुतः लकड़ी में नहीं पड़ी थी, वस्तुतः वह जाति की विषम गाँठ ब्राह्मण के मन में पड़ी थी जिसने उसे पूरी तरह संवेदनाहीन और निरा-पशु बनाकर रख दिया था।

संदर्भ—2 सद्गति, पृष्ठ-77, प्रेमचंद की कहानियाँ, साधना पॉकेट बुक्स, 1995

कमोबेश इसी प्रकार की विषम जाति व्यवस्था और असमानता पर चोट करते हुए फणीश्वरनाथ रेणु भी दिखाई देते हैं। आदिम रात्रि की एक महक से लेकर, संवदिया और उनकी रसप्रिया जैसी कहानी में भी यह मुख्य रूप से दिखाई देता है। बारह वर्णों और भिन्न-भिन्न टोलों में बसे गाँव इसकी स्पष्ट बानगी बन कर सामने आते हैं। तंत्रिमा टोली, कूर्म क्षत्री टोली, गुअर टोली इत्यादि इसके उदाहरण और साक्षात् हैं। रेणु की एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण और भावपूर्ण कहानी है— रसप्रिया। पंचकौड़ी मिरदंगिया कला का प्रदर्शन करके अपना भरण-पोषण करता है परन्तु उसकी कला का अब कोई गुण-ग्राहक नहीं बचा है बल्कि उसे याचक और दसदुआरी समझकर उसके साथ दुर्व्यवहार होता है। वह एक बालक का सुंदर और भावपूर्ण देखकर उसे बेटा! संबोधित करना चाहता है पर सिहर जाता है कि कहीं यह बालक ब्राह्मण का न हो। “बेटा” कहते वह रूक गया।... परमानपुर में उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से ‘बेटा’ कह दिया था। सारे गाँव के लड़कों ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी — बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो, साले बूढ़े को घेरकर! मृदंग फोड़ दो!”(3) प्रेम और ममत्व, आत्मीयता के प्रदर्शन में भी जाति आड़े आ गई। बूढ़े मिरदंगिया पंचकौड़ी ने जब बच्चों को प्यार से ‘बाप’ कहकर फुसलाया तो उनका अहं भाव तुष्ट हुआ और उस समय पंचकौड़ी की जान बची। परन्तु यह कटु यथार्थ है कि आज भी बिहार से लेकर सुदूर दक्षिण भारत तक के गाँवों में जाति का दंश अभी तक दूर नहीं हुआ है और भारतीय गाँवों में विशेष सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन नहीं दिखाई देता है। यह अत्यंत ही दुःखद और कारुणिक है। प्रेमचंद की

उत्तरवर्ती परम्परा में रेणु ने विशदतापूर्वक अपने साहित्य में इस मनोवृत्ति और उसकी क्रूर नियति को उजागर किया है।

संदर्भ 3 :- *रसप्रिया, रेणु फणीश्वरनाथ, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2012*

उन्होंने ग्रामीण समाज में व्याप्त सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्या का भी व्यवहारवादी और यथार्थ चित्रण किया है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. सुवास कुमार का महत्वपूर्ण कथन है —“रेणु की छाती में हर वक्त गाँव धड़कता था और उसकी धड़कन का उन्होंने अपनी रचनाओं में कागजों पर उतार दिया है।”(4) रेणु को इसी कारण प्रेमचंद की परम्परा का महत्वपूर्ण कथाकार माना जाता है क्योंकि ग्राम्य जीवन के यथार्थ के अविरल चित्रण की प्रस्तुति निरंतर विकसित रूप में रेणु के साहित्य में दिखाई देती है। रेणु ने प्रेमचंद की ग्राम्यता को आंचलिकता में, राग—विराग, दुःख, करुणा, प्रेम, मैत्री, सद्भावना, अभाव, विकार, सबको मानो प्रेमचंद से उधार लिया हो। रेणु में प्रेमचंद का सार्थक और सकारात्मक विस्तार दिखाई देते हैं।

वस्तुतः प्रेमचंद की परम्परा में रेणु उनकी संजोई हुई थाती को क्रमशः सजग पाठक वर्ग को सौंपते हैं और चिंतन हेतु बाध्य करते हैं कि क्या भारत आज भी सम्मोहन से मुक्त हो पाया है अथवा नहीं। वस्तुतः नये जनतांत्रिक भारत की जो संकल्पना प्रेमचंद ने की थी, रेणु के समकाल में भी वह संकल्पना कभी मूर्त हो ही नहीं पाई। यही दुःख दोनों ही साहित्यकारों की रचनाओं में उद्बुद्ध होता है। स्त्री—पुरुष, जाति, अभाव, पीड़ा, क्लेश, प्रेम, घृणा इत्यादि अनेक भावों और आयामों से सम्पृक्त दोनों ही साहित्यकार एक दूसरे के सहकार प्रतीत होते हैं। कोई भी कथा न उत्तर कथा होती है और न ही कभी पूर्व कथा होती है। अपनी कहानियों की विशेषता को उल्लिखित करते हुए स्वयं फणीश्वरनाथ रेणु लिखते हैं —“मेरे साधारण पाठक मेरी स्पष्टवादिता और सपाटबयानी से सदा संतुष्ट हुए हैं।”(5)

संदर्भ 4 :- *आंचलिकता, यथार्थवाद और फणीश्वरनाथ रेणु, डॉ. सुवास कुमार, साहित्य सहकर प्रकाशन पृष्ठ -27ए दिल्ली 1992*

प्रेमचंद के साहित्य की विकासमान प्रवृत्ति और परम्परा रेणु में फलित होती है और स्वयं रेणु भी आने वाले साहित्यकारों के लिए यह अवकाश छोड़ते हैं कि प्रेमचंद की परम्परा कभी अपूर्ण या खाली न हो। उत्तर दशक की यह उत्तर कथा उत्तर शती में जाकर और प्रस्फुटित और पल्लवित हो ताकि साहित्य में गाँव और समाज की संकल्पना बची रहे और जर्जर रूढ़ियों से मुक्त रहे यही प्रेमचंद की परम्परा है और रेणु का आलोक है।

संदर्भ 5 :- *भूमिका, रेणु, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्स, 2012, नई दिल्ली।*

भारत में प्रगतिवाद के उदय का कारण

डॉ० अरुण कुमार मिश्र

असि० प्रोफेसर, हिन्दी, एम०डी०पी०जी० कालेज, प्रतापगढ़

‘प्रगति’ शब्द का शाब्दिक अर्थ है आगे बढ़ना, अग्रसर होना, उन्नति या विकास करना, सुधार करना। नागरी प्रचारिणी सभा के ‘हिन्दी शब्द सागर’ कोश में प्रगतिवाद की परिभाषा देते हुए कहा गया है। वह सिद्धान्त जिसमें साहित्य को सामाजिक विकास का साधन माना जाता है। सामान्य जनजीवन को साहित्य में व्यक्त करने का सिद्धान्त प्रगतिवाद है। लेकिन प्रगतिवाद को व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो यह आगे बढ़कर एक विशेष ढंग है। जो विशेष दिशा देता है। प्राचीन से नवीन की ओर, आदर्श से यथार्थ की ओर, पूँजीवाद से समाजवाद की ओर, रूढ़ियों से सक्षम जीवन की ओर बढ़ना भी प्रगतिवाद की परिभाषा है। प्रगतिवाद को लेकर आज भी विभिन्न तरह के वाद या विचारधाराएँ समाज में प्रचलित हैं। प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण माना जाता है। इसके विकास का, इसके उदय का क्या कारण है? इसे यदि देखा जाए तो, निम्न बिन्दुओं में देख सकते हैं—

1. राजनीतिक कारण
2. धार्मिक कारण
3. सांस्कृतिक कारण
4. आर्थिक कारण
5. साहित्यिक कारण

राजनीतिक कारण से आशय भारत और विश्व की राजनीति में होने वाले परिवर्तन और उन्हीं परिवर्तनों से यह विचारधारा विकसित होती है। इस समय भारत में राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा चरण चल रहा था। जिसे प्रायः 1900 से 1915 ई० तक माना जाता है। इस समय भारत में जो भी किसान, मजदूर, सामान्य या श्रमिक वर्ग के आन्दोलन या हड़तालें होती थी, वह असंगठित ढंग से थी। 1907 ई० की भारत में भारतीय रेलवे की हड़ताल और 1908 ई० की मुंबई हड़ताल जैसी बड़ी हड़ताल आदि भी किसी न किसी संगठन को जन्म देने के लिए विवश करती हैं।

यद्यपि 1907 की रेलवे हड़ताल में मजदूर अपना वेतन बढ़ाने एवं मालिकों के अत्याचार कुछ कम कराने में सफल हुए, लेकिन बीसवीं सदी के प्रथम दशक की सबसे महत्वपूर्ण हड़ताल 21 जुलाई 1907 को तिलक को दिए गए 6 साल के कारावास दण्ड के विरुद्ध मुंबई के मजदूरों की हड़ताल थी। इस हड़ताल में इन मजदूरों ने ब्रिटिश सेना के साथ मुंबई की सड़कों पर संघर्ष किया और इस संघर्ष से उन मजदूरों की शक्ति और चेतना का भी पता चलता है। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य था प्रथम विश्व युद्ध के बाद की स्थिति, क्योंकि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रूस की समाजवादी क्रांति और भारत के मजदूर वर्ग आपस में एक दूसरे को समझने जानने लगे थे।

इधर प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, चाय बागानों, कोयला खदानों, कपड़ा मिलों, लोहे के कारखानों के मजदूरों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि थी। उसका कारण युद्ध जनक परिस्थितियाँ भी थी। मिल मालिकों ने युद्ध के दौरान असीमित लाभ कमाया, लेकिन मजदूरों के वास्तविक वेतन बढ़ाने के बजाए उनका शोषण अत्यधिक किया। वह मजदूरों के परिश्रम उनके काम के घण्टों की सीमा जैसे प्रश्नों पर बात करने से कतराते रहे। मजदूरों एवं किसानों की दिन-ब-दिन दशा खराब होती गई। फलतः अब लोगों में ब्रिटिश शासन के प्रति नफरत की भावना पनपने लगी।

20 अक्टूबर, 1917 को बोल्शेविक क्रांति ने नये जज्बे को जन्म दिया और अगस्त 1917 ई0 के अंत तक हड़तालों की पहली लहर मुंबई में कपड़ा मिल मजदूरों में दिखाई पड़ी। 1919 ई0 तक भारत के कई नगरों, महानगरों में यह हड़ताल फैलती गई। इसका मुख्य उद्देश्य मंहगाई के कारण वेतन में वृद्धि था। यह हड़ताल संगठित व्यापक और लंबी भी थी। धीरे-धीरे 1920 तक देश के लगभग सभी कंपनियों उद्योगों में श्रम संगठन खड़े हो गए और इन श्रम संगठनों को एकत्रित कर किसी एक बड़े संगठन या केंद्रीय संगठन के अनुषांगिक संगठन इन उद्योगों में खड़े करने थे। इन्हें एक सूत्र में बांधना भी था। इसका यह परिणाम निकला कि, 31 अक्टूबर, 1920 ई0 को एक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए.आई.टी.यू.सी.)का निर्माण कर लिया गया। इसका तत्कालीक उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में प्रतिनिधित्व था।

साधारणतः हमें यह देखना होगा कि 20 अक्टूबर, 1917 की बोल्शेविक क्रांति के ठीक 3 वर्ष 10 दिन बाद यह संगठन अस्तित्व में आया। अब व्यवहारिक रूप में यह संगठन उद्योगपतियों से श्रमिकों की सुरक्षा वाल्व का कार्य करने लगा। धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्य के चाबूक कड़े होते गए और श्रम संगठन भी उनके विपरीत खड़े होने लगे। उधर क्षेत्रीय कृषकों के विद्रोहों में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई। संन्यासी विद्रोह, संधाल विद्रोह, नील विद्रोह, कूका विद्रोह, पावना विद्रोह यह सब तत्कालिक विद्रोह थे। यही कारण है, कि 1920-21 के असहयोग आंदोलन की रीढ़ मुख्यतः किसान बन गए थे। अवध में किसान आंदोलन, पंजाब में अकाली आंदोलन, केरल के मलावार में मोपला विद्रोह और संयुक्त प्रांत में जमींदारों के विरुद्ध, कामगारों का विद्रोह ऐसी स्थितियाँ आ गई थी।

जब गाँधी जी ने 1922 ई0 में असहयोग आंदोलन वापस लिया, तब ब्रिटिश सरकार दमन चक्र का रास्ता अपनाती है। यद्यपि मोतीलाल नेहरू और सी0आर0 दास ने स्वराज पार्टी का गठन कर लिया था। यह कांग्रेस के भीतर ही कांग्रेसियों द्वारा स्थापित एक संगठन था, लेकिन स्वराज पार्टी अपने मूल कार्यों से ज्यादा दिन तक न चल सकी।

1920 ई0 में प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में एक आई.टी.यू.सी. की स्थापना की गई और इसी वर्ष हिन्दुस्तान की कम्यूनिष्ट पार्टी की स्थापना भी हुई। ये अलग बात है कि इसका मुख्यालय बाद में मास्को बनाया गया। भारत में कम्यूनिष्ट पार्टी के प्रचारकों में नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य उर्फ मानवेंद्रनाथ राय प्रमुख थे। जबकि ए.आई.टी.यू.सी. यह कांग्रेस द्वारा स्थापित एक संगठन था। इसमें कांग्रेस के वामपंथी रूझान वाले व्यक्तियों ने सहयोग किया। 1922 से 1926 ई0 तक भारत में नई क्रांतिकारी शक्तियों— संगठित सर्वहारा वर्ग, कम्यूनिष्ट पार्टी, नौजवानों के संगठनों का उदय हो रहा था। इधर उदारवादी स्वराजी नेता ब्रिटिश शासकों के पूर्ण स्वाधीनता के बजाय एक डोमिनियन स्टेट की मांग कर रहे थे। इस समय जो आन्दोलन चल रहे थे, उन आन्दोलनों में कुशल नेतृत्व का अभाव था। यही कारण है कि यह आन्दोलन

मील का पत्थर न बन सके। जबकि ब्रिटिश साम्राज्यवादी और उनके भारतीय शागिर्द यही चाहते थे कि मजदूर आन्दोलन को अपनी मुट्ठी में रखा जाए।

1925 से 1927 ई० के बीच इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी के सदस्य भोसले और उसके पार्टी के भारतीय कमेटी के ग्राहम वाल, लेबर पार्टी के सदस्य थार्नर (थारनर) जॉनस्टन सयीम और रदरफोर्ट, ब्रिटिश पार्लियामेंट के लेबर पार्टी के सदस्य, पैथिक लॉरेंस भारत आते हैं। ब्रिटिश पार्टी के नेता चाहते थे कि भारत की ट्रेड यूनियन सुधारवादी एम्स्टर्डम इंटरनेशनल में एक सुधारवादी अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठनों में सम्मिलित हो जाएं। वे भारत में भी अपनी पार्टी की ही भाँति इंडियन लेबर पार्टी की स्थापना चाहते थे। वे कुछ यूनियनों को एम्स्टर्डम इंटरनेशनल में खींच ले जाने में समर्थ हुए। परन्तु इंडियन लेबर पार्टी बनाने में भी असफल रहे, क्योंकि हिन्दुस्तान का बुर्जुआ वर्ग कभी किसी ऐसी पार्टी की स्थापना नहीं चाहता था जो ब्रिटिश हुकूमत के स्वार्थों की रक्षा करे और भारत का यह बुर्जुआ वर्ग स्वयं मजदूर आंदोलनों को अपने नियंत्रण में लेने का प्रयत्न भी कर रहा था। 1922 ई० में 'गया' में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष चितरंजन दास बने। उन्होंने अध्यक्ष पद पर भाषण देते हुए कहा कि कांग्रेस प्रभाव के अन्दर मजदूरों एवं किसानों के हितों के लिए संगठन बनाने की आवश्यकता है और उन्होंने सलाह दी कि कांग्रेस का नेतृत्व मजदूरों का संगठन करें। आगे चलकर यही संगठन ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध हथियार बनेगा। दूसरी ओर 1927-28 में ए.आई.टी.यू.सी. के सुधारवादी नेता कम्युनिस्टों को मजदूर आंदोलन से बाहर करने की बात करने लगे।

भारत में एक नया वर्ग उत्पन्न हो रहा था, जो भारत के मजदूर संगठनों को वैचारिक और संगठनात्मक आधार पर खड़ा करके ब्रिटिश हुकूमत के साथ जोड़ने का हिमायती था। ब्रिटेन के मजदूर आंदोलन के वामपंथी पक्ष ने जार्ज एलिसन, फिलिप स्प्राइट और वेन ब्रेडले जैसे नेताओं को हिन्दुस्तान के मजदूर आंदोलन को क्रांतिकारी दिशा में संगठित करने में सहायता हेतु भेजा। परन्तु उपर्युक्त दो को मेरठ षडयंत्र केस में गिरफ्तार कर लंबी सजा दी गई। भारतीय क्रांतिकारी युवा मार्क्सवाद के प्रति अपने रुझान को स्पष्ट कर चुके थे। मार्क्सवाद की विचारधारा से प्रभावित होकर वे बोल्शेविक क्रांति के बाद स्थापित सोवियत सरकार से संपर्क स्थापित करने का यत्न अभी कर रहे थे, और उन्होंने इस दिशा में आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों में मदद भी मिल रही थी।

यदि मजदूर आंदोलन का वैश्विक परिदृश्य देखा जाए तो दुनिया के अन्य देशों में भी मजदूर आंदोलन को संगठित किया जा रहा था। फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, रूस अन्यान्य देशों में भी औद्योगिक पूंजीपतियों के खिलाफ हड़तालें आयोजित हो रही थीं। फ्रांस और ब्रिटेन के मजदूर नेता लंदन में एकत्रित होकर 1864 ई० में एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन बनाते हैं। जिसमें समाजवादी विचारकों के एक सम्मेलन में श्रमिक अंतर्राष्ट्रीय संघ (वर्किंग मैनस इंटरनेशनल एसोसिएशन) नाम से स्थापित करते हैं। जिसे सामान्य तौर पर प्रथम इंटरनेशनल के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रथम इंटरनेशनल की शाखाएं यूरोप के विभिन्न देशों में स्थापित होने लगीं। इसका उद्देश्य या मेनिफेस्टो (घोषणापत्र) कार्ल मार्क्स ने तैयार किया था। क्योंकि मार्क्स को अपने इस संगठन को व्यापक रूप देना था, इसलिए उसने उदारता के तत्वों को उदारवादी विचारों को सर्वाधिक महत्व दिया।

1871 ई० में पेरिस कम्यून की एक क्रांति हुई। जिसका समर्थन प्रथम इंटरनेशनल के कुछ नेताओं ने किया। यह अलग बात है कि विद्रोह असफल रहा। परिणामतः ब्रिटिश ट्रेड

यूनियन कांग्रेस ने इसे सहयोग देना बन्द कर दिया था। दूसरी ओर अराजकतावादी माइकल बुकानिन और काल मार्क्स के बीच मतभेद होने लगे और इन मतभेदों के कारण यह प्रथम इंटरनेशनल 1876 में समाप्त हो गया।

एक दशक बाद पुनः वैश्विक परिदृश्य में बदलाव आना शुरू हुआ। औद्योगिक इकाइयों का बड़े पैमाने पर विस्तार होने लगा। परिणामतः मजदूरों की डिमांड भी बढ़ती गई और बड़ी संख्या में औद्योगिक इकाइयों में मजदूरों को भर्ती किया गया, लेकिन शोषण का अंदाज वही था। परिणामतः मजदूरों में असंतोष की भावना पनपने लगी। अब यह एक व्यापक परिदृश्य में आ चुका था। उधर प्रथम इंटरनेशनल के भंग होने के पश्चात बचे हुए बुद्धिजीवी वर्ग फिर किसी नए संगठन की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। इसकी 1889 में समाजवादी इंटरनेशनल के नाम से एक संगठन का रूप दिया गया। यह यूरोप के अनेक देशों में अपना विस्तार करने के लिए औद्योगिक इकाइयों में से छोटे-छोटे संगठनों को अपने से जोड़ना शुरू किया। इसमें समान हित तथा समान रूचि के मामलों पर विचार करने का एक मंच बना दिया गया। इसके सदस्य राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय नीतियों में पूर्णतः स्वाधीन थे। इनका उद्देश्य राष्ट्रों के बीच व्यापक संघर्ष तथा क्रांति द्वारा सत्ता को हस्तगत करना बन चुका था। 1914 ई0 तक यह अपनी इसी उद्देश्य के तहत चल रहा था। आगे चलकर उसके स्वीकृत प्रस्ताव युद्ध रोकने तथा शांति बनाए रखने के संकल्प तक सीमित रहे। प्रथम विश्वयुद्ध जब शुरू हुआ तो यूरोप अधिकांश समाजवादी दलों ने अपनी-अपनी सरकारों का इस युद्ध में साथ दिया। दूसरे शब्दों में द्वितीय इंटरनेशनल प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान पूर्णतया निष्क्रिय रहा, लेकिन युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 1918 में द्वितीय इंटरनेशनल को मजदूर तथा समाजवादी इंटरनेशनल नाम से पुनर्गठित किया गया, लेकिन लेनिन मार्क्सवादी दल इसमें शामिल नहीं हुए और लेनिन के नेतृत्व में तृतीय इंटरनेशनल कायम किया गया।

अस्तु इंटरनेशनल को व्यापक लोकप्रियता मिली इसका कारण था, लेनिन के नेतृत्व में रूस ने 1917 में बोल्शेविक क्रांति और बोल्शेविक (बोल से भी) क्रांति से रूस में जारशाही सत्ता का अंत हुआ और समाजवादियों की सरकार बनी और इसका श्रेय लेनिन को दिया गया।

अब लेनिन (प्रति) इंटरनेशनल में अपनी धाक बना चुका था; क्योंकि लेनिन के द्वारा ही स्थापित यह संगठन था, परिणामतः बड़ी संख्या में लोगों ने दुनिया के अनेक देशों में इसका व्यापक प्रचार-प्रसार किया और उसी के अनुपात में लोग इस इंटरनेशनल से जुड़े। भारत से एम0एन0 रॉय भी इंटरनेशनल में जाते हैं और इसके द्वारा आयोजित सम्मेलन में भाग लेते हैं। इसमें लेनिन की थीसिस थी। मानवेन्द्र नाथ राय ने भी अपनी थीसिस प्रस्तुत की जिसे लेनिन ने संशोधित करके पूरक औपनिवेशिक थीसिस नाम देकर इसे तृतीय कम्यूनिष्ट इंटरनेशनल में पास किया गया।

परिणामतः श्रमजीवी विचारधाराके बुद्धिजीवी वर्ग इसमें बड़ी संख्या में जुटे और इस तृतीय इंटरनेशनल ने पराधीन देशों को निर्देश दिया कि, वे अपने देश के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करें। जिससे वहाँ सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन का पृथक अस्तित्व भी बनाए रखा जाए तथा बुर्जुआ वर्ग की साम्राज्यवादी शासकों के समझौते की नीति के विरुद्ध भी यह संघर्ष करें। इस तरह से पहली बार राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की एक नीति प्रस्तुत की गई।

मानवेन्द्र नाथ राय औपनिवेशिक देशों का पूँजीवपति वर्ग दलित वर्गों के संयुक्त शोषण के लिए साम्राज्यवादियों के साथ साझेदारी में सम्मिलित हो सकता है। ऐसी सोच रखते थे,

इसीलिए उन्होंने लेनिन से एक भिन्न थीसिस प्रस्तुत की थी। जिसमें वह एशिया के राष्ट्रवादी नेताओं के सर्वहारा विरोधी रवैए का भंडाफोड़ करते दिखाई देते हैं। उन्होंने इस बात पर सहमति व्यक्त की, कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था है और इसीलिए औपनिवेशिक देशों का मुक्तिसंग्राम पतनशील पूंजीवाद के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय संघर्ष का ही एक अंग है। राय ने अपनी पुस्तक 'इंडिया इन ट्रांजिशन' (संक्रमण कालीन भारत) में समकालीन भारत का समाजशास्त्री अध्ययन प्रस्तुत किया।

राय द्वारा जो भविष्यवाणियाँ की गई थी, वह कालांतर में सत्य ही हुई, लेकिन राय भारत में संपूर्ण उत्थान के लिए, संपूर्ण विकास के लिए ब्रिटिश सत्ता को अवरोध मानते थे।

1922 ई0 में गया में कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था, जिस पर नवंबर, दिसम्बर में अग्रगामी दल जिससे मानवेन्द्र नाथ राय का संबंध था, 'गया' अधिवेशन से पहले कांग्रेस के पास एक कार्यक्रम भेजा। जिसमें राष्ट्रीय मुक्ति तथा पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में भारत में पूर्ण स्वराज, सार्वभौम महाधिकार तथा संघात्मक गणतंत्र का समर्थन किया गया। इस प्रस्ताव में श्री राय के कुछ मुख्य विचार थे—

1. जमींदारी प्रथा का उन्मूलन
2. भूमिकर को घटाकर न्यूनतम करना
3. कृषि के आधुनिकीकरण के लिए राजकीय सहायता
4. सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण
5. अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन तथा क्रमिक आयकर।
6. राजकीय सहायता से आधुनिक उद्योगों का विकास
7. आठ घंटे का दिन, विधान द्वारा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण
8. श्रमिक संघों का वर्गीकरण
9. बड़े उद्योग में श्रमिक परिषदें
10. सभी बड़े उद्योगों में लाभ में साझेदारी का लागू किया जाना।
11. निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा
12. राज्य तथा धर्म का पृथक्करण
13. अस्थाई सेना का स्थान लेने के लिए एक राष्ट्रीय लोक सेना।²

इस समय भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर महात्मा गाँधी का प्रवेश हो चुका था और गाँधी इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। एम0एन0 राय द्वारा किए गए प्रस्ताव को न केवल गाँधीवादियों ने आलोचना की बल्कि इसकी अनेक कमियाँ बताकर इसे फाँसीवादी विचारधारा करार दिया। यद्यपि मानवेन्द्रनाथ राय ने गाँधी के रचनात्मक योगदान को स्वीकार किया था। जिसमें उन्होंने चार मुख्य तत्वों पर बल दिया था—

1. राजनीतिक लक्ष्यों के लिए सामूहिक कार्रवाई का प्रयोग

2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एकीकरण
3. अहिंसा के नारे के द्वारा सरकारी दमन से राष्ट्रीय शक्तियों को मुक्त करना।
4. असहयोग, करो को न चुकाने तथा सविनय अवज्ञा के तरीकों का प्रयोग।

ये चार विचार ऐसे थे, जिससे गाँधी के कार्यों की प्रशंसा मानवेंद्रनाथ राय करते थे, लेकिन गाँधी की कमियों को उन्होंने प्रस्तुत किया था। यह अलग बात है कि एम0एन0 राय के उक्त सिद्धान्तों को विशेष महत्व नहीं दिया गया।

1926 ई0 में मानवेन्द्रनाथ राय ने 'द फ्यूटर ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स' (भारतीय राजनीति का भविष्य) नामक पुस्तक लिखी। जिसमें उन्होंने एक लोकदल (पीपुल्स पार्टी) का महत्व समझाया। इधर राष्ट्रीय आन्दोलन में धीरे-धीरे गाँधी की पकड़ मजबूत होने लगी और पूरे आन्दोलन की कमान गाँधी के हाथों में आ गई। अब पूरा देश गाँधी के इस करिश्माई व्यक्तित्व का ही इंतजार कर रहा था, कि गाँधी कोई आन्दोलन चलाएँ। अब आन्दोलन चलाने, वापस लेने का सर्वाधिकार गाँधी के पास था। मानवेन्द्रनाथ राय का विश्वास था कि, भारतीय राजनीति में भविष्य में भी बहुत समय तक विद्यार्थी, निम्नबुद्धिजीवी, दस्तकार, छोटा व्यापारी, किसान के साथ जन सामान्य आदि वर्गों के स्वार्थों का आधिपत्य रहेगा। एम0एन0 राय तो स्वराज दल को पूँजीपतियों के हितों का पक्का समर्थक मानते थे, आगे चलकर भारत में भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद राजगुरु, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे नेताओं का भारतीय राजनीति के क्षितिज पर उदय होता है। ये लोग युवा पीढ़ी का नेतृत्व कर रहे थे। लेकिन विचारधारा से ये समाजवादी थे। एम0एन0 राय लगभग 15 वर्षों तक दुनिया के अनेक देशों में समाजवादी विचारधारा का प्रचार-प्रसार और दृष्टिकोण पर अपने विचार रख रहे थे। 1930 ई0 में वे वेश बदलकर भारत आए, लेकिन कानपुर षडयंत्र केस में उन्हें 6 वर्ष के लिए कारागार में डाल दिया गया। इस तरह 15 वर्ष के निर्वासन तथा 6 वर्ष के कारावास के बाद 1936 ई0 में एम0एन0 राय पुनः भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए। सर्वप्रथम कारागार से मुक्त होने के उपरान्त उन्होंने गाँधीवाद को सामाजिक समन्वय और व्यवहारिक आदर्श का प्रतिपादन करने वाला प्रतिक्रियावादी सामाजिक दर्शन बताते हैं और उनकी निंदा भी करते हैं। 1936 ई0 तक एम0एन0 राय ने विभिन्न दृष्टियों से समाजवादी और साम्यवादी जैसे सिद्धान्तों का समर्थन किया। अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद के पक्षधर थे। उन्होंने कही भी किसी तानाशाही या औपनिवेशिक शासन का समर्थन नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि आर्थिक नियतिवाद मानव स्वतंत्रता को ध्वस्त कर देता है क्योंकि, वहाँ व्यक्ति के रूप में मनुष्य के स्वतंत्र होने की संभावना ही नहीं है।

बोलशेविक क्रांति के पश्चात भारतीयों में मार्क्सवाद या साम्यवादी विचारधारा के प्रति आकर्षण बढ़ा। भारतीय युवाओं की टोली जिनमें अवनी मुखर्जी, नलिनी गुप्त मास्को जाकर मार्क्सवाद की दीक्षा ग्रहण करते हैं। लाला हरदयाल और सोहन सिंह ने कैलिफोर्निया में गदर पार्टी की स्थापना की। आगे चलकर संतोष सिंह, रतन सिंह, गुरमुख सिंह गदर पार्टी के लोग थे जो मास्को जाकर चतुर्थ कम्युनिष्ट इंटरनेशनल में भाग लिए।

1921 ई0 में वीरेन चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र दत्त, खनखोजी, नलिन गुप्त मास्को जाकर कम्युनिष्ट इंटरनेशनल में भाग लिए। 1921 ई0 में वीरेन चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र दत्त, खनखोजी, नलिनी गुप्त भी मास्को पहुँचे। मुंबई के श्रीपत अमृत डांगे, रजनी पाम दत्त, भारतीय साम्यवाद के

प्रमुख प्रवक्ता बने। 1924 ई० में सत्य भक्त ने कानपुर में भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना की। इस दल ने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम से अपना संबंध रखा।

कानपुर षड्यंत्र केश में श्रीपत अमृत डांगे, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी पर मुकदमा चलाया गया। राजद्रोह के अपराध में इन्हें दण्ड दिया गया। 1929 ई० में मेरठ षड्यंत्र केस चला। जिसमें श्रीपद अमृत डांगे, एस०वी० घोटे, जोगलेकर, निंबधकर, मिराजकर, शौकत अस्मानी, फिलिप्स स्प्राट, ब्रेडले, मुजफ्फर अहमद सहित दो दर्जन से अधिक व्यक्तियों को लंबे कारावास का दंड मिला। 1 सितम्बर 1928 ई० को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सम्मेलनों में कुछ प्रस्ताव पारित किए गए। जिसमें कुछ बातें महत्वपूर्ण थी, जो बड़ी संख्यामें लोगों को आकर्षित करती हैं। 1934 ई० में भारतीय साम्यवादी दल पर प्रतिबंध लगा दिया गया, लेकिन अब मार्क्सवाद का ही दूसरा संस्करण समाजवाद भारत के प्रांतीय स्तर पर विद्यमान होने लगा। इस दशक में जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, आचार्य नरेंद्रदेव जैसे विद्वान आते हैं। इन लोगों ने मार्क्सवाद के कट्टर सिद्धांतों का समर्थन नहीं किया, अपितु व्यवहारिक मार्क्सवाद की चर्चा की। जिसने भारत की मुक्ति राष्ट्रीय आंदोलन इनके लिए मुख्य विषय रहा।

धार्मिक कारण :

अंग्रेजों के उपनिवेश बनने के पश्चात शिक्षा का प्रचार-प्रसार भारत में शुरू हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार ने ऐसा नया बुद्धिजीवी वर्ग उत्पन्न कर दिया था, जिसने देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में नई हलचल पैदा कर दी। कुछ तो ऐसे थे जो ईसाईयत को अंगीकार करके संतोष प्रकट किए तो कुछ बुद्धिवाद और प्राकृतिक धर्म के सामान्य जीवन दर्शन के अनुयायी बन गए। ऐसे बुद्धिवादियों में राजाराम मोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद सरस्वती, भगवानदास जैसे मानवतावादी, बुद्धिवादी दार्शनिक थे। राजाराम मोहन राय तो आधुनिक भारत के निर्माता कहे गए। उनका ब्रह्म समाज भारतीय पुनर्जागरण में पहला दार्शनिक सिद्धान्त था। इन्होंने न केवल बौद्धिक और दार्शनिक ढंग से भारतीय समाज को देखा। वरन भारतीय समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, रूढ़ियों, परंपराओं को भी तोड़ने का प्रयास किया। राजाराम मोहन राय ईश्वर की एकता, उनके दर्शन का केंद्रीय सिद्धान्त एकेश्वरवाद प्रस्तुत करते हैं। ईसाई धर्म ग्रंथ न्यू टेस्टामेंट की सरल तथा उदात्त नैतिक शिक्षा से उन्हें गहरी प्रेरणा मिली, लेकिन वेद उपनिषद् और भारतीय धर्म ग्रंथों ने उन्हें नई जीवन शक्ति प्रदान की। राजाराम मोहनराय का व्यवहारिक रूप यह था कि उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना करके भारतीयों में जो रूढ़ि परम्परा अंधविश्वास, संकीर्णता छुआछूत आदि जैसे दृष्टिकोण थे। उन्हें दूर करने का प्रयास किया। सदियों से चली आ रही सती प्रथा जैसे अमानवीय प्रथा को बंद कराया। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों को उत्तराधिकार देने का पक्ष लिया। स्त्रियों के साथ जो अन्याय होता था, उस अन्याय को भी दूर करने का प्रयास किया। कहीं-न-कहीं राजा राममोहन राय के विचार से एक बड़ी संख्यामें उपेक्षित वर्ग भी प्रभावित हुआ और इनका ब्रह्म समाज आम लोगों में लोकप्रिय हो सका। केशवचंद्र सेन ने ब्रह्म समाज में प्रवेश किया, और उन्होंने ब्रह्म समाज को व्यापक रूप प्रदान किया। उसकी पूरे देश में शाखाएं खुली। केशवचंद्र सेन ने हिन्दू समाज की अवनति अधःपतन और अव्यवस्था को देखकर दुःख व्यक्त किया। उनका मानना था कि समाज की इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व उस पुरोहित वर्ग की कुटिल चालों पर था जो जनता को अज्ञान तथा अंधविश्वास में डाले रहने के लिए अतीत से ही प्रयत्न करती आई है। जिसमें असंख्य देवी

देवताओं से संपर्क में होने का दावा करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया। केशवचंद सेन ने जातिप्रथा की भर्त्सना की और स्त्रियों की उच्च शिक्षा का समर्थन किया।

यूरोप में पुनर्जागरण के पश्चात जो ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हुआ। उसमें नए-नए यंत्रों का आविष्कार किया, श्रम सस्ता हुआ। उत्पादन अधिशेष हुआ। परिणामतः बाजारों की खोज के लिए नए-नए उपनिवेशों की खोज होने लगी। उपनिवेशों में व्यापारी के साथ पदारी एवं धर्म प्रचारक भीजाते थे और भारत भी इसका अपवाद नहीं। इनके आने से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार भारत में हुआ। जिससे पाश्चात्य ज्ञान एवं विचार भारतीयों तक पहुँचने लगे। उनमें भी जागरण की चिंतनधारा बहने लगी। ईसाई मिशनरियों ने भारतीयों को ईसाई बनाना शुरू किया। वे शहरों में मध्यवर्गीय और दूरदराज के गाँवों में, कछारी क्षेत्रों में, पहाड़ी अंचलों, पठों में दलित या निम्न जातियों को बड़ी संख्या में ईसाई बनाना शुरू किया। उसका कारण था कि भारतीय धर्म साधना जात-पात, निरर्थक आडंबर के कारण निष्क्रिय और शक्तिहीन हो चुकी थी। हिन्दू समाज का निचला तबका सामाजिक सम्मान और आर्थिक सुविधाओं के लिए ईसाई धर्म को तीव्र गति से स्वीकार करने लगा। अब हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सुधार आवश्यक प्रतीत होने लगे थे। इन सुधारकों ने ईसाई मिशनरियों की धर्म प्रचार प्रणाली के ढंग पर अपने सुधार कार्यक्रमों को शुरू किया। इसके लिए उन्हें संगठन की आवश्यकता महसूस हुई और फिर संगठन बनाकर, भारत में जो भारतीय धर्म साधना सुषुप्त और निष्क्रिय हो चुकी थी। उसमें चेतना, ऊर्जा आदि भरने का कार्य किया।

यह धर्म, सुधार सबसे पहले भारत के पूर्वी भाग बंगाल से शुरू हुआ। इसके पश्चात पश्चिम भारत में मुंबई से शुरू होता है। पूर्वी भारत में ब्रह्म समाज, तो पश्चिमोत्तर भारत में प्रार्थना समाज और पश्चिमोत्तर क्षेत्र में आर्य समाज बड़ी संख्या में लोगों को अपने धर्म साधना से लोगों को जोड़ता है। अज्ञान, आडंबर, रूढ़िवादिता आदि को त्यागकर ज्ञान-विज्ञान की ओर लोगों को ले जाना इनका मुख्य उद्देश्य बन गया। इन धर्म साधकों में भारतीय धर्म साधना के पितामह राजाराम मोहन राय का प्रथम स्थान है। केशवचंद सेन ने मोहनराय के ब्रह्मसमाज को सर्वाधिक प्रसारित किया। इसी तरह दयानंद सरस्वती ने अंत्यजों को मुख्यधारा से जोड़ा जिसके कारण भारत के मार्टिन लूथर किंग स्वामी दयानंद सरस्वती बने।

उन्नीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक में पूर्वी भारत खासतौर पर बंगाल में बुद्धिजीवियों के अधीन एक उग्रवादी प्रवृत्ति का जन्म होता है। जिसे रेडिकल या यंग बंगाल आन्दोलन नाम दिया गया। इसके प्रेरणा-स्रोत अंग्लो इंडियन हेनरी विवियन डेरीजिओ थे। यह 1826 से 31 तक कोलकाता के हिंदू कॉलेज में प्राध्यापक थे। फ्रांस की महान क्रांति से अतिशय प्रभावित थे और राजाराम मोहन राय के विचारों से भी प्रेरणा मिली थी। यह अपने समय में शायद सबसे अतिवादी विचार रखते थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को "विवेकपूर्ण और मुक्त ढंग से सोचने, सभी आधारों की प्रामाणिकता की जांच करने मुक्ति समानता और स्वतंत्रता से प्रेम करने तथा सत्य की पूजा करने के लिए प्रेरित किया।"³ उनके अनुयायियों ने सभी प्राचीन जर्जर परंपराओं और रीति-रिवाजों का विरोध किया। वाद-विवाद लेखन और बौद्धिक समुदायों का संगठनों के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे।

भारतीय धर्म साधना को वैश्विक स्तर पर ले जाने का मुख्य कार्य स्वामी विवेकानंद ने किया। वे रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। रामकृष्ण कोलकाता के दक्षिणेश्वर के मंदिर के पुजारी थे। जो परंपरागत तरीके से संन्यास, ध्यान और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में आस्था रखते

थे। विवेकानंद ने आध्यात्मिक जिज्ञासा हेतु रामकृष्ण की शिष्यता ग्रहण की। विवेकानंद मनुष्य की सेवा को ईश्वर की सेवा मानते थे। 1893 ई० में शिकागो में आयोजित प्रथम धर्म संसद को संबोधित कर भारतीय धर्म साधना को वैश्विक स्तर पर प्रचारित प्रसारित किया। विवेकानंद ने 1897 ई० में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसके सिद्धान्त का आधार वेदान्त दर्शन है। जिसमें ईश्वर निराकार मानव बुद्धि से परे और सर्वव्यापी है। मिशन मनुष्य (विशेषकर गरीब, अपंग और कमजोर) की सेवा को ईश्वर की सेवा मानता है। विवेकानंद अपने गुरु की तरह ही महान मानवतावादी थे। जो भारत के पिछड़ेपन, पतन एवं उसकी गरीबी से अत्यंत दुःखी थे। उन्होंने स्वयं लिखा— “एक मात्र भगवान जिसमें मैं विश्वास करता हूँ, वह सभी आत्माओं का कुल योग और सबसे पहले मेरे भगवान सभी जातियों के कुष्ठ पीड़ित द्रविद्र है।” आगे भारतीयों को संबोधित करते हुए लिखते हैं— “जब तक करोड़ों लोग भूख और अज्ञान से पीड़ित हैं, तब तक मैं इस हर व्यक्ति को देश विद्रोही समझूँगा जो उनके खर्च से शिक्षित बनकर उनके प्रति उनके प्रति तनिक भी ध्यान नहीं देता।”⁴

19वीं सदी में मुस्लिम समाज में धर्म सुधार के लिए एक आन्दोलन चला। जिसे अहमदिया आन्दोलन कहा गया। इसका नेतृत्व मिर्जा गुलाम अहमद ने किया। इन्होंने स्वयं को हजरत मोहम्मद की बराबरी में इस्लाम का मसीहा माना। आगे चलकर अलीगढ़ आंदोलन और सैय्यद अहमद खान आते हैं, जिन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और सभी धर्मों की अंतर्निहित एकता में विश्वास किया। वे सांप्रदायिक टकराव के विरोधी थे। सैय्यद अहमद के कार्यक्रम का मुख्य केन्द्र अलीगढ़ था। इसीलिए आन्दोलन को प्रायः अलीगढ़ आन्दोलन भी कहा जाता है। इस आन्दोलन में चिराग अली उर्दू कवि अल्ताफ हुसैन हाली, नजीर अहमद और मौलवी शिवली नोमानी प्रमुख थे। पारसी समाज में भी धर्म सुधार आन्दोलन शुरू होता है। 1851 ई० में नौरोजी फरदोन जी, दादा भाई नौरोजी, एस०एस० बंगाली आदि के सहयोग से रहनुमाई, मजदायसन समाज की स्थापना होती है। इसमें महिलाओं की शिक्षा, विवाह एवं समाज में उनकी सामान्य स्थिति सुधारने के प्रयत्न किए। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में सिखों में अकाली आन्दोलन शुरू हुआ। इसका केन्द्र पंजाब था। 1920 ई० में यह आंदोलन शुरू होता है। इसका उद्देश्य गुरुद्वारों का प्रबंध सुधारना था।

इस प्रकार से देखा जा सकता है कि धर्म सुधार के बहाने ही सही लोगों में एक वैचारिक प्रवृत्ति का जन्म शुरू होता है। जहाँ एक ही विचारधारा के अधीन सभी को लाने का प्रयास किया जाता है। वर्ग प्रधान दृष्टि भी लोगों में आती है। वर्गीय चेतना का विकास तीव्र गति से होने लगा और इन सबने यह महसूस किया कि धर्म व्यक्ति के विकास में अवरोध है। इसीलिए प्रगतिवादियों ने धर्म को महत्व नहीं दिया, बल्कि, मार्क्स के उस सिद्धान्त को ज्यादा तरजीह दी, जिसमें धर्म को एक अफीम की संज्ञा दी गई थी।

सामाजिक कारण :

भारत में कई प्रथाएं ऐसी थी जो अंध विश्वास और अज्ञानता के कारण अमानवीय, क्रूर बन चुकी थी। जिसमें सती प्रथा, बाल विवाह, भ्रूण हत्या, जातीय भेदभाव प्रमुख था। इसने न केवल भारतीय समाज में वैमनस्यता को जन्म दिया अपितु निरन्तर समाज के लोग आपस में संघर्षरत रहे। स्त्रियों को, दलितों को सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया गया। समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा को सुधारने का पहला कार्य। जिनमें सती प्रथा का उन्मूलन कराया गया। दूसरा बाल विवाह पर रोक लगाई गई। बालिका वधू की कुप्रथा जो बंगालियों और राजपूतों में प्रचलित

थी, जिसमें लड़कियों को आर्थिक भार मानकर बचपन में ही उनकी हत्या कर दी जाती है। उस पर भी रोक लगाने का प्रयास किया गया। विधवा पुनर्विवाह के लिए ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने सराहनीय कार्य किया। वह अनेक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जो वेद विधवा विवाह की अनुमति देते हैं। विधवा विवाह के समर्थन में उन्होंने लगभग एक सहस्र हस्ताक्षरों से अनुमोदित प्रार्थना पत्र भारत सरकार को भेजा। परिणाम यह हुआ कि 1856 के हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम द्वारा विधवा विवाह को वैध मान लिया गया और ऐसे विवाह से उत्पन्न बच्चे भी वैध घोषित किए गए। आगे चलकर महाराष्ट्र में डी०के० कर्वे और पंडिता रमाबाई ने महिला विश्वविद्यालयों की स्थापना कर स्त्री शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। नारी उद्धार के लिए मुख्य रूप से पुरुषों ने प्रयत्न शुरू किया। 1920 ई० के बाद खुद स्त्रियों ने अपने उद्धार की जिम्मेदारी संभाली। उन्होंने कई संगठनों एवं संस्थाओं की शुरुआत की। 1927 ई० में अखिल भारतीय महिला सभा की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना थी, जो देश में नारी आन्दोलन के उद्भव और विकास में मील का पत्थर बना। जाति प्रथा और अछूतों के लिए समाज में जो विरोधाभासी बातें थीं। छुआछूत जो व्यापक पैमाने पर था, उसे भी दूर करने का प्रयास किया गया। छुआछूत समाप्त करने और दलित वर्ग के उद्धार के लिए गाँधी ने सबसे ज्यादा प्रयत्न किया। उन्होंने अछूतों को हरिजन अर्थात् ईश्वर का आदमी कहा और इसके लिए हरिजन सेवक संघ की स्थापना की और हरिजन नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला। आगे चलकर अंबेडकर ने ऑल इंडिया डिप्रेस्ड क्लास (अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ) की स्थापना की। 1920 ई० के बाद दक्षिण में गैर ब्राह्मण जातियों ने एक सेल्फ रिस्पेक्ट मूवमेंट (आत्म सम्मान आंदोलन) चलाया।

जाति प्रथा भारतीय समाज का सबसे बड़ा रोग था। समाज में दो वर्ग थे। एक उच्च और दूसरा निम्न। उच्च जातियों में धार्मिक कट्टरता, रूढ़िवादिता, अंधविश्वास व्याप्त था। समाज सुधारकों ने अनेक प्रयत्न किया, लेकिन उसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। जातीय कट्टरता एवं अस्पृश्यता का अंत आसान नहीं था। अछूतों, अल्पसंख्यकों और पिछड़ी जातियों की भलाई के लिए भले ही धर्म सुधारकों ने व्यापक रूप से प्रयत्न किया लेकिन वह दाल में नमक के बराबर ही था। ऐसा नहीं था कि ब्रिटिश गवर्नमेंट सुधारों का समर्थन नहीं करना चाहती थी। उसे भी सुधारों की आवश्यकता महसूस हो रही थी, लेकिन सुधारों से ज्यादा उसके अन्दर भय था कि कहीं सुधार के प्रयास में हमारी सत्ता न उखड़ जाए, क्योंकि सामाजिक उत्थान का संबंध राजनीतिक और आर्थिक उत्थान से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ था। उन्हें ज्ञात था कि भारतीयों का आर्थिक और राजनीतिक उत्थान अंग्रेजी साम्राज्य के स्वामित्व के लिए खतरनाक था।

आधुनिकता के मुख्य आधार मानव विवेक, ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद केवल पुस्तकों तक ही सीमित रह पाया। पुस्तकों से बाहर निकल नहीं पाया। संपूर्ण समाज के स्तरों पर जो भी सुधार किए गए उसमें आमूल-चूल परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। कभी-कभी तो समाज सुधारकों के विचार भी विरोधाभासी दिखते हैं। केशवचन्द्र सेन बाल विवाह के विरोधी थे, लेकिन स्वयं अपनी 13 वर्ष की पुत्री का विवाह कूचबिहार के राजा के साथ वैदिक कर्मकांड से करते हैं।

सैय्यद अहमद खां पश्चिम के आधुनिक विचारों से प्रभावित थे, लेकिन पर्दा प्रथा जैसे मुद्दों पर उनके दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं थे। इस तरह से देखा जाए तो जो भी सुधार आन्दोलन चले वह संकीर्णता, धर्म, सापेक्ष दृष्टिकोण, सैद्धान्तिक अंतर्विरोध, ऐतिहासिक संदर्भ में सामाजिक पृष्ठभूमि की यथोचित समझ के अभाव के फलस्वरूप अपने उद्देश्यों में अपेक्षित रूप से सफल

नहीं हो पाए। साम्राज्यवादी शोषण और औपनिवेशिक ढांचे के अंदर इस आंदोलन को बहुत ज्यादा सफलता नहीं मिल पाई। गुलामी की जंजीर में बंधे रहकर सामाजिक या मानसिक स्वतंत्रता और मुक्ति का सारा नारा निरर्थक था। यही सब कारण था कि समाज में ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी, जो लोगों को सुरक्षा वाल्व की तरह सफलता दिलाए। और जब बोल्शेविक क्रांति हुई तो यहाँ के निम्न वर्ग और अशिक्षित वर्गों में यह भावना बलवती होने लगी कि, अब किसानों और मजदूरों का राज भी स्थापित हो सकता है और यहीं से उस विचारधारा के प्रति लोगों में आकर्षण आना शुरू हुआ।

आर्थिक व सांस्कृतिक कारण :

ब्रिटिश शासन 1857 ई० की क्रांति से भारत में शुरू होता है और ब्रिटिश शासन ने अपना विस्तार करने के लिए जनसाधारण को शासन सत्ता से जोड़ना मुख्य उद्देश्य बनाया। भारत में शिक्षित या प्रबुद्ध वर्ग बहुत कम थे। ब्रिटिश हुकूमत ने भारत पर पाश्चात्य संस्कृति को थोपने का प्रयास शुरू किया जिसमें वाह्य उद्देश्य भारतीयों को आधुनिक शिक्षा से परिचित कराना था और आन्तरिक उद्देश्य ब्रिटिश हुकूमत के लिए कार्य कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना था। 1971 ई० में ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की कुल आबादी में 94 प्रतिशत लोग निरक्षर थे। 1971 ई० में 92 प्रतिशत लोग निरक्षर थे। इस तरह बीस वर्षों में केवल 2 प्रति भारतीय आबादी साक्षर हो पायी थी। 1930 ई० तक भारत की जनसंख्या के केवल 2 प्रतिशत लोग अंग्रेजी बोल व समझ सकते थे। इधर-सुधर आन्दोलनों के पश्चात् जो लोग शिक्षित या साक्षर हुए उनका उद्देश्य भारत को पराधीनता से मुक्ति दिलाना था उन्हीं में कुछ वामपंथी विचारधारा के थे जो राजतंत्र जमींदारी व्यवस्था भूस्वामी और औद्योगिक व्यवस्था के एकाधीकार को तोड़ना चाहते थे। इन लोगों ने देखा कि राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल लोग देश की आजादी के साथ उद्योगपतियों की हितों की रक्षा और देशी उद्योगों की सुरक्षा चाहते थे। जबकि इन युवकों में किसानों मजदूरों की हितों की सुरक्षा प्रमुख था। ये भूमिका कम कराना चाहते थे और मजदूरों की सुरक्षा व्यवस्था उनके हितों की रक्षा और अधिक मजदूरी दिलाना चाहते थे। इस समय साहित्य में यशपाल, रांगेय राघव, भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त, प्रेमचंद आदि का मजदूरों किसानों के प्रति प्रेम जगजाहिर है।

1921 से 1931 ई० तक के दशक में क्रांतिकारियों के चेतना में जो मार्क्स और लेनिन का प्रभाव बढ़ा उसका श्रेय पंजाब के क्रांतिकारियों को था। जो गदर पार्टी से जुड़े थे। कई और गुरुमुखी लिपियों में कीर्ति (मजदूर) पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। ये तरुण युवक पंजाब के मजदूरों, किसानों, नवयुवक को कामरेड, साथी, बंधू आदि नाम से संबोधित करते थे। भगत सिंह, सुखदेव, आजाद, भगवतीरण बोहरा इनके पथ प्रदर्शक थे। शिव वर्मा, भगवानदास माहौर, सदाशिवराम, मर्धा कुरकर, जयदेव कपूर, विजय कुमार सिंह, बटुकेश्वर, धनवंतरी, कमलनाथ तिवारी, योगेन्द्र शुक्ल ऐसे क्रांतिकारी थे जो अपने साहित्य से पत्र-पत्रिकाओं से युवा पीढ़ी को प्रेरित करते थे। दलितों, हरिजनों, आदिवासियों, श्रमिकों आदि के बीच जाकर हमदर्दी दिखाते थे। वे सेठ साहूकार, जमींदार, हाकिम के खिलाफ उन्हें भड़काते थे। यशपाल ने 'विप्लव' पत्रिका, शिव वर्मा ने 'नया पथ' मासिक पत्रिका में अपने साथियों के ऊपर किए जा रहे अत्याचारों का वर्णन भी करते थे। निर्धनों, पीड़ित, शोषितों का शोषण निरन्तर बढ़ता जा रहा था, शोषितों का शोषण निरन्तर बढ़ता जा रहा था। पूँजीवादी व्यवस्था और उनकी नीतियों से न केवल आर्थिक शोषण हो रहा था अपितु मनुष्य-मनुष्य के बीच सामाजिक संबंधों में गहरी खाई पैदा हो गयी

थी। जो परस्पर सहयोग की भावना को लगभग खत्म कर रही थी। अब व्यक्ति और समाज दोनों के लिए एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता होने लगी जो दोनों की हितों की सुरक्षा कर सके। बिना प्रगति के व्यक्ति न तो अपना न समाज को खुशनुमा माहौल में बदल सकता है। इन दिनों साहित्य में छायावादी आन्दोलन चल रहा था, जहाँ व्यक्ति स्वतंत्रता स्वच्छंदता को प्रधान महत्व मिला। 1934 ई० के जागरण के अंत में प्रेमचंद ने इस व्यवस्था के विरोधियों पर एक लेख लिखा— “साम्यवाद का विरोध वही तो करता है, जो दूसरे से ज्यादा सुख भोगना चाहता है, जो दूसरों को अपने अधीन रखना चाहता है, जो अपने को भी दूसरों के बराबर समझता है। जो अपने में कोई सुखाब का पर लगा हुआ नहीं देखता, जो समदर्शी है, उसे साम्यवाद से विरोध क्यों होने लगे।”⁵

उस समय देश में जनभावना तीव्र एवं प्रखर हो चुके थे कि लोग समझौतावादी दल (कांग्रेस) से इतर अन्य दल (समाजवाद) की मांग करने लगे। वैश्विक परिदृश्य में 1935 ई० में फ्रांस की राजधानी पेरिस में ई०एम० फास्टर (यूरोपीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम सभापति) ने जनमानस की आकांक्षाओं को अमलीय जामा पहनाने के लिए क्रांतिकारी विचारों का आह्वान करने हेतु एक सम्मेलन कराया। उनके द्वारा दिए गए विचारों जिसमें रोम्या रोला, आंद्रे मोलरो, टॉमस वान, वाल्डे फ्रैंक, मैक्सिमगोर्की और हेनरी बारबुज से प्रेरित होकर ब्रिटेन में अध्ययनरत भारतीय युवक डॉ० मुल्कराज आनंद, सज्जाद जहीर, मुहम्मद अहरत, प्रमोदसेन गुप्त, हीरेन मुखर्जी, ज्योति घोष, मुहम्मद जफ्फार, इकबाल सिंह, राजाराव, भवानी भट्टाचार्य ने जुलाई 1935 ई० में इंग्लैण्ड में एक चाइनीज रेस्टोरेंट में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की रूपरेखा प्रस्तावित की गयी और इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि डॉ० मुल्कराज आनंद इसके अध्यक्ष होंगे और सज्जाद जहीर महासचिव होंगे। इसके घोषणा पत्र में कहा गया—

“पुरानी संस्कृति टूट जाने के साथ हमारे साहित्य में हर रोज के जीवन की वास्तविकता से हट जाने की एक आत्मघाती इच्छा ने जन्म लिया है। हमारा नया साहित्य वास्तविक और प्राकृतिक को छोड़कर अवास्तव और आध्यात्मिक की ओर जा रहा है। जमीन का आश्रय छोड़ कल्पना का आश्रय खोज रहे हैं। इस कारण उसकी रचना—शैली अंधे नियम के भयानक जाल में फँस गई है। उसकी भावधारा शून्य और विकारग्रस्त हो रही है। हमारा समाज जो नया रूप धारण कर रहा है, उसको साहित्य में प्रतिबिंबित करना और प्रगतिशील चिंताधारा को वेगवती करना यही हमारे लेखकों का कर्तव्य है। हम लोग जन—साधारण के जीवन से हर प्रकार की कला का विलाप चाहते हैं। हम चाहते हैं कि साहित्य हर रोज के जीवन के चित्रों को अंकित करें और भविष्य की परिकल्पना हम जो कर रहे हैं, उसको पूरा करने में सहायता प्रदान करें। जो कुछ हमारे विचार और बुद्धि को साफ करेगा, समाज की व्यवस्था और रीतियों की मुक्ति के साथ परीक्षा करके, उस समाज को कर्मशील और नियमशील समाज में बदलने में हमारी सहायता करेगा, उसको हम प्रगतिशील कह कर ग्रहण करें।”⁶

उपर्युक्त घोषणा पत्र से यह स्पष्ट हुआ कि हमें अनुभव और अभिव्यक्ति के यथार्थ चित्रण करने होंगे। समाज और साहित्य के बीच संबंधोंकी पड़ताल करनी होगी। कल्पना के बजाय वर्गगत चेतना प्रधान दृष्टि को महत्व दिया जायेगा। अब आदर्शवादी परम्परागत भाववादी साहित्य से अलग साहित्य निर्माण किया जाएगा जो मेहनतकस किसान मजदूर का समर्थन कर सके। यदि इसके पूर्व साहित्य पर नजर दौड़ाये तो 1907 में प्रेमचंद का उर्दू में प्रकाशित कहानी संग्रह सोजेवतन आया। उनकी पहली कहानी ‘दुनिया का सबसे अनमोल रतन’ (1907 ई०) राष्ट्रीय

भावानाओं से ओत-प्रोत रही, इस संग्रह में केवल देश प्रेम ही मूल स्वर नहीं था, बल्कि जीवन सच्चाईयों को सामाजिक जीवन से जोड़कर शोषण के विरुद्ध जनचेतना का आह्वान भी था। आगे चलकरपूष की रात में विपन्न किसान को मजदूर बनने की मजबूरी का चित्रण किया है। यह हल्कू है जिसकी कठोर विपन्नता उसे किसान होने को चिढ़ाती है। 'सवासेर गेहूँ', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुंआ', 'कफन' जैसी कहानियाँ दलित गरीबों की विपन्नताओं का हाहाकार हमारे दिलों को झकझोरती है। जैनेन्द्र की कहानी 'देवी सिंह', 'हजामत का साबुन' वर्ग संघर्ष का मार्मिक अभिव्यक्ति करती है।

तात्पर्य यह है कि इन कहानियों से प्रगतिशील लेखक संघ की भारतीय जनता की तस्वीर मिलती है। 1935 ई0 में उर्दू में अख्तर हुसैन रायपुरी का लिखा 'अदब और जिंदगी' प्रकाशित हुआ। नवम्बर 1932 ई0 में सज्जाद जहीर के संपादन में 'अंगारे' (कहानी संग्रह) प्रकाशित हुआ। जिस पर 1935 ई0 में प्रतिबंध लगा दिया गया। 10 अप्रैल 1936 ई0 भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन लखनऊ में हुआ जिसके अध्यक्ष मुंशी प्रेमचंद बनें। इसकी स्थापना के उद्देश्य में स्पष्ट कहा गया था कि— "इस संस्था का उद्देश्य भारत के विभिन्न भाषा-भाषी लेखकों को संगठित कर ऐसे प्रगतिशील साहित्य की रचना करना है, जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो और जिसके माध्यम से देश के सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर हम भारतीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक उत्थान की दिशा में प्रवृत्त हो सके।"⁷

उसी समय लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन भी चल रहा था और उसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। प्रलेस के प्रथम अधिवेशन में विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्र के करीब 250 लेखक, साहित्यकार उपस्थित थे। इस सम्मेलन को सफल बनाने के लिए पहले से ही अनेक विद्वानों से सहमत ली गयी। जिसमें डॉ0 मोहम्मद अशरफ (अलीगढ़), डॉ0 यूसुफ हुसैन खान (हैदराबाद), पृथ्वी सिंह (मुंबई), डॉ0 रसीदजहाँ (अमृतसर), फ़ैज अहमद फ़ैज, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, नानावदेरकर, वाल्लतोल, फिराक गोरखपुरी, जैनेन्द्र कुमार, मौलवी अब्दल हक, जोश मलीहाबाद, मुंशी दयानारायण निगम से संपर्क किया गया और यह सारा खतोकिताबत सज्जाद जहीर ने किया। फिलहाल 10 अप्रैल, 1936 ई0 के इस अधिवेशन में लगभग 250 लोग उपस्थित थे जिनमें— राहुल सांकृत्यायन, पंत, यशपाल, केदारनाथ अग्रवाल, भीष्म साहनी, उपेन्द्रनाथ अशक, रामवृक्ष बेनीपुरी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, शमशेर, दिनकर, रामप्रसाद, शिवदान सिंह चौहान, ख्वाजा अहमद अब्बास, हसरत नोहानी, शाहिद, रामविलास शर्मा, बलराज साहनी, मजरूह सुल्तानपुरी,सरदार जाफरी, कैफी आजमी, विजन भट्टाचार्य, सुदर्शन, गोपाल सिंह नेपाली, वामिक जौनपुरी, मखदूम, देवेन्द्र सत्यार्थी, किसन चंदर, इस्मत चुगताई, कुर्कुलएन हैदर, राजेन्द्र सिंह वेदी इत्यादि थे। इस अधिवेशन में आम सहमति से चार प्रस्ताव स्वीकृत किए गए—

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता
2. युद्ध
3. छात्रों के अधिकार
4. शांति सम्मेलन की आवश्यकता

प्रेमचंद ने सभापति पद से भाषण देते हुए लिखा— "हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसायने जानब की दास्तान थी, कहीं बोमस्ताने ख्याल की

और कहीं चंद्रकांता—संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस—प्रेम की तृप्ति साहित्य का जीवन से कोई लगाव नहीं होता है। कहानी—कहानी है, जीवन—जीवन दोनों परस्पर विरोधी समझी जाती थी। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौंदर्य आँखों को।⁸

प्रेमचंद ने ऐसे आकर्षण और शुष्क साहित्य की भर्त्सना की ओर लिखा कि— “हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों पर नैराश्य छा जाए।हमें उस कला की आवश्यकता है, जिनसे कर्म का संदेश हो।अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है। ऐसे कला की आवश्यकता हमारे लिये न व्यक्तिगत रूप में उपयोगी है न समुदाय रूप में।”⁹

प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता के आशुतोष हाल में रवीन्द्रनाथ टैगोर की अध्यक्षता में 1938 ई० में हुआ। इसका तीसरा अधिवेशन 1942 ई० में दिल्ली में हुआ और चौथा अधिवेशन श्रीपाद अमृत डांगे की अध्यक्षता में 1943 ई० में बंबई में हुआ। इस सम्मेलन में जोश मलीहाबादी, मामा वरेरकर, नरेन्द्र शर्मा जैसे बुद्धिजीवियों ने भाग लिया। पाँचवा सम्मेलन सुबुर्ब (बंबई) में 1950 ई० को रामविलास शर्मा की अध्यक्षता में हुआ। इसका छठा अधिवेशन 1953 ई० में दिल्ली में हुआ।

इस प्रकार से देखा जाए तो प्रगतिशील लेखक संघ अतिशोषणवाद अति बौद्धिकता, मिर्मम अत्याचार के कारण समाज में एक विचारधारा के रूप में स्थापित हुआ। भारत में ब्रिटिश हुकुमत और यूरोप में पूँजीवादी साम्राज्यवाद ने सर्वहारा के निरन्तर शोषण की जो अवधारणा विकसित की थी उसको लेकर दुनिया के अनेक देशों में असंतोष की भावना बलवती हो रही थी। वही भावना यहाँ बीसवीं सदी के दूसरे दशक में बलवती होने लगी। दूसरे—तीसरे दशक के युवाओं ने अमली जामा पहनाने के लिए साहित्य से सम्पर्क किया। क्रांतिकारी युवा जेल गये, लेकिन साहित्यकारों ने उसे वास्तविक रूप देकर प्रगतिशील लेखक संघ का स्वरूप निर्मित कर दिया।

संदर्भ :

1. आधुनिक भारत का इतिहास, रामलखन शुक्ल, पृ० 730, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण—1998
2. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, डॉ० विश्वनाथ वर्मा, पृ० 498—99
3. आधुनिक भारत का इतिहास, रामलखन शुक्ल, पृ० 349
4. वही, पृ० 357
5. प्रगतिवादी कथा लेखन और मार्कण्डेय, डॉ० जयपाल, पृ० 35, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण—2017
6. वही, पृ० 35—36
7. वही, पृ० 37
8. वही, पृ० 36
9. वही, पृ० 36

A NEW DIMENSION IN AGRICULTURE IN BIHAR IN GLOBALIZED ENVIRONMENT

AJAY KUMAR

Ph.D. Economics, BRA Bihar University, Muzaffarpur

With the advent of WTO and India being a member and signatory of GATT, the scenario of the agricultural sector will not be the same as that of past. With the liberalization of trade and providing the market access of agricultural produce between the different countries, the country will be required to promote much diversified agriculture. For crops on which we have substantial area and production, specially food grains, the import market has to be insulated through increased productivity which gives us a kind of comparative advantage and also a level playing field so that large scale importation is contained and farmers interests are protected. The crops which are traditionally exported like basmati rice and spices and condiments also need to be supported in terms of area expansion and quality improvement to look towards much more opportunity for export. Crop diversification in the areas of certain tropical fruits and also a few vegetables also need support for both production and post-harvest handling in terms of their export opportunity. Accelerated growth in fruits and vegetables production is also required for improved nutrition of the country's population. In future, with improved living standards along with increased purchasing power, more and more people will look for nutritional and quality foods which will also for grater crop diversification. There are some production areas such as food crops, plantation crops, poultry, dairy, sugar, cotton and oilseeds in which India has made its mark. There are some in which its emerging strength is already evident-sericulture, marine and inland fisheries for example. There are also others which now attract less attention, but in which the competitive advantages that India possesses can put it on the top of the world. No country grows such a wide range of fruits, vegetables, and flowers and in such abundance as India and yet it has o record worth mentioning in horticultural exports. The rich variety when processed and marketed can help India take care of the health needs of its population besides being major export commodities.

The state government launched Agricultural Road Map in 2008 with a view to increase the farm production on sustainable basis. Bihar had embarked on an innovative approach for agriculture planning and implementation. Under Agriculture Road Map (2008) stress was given to availability of certified seeds for 23 crops bio-farming, farm mechanization and new technique of SRI cultivation. These certified seeds were distributed on a subsidy. The Seed Replacement Ratio (SRR) for some crop was as high as 83 per cent in 2011-12. On October 3, 2012, Hon'ble President of India, Sri Pranab Mukherjee, had launched the second Agricultural Road Map, 2012-17, for Bihar.

The six point goal of the new Agriculture Road Map is - (i) Food security, ii) Nutrition security, (iii) Increase in the income of farmers, (iv) Employment generation and control on migration of workers, (v) Inclusive human base of agricultural development and extensive participation of women and (vi) Conservation of natural resources and their sustainable use. The main strategies of this Road Map include:

- (i) To ensure the available of high quality agricultural input materials at farmers' end in proper time and at a low cost.
- (ii) To make the agricultural operation more cost effective and to ensure higher income for farmers with the use of modern farm equipments and agricultural management technique.

- (iii) To ensure a sustainable agriculture through the use of optimum mix of soil, water, crop and other agricultural components, even in the face of climate change.
- (iv) To develop both on farm and off-farm agriculture based enterprises by transforming the agricultural knowledge into skill.
- (v) To promote special programmes for *Tal, Diara* and other areas with specific geographical conditions.
- (vi) To establish agriculture as a prestigious occupation, to attract the educated youth towards the sector and to reward them for their contribution.

Making Bihar Agriculture Environmentally More Sustainable

It is matter of significant consideration that cereal production almost doubled between 1970-71 and 2011-12, yet the total land area cultivated under cereals increased marginally between 1970-71 to 1990-91 and declined during subsequent years. Such intensification of agriculture has met Bihar's demand for food and has reduced hunger but not the poverty, because the continuously rising population the per capita marketable surplus of agricultural crops could not increase. The rising population resulted in the increase in the pressure on land in the form of extensive agriculture. Several studies show that extensive agriculture affects the environmental sustainability. Some experts are of the view that by dramatically slowing the expansion of cultivated area agricultural intensification has also preserved forests, wet land, bio-diversity and the eco-system services they provide (Nelson, Muchael, Mywish, K.Mardia, 2007).

Intensification of agriculture in Bihar has brought environmental problems of its own. In intensive cropping systems, the excessive and inappropriate use of agrochemicals has polluted the water ways and upset the eco-system. Wasteful irrigation system and flooding of fields has contributed to the growing scarcity of water. The unsustainable pumping of ground water without giving any concern to recharging has created the severe shortage of water in some areas of the state. Many developmental blocks has reached to the status of grey, where hundred of wells have been dried and water table has gone down to such an extent that it is rather impossible to lift the water by simple pumping sets. In these areas farmers are using submersible pumps by powering alternators on their tractors.

Intensive livestock systems part of the continuing livestock revolution also present environmental and health problems. High concentrations of livestock in or near urban areas produce waste and can spread animal diseases, such as tuberculosis and Asian bird flu, with risks for human health.

The excessive use of chemical fertilizers and pesticides has polluted water resources- ground water as well as surface water, soil erosion has increased siltation of many reservoirs, the major irrigation projects resulted in deforestation, the loss of bio-diversity and displacement of human and cattle population. The intensive mechanization of agriculture, although late in Bihar, forced the farmers to abandon their bullocks which were used for farming. They were useful in the sense that large amount of cow-dung was used as organic manure. Compost manure along with the green manure was used to maintain the organic composition of soil especially the carbon component. High fertility, by natural sources maintains the carbon level at 0.8 levels. The practice of using chemical fertilizers mainly NPK in place of organic manure reduce the carbon level from 0.8 to about 0.2. This has seriously stagnated the fertility of soil and now the increased quantity of chemical fertilizer is not able to increase the productivity of the land. Hence the productivity has reached a plateau, in certain parts of Bihar.

The rising population in Bihar is crating pressures on natural resources. When population pressure is combined with high initial levels of poverty and few technology options for boosting productivity, degradation and poverty can spiral downward (WDR, 2008, p.182). This is what is happening in Bihar where many farms are now too small to support a family, yield growth is not enough

to that extent to support the family expenses and job opportunities off the farms are rare. The distribution of land is highly skewed. More than 80 percent of land holdings are marginal. Land reforms in Bihar had never been a success. The slow pace of industrial development in Bihar has created little opportunities of alternate employment in industries and services. The high incidence of poverty and unemployment in many areas has forced many people to migrate to cities where large slums have grown up, causing numerous problems to civil authorities in urban areas. Thus, the question of sustainability in agriculture has to be looked upon by taking into consideration the following points:

The productivity of land under food grain cultivation has to be increased, so as to meet the growing demand of cereals, pulses, edible oils etc.

- ❖ The degradation of natural resources is directly linked to the poverty of the masses so if we want to preserve the natural resources for future generation, then the problem of poverty should be addressed with utmost importance;
- ❖ the water has already become a precious commodity in many areas of the Bihar and its injudicious and excessive use may damage the whole system of agricultural development and survival of human and animal life,
- ❖ limited use of chemical fertilizers and pesticides,
- ❖ High input farming has also reduce bio-diversity in local landscapes and genetic diversity in crops grown.

The technology presently adopted in intensive agriculture based upon non-renewable chemical energy aiming at mass production and thereby agriculture is gaining a false status of an industry, ignoring its basic character of being a way of life for millions of farming households. Its products are the results of life process and its means of production is living soil.

Therefore, the present circumstances need a technology in agriculture, which is 100 per cent compatible with the life process. The best suitable technology of Bihar agriculture should aim at production by masses and not mass production. This would be ecologically sound and will have immense potential to provide gainful employment to many, in addition of food for all. Also agro-techniques to be adopted should be area and agro-climate specific. The following measures, if adopted with vigour and zeal will produce favourable and far reaching results.

- (i) **Organic Farming:** Organic farming is one of the best practice to make agriculture sustainable. This includes the use of indigenous bred improved varieties of seeds, organic manure, green manure prepared from leguminous plants, nitrogen fixing and phosphate solubilising bacteria culture as bio-fertilizers, in situ culture of plant and soil supporting bacteria and insects like earthworm etc. Bio-pest control measures are to be adopted which may do away with poisonous chemical pesticides.
- (ii) **Mixed Cropping:** Bihar farmers traditionally used mixed cropping techniques based upon their experiences in farming to maintain the soil fertility. The combination of such crops was adopted keeping in mind the extraction of yield increasing elements such as NPK from the soil by one crop and recharging of these by a complementary crop, e.g., Wheat & gram. The roots of wheat take their nutrients from the soil while the roots of gram liberate nitrogen into the soil through their nodes. So is the case with maize and tur. The green revolution has completely abolished the practice of mixed cropping. The single cropping system has serious implications on soil fertility.
- (iii) **Mixed Farming:** Mixed farming can ensure good profit with minimum inputs to the farming community. In this context Risk Management Integrated Technique is the right strategy. The farm should have integrated activities like cereal cultivation, vegetable cultivation, pisciculture, poultry and dairy under one umbrella and each one will depend upon the other and each one

would supplement the earnings in return. In this way, each unit would be ecologically sound with constant or sustainable income. Each unit under Integrated Risk Management Farming must be highly area and agro-climatic specific to make it more viable and sustainable in terms of local environment, market and income.

- (iv) **Agro-climate Regional Planning:** It has been realized that uniform package programme like green revolution is not tenable or sustainable. The government of India has adopted Agro-climatic Regional Planning during the IXth Five Year Plans on the basis of agro-climatic regions with major thrust on its sustainability. Apart from agro-climatic zonal planning on agriculture, ACRP also includes ecological soundness, need of the people on the basis of participatory rural appraisal and above all an agricultural process that is socially just and equitable (GOI, 1997).
- (v) **Leadership Building at the Farming Level:** Any attempt to implement innovation for betterment requires the involvement of community leaders. Here in India too, we need such leaders right itself from the farming community for achieving sustainable development. Therefore, it is quite essential to focus our attention in building leaders at the grass root level. We must bear in mind that the farmers at the receiving must be well prepared to accept the technology, knowledge or anything that matters for sustainable development in agriculture (Singh, 1995).

Agriculture Sector in Twelve Plan

Bihar government has started working on a dedicated feeder to supply power to agriculture sector for making its rainbow revolution a success. The government, under its rainbow revolution plans, is to install 968 new feeders of 11KV each with 55, 925 km of distribution line and 1.46 lakh transformers to primarily supply power to 19 lakh pumping sets in the next 10 years.

It has selected Patna district for the pilot project. "The GPS survey of the district would show the location where guarding for transmission line crossing the road and habitation areas is required. The existing and the proposed 11 KV line shall be duly marked on survey maps," said an official. The government has project year-wise requirement of estimated funds for the feeder segregation. The total estimated amount for 12th and 13th Five Year Plan in around Rs 8,370.44 crore. The government has already projected its years-wise power requirements for agriculture sector for the next 10 years. By 2016-17, the state would require 1478MW power exclusively for agriculture sector.

Only 5.83 percent of the total power supply to the state is used in agriculture sector in Bihar, compared to 38 percent in Haryana, the highest in India. Presently, the rural feeders of mixed nature, supplying to agriculture as well as domestic/other rural loads and making it difficult to supply quality power for agriculture purpose due to grim power scenario. Hence, a dedicated feeder is necessary for the success of rainbow revolution in Bihar.

To cater to the needs of the agriculture sector, the government plans separate rural feeder for agriculture and non-agriculture consumption. The main objective is to provide quality power supply for agriculture purposes for specified period through dedicated agriculture feeders and supply to the other rural loads in the remaining period on rotation basis, said an energy department document. States like Andhra Pradesh, Gujarat, Haryana, Karnataka, Maharashtra and Rajasthan have dedicated feeders for agriculture. A team of officers had visited Punjab, Haryana and Maharashtra recently to study the power supply system for agriculture sectors in those states.

Planning Commission document on 'Faster, Sustainable and more Inclusive Growth: An Approach to the 12th Five Year Plan states, "The separation of agricultural feeders in the country will enable villages to get 24x7 three-phased power for domestic uses, schools, hospitals and village industries."

Therefore, it will not be an exaggeration to say that despite immense potential, agriculture in Bihar is facing a lot of challenges. The planners and policy makers need to give fresh look to encourage prudent management of JAMIN, JAN and JAL (Land, labour and water). There is no doubt that if concerted efforts are made then these challenges can be faced effectively and Bihar may be enabled to write happier story of India's progress.

Summing up :

After analyzing the various aspects of sustainability, we come to the conclusion that India cannot meet the high growth challenge of the economy in the millennium unless sincere efforts are made to make Indian agriculture environmentally sustainable. The challenge is to find, an optimum balance between (a) increasing agricultural productivity, (b) restoring and conserving natural resources for food security and (c) promoting good governance, gender equality and development approach focused on people and their needs. This can only be achieved by responding to the immediate needs of the people and also to the ecological conditions of a specific location and to manage resources in a manner that safeguards them for the future. The goal of sustainable development not only in India but throughout the world is to optimize yields without causing adverse short term or long term impacts on nature, the environment or society.

Thus, to make Indian agriculture environmentally sustainable and contribute positively to the high growth rate of the economy, efforts must be made to raise soil fertility, improve water storage capacity, increase water quality, diversify agriculture, raise people's capability to cope with risks and withstand natural calamities, reduce energy consumption and minimize risks etc.

NATURE AND MEANING OF THE POLICY OF NON-ALIGNMENT

DR. SUBODH KUMAR YADAV

PH.D, NET, SUBJECT: HISTORY

Non-alignment is a policy of not getting allied not tying with either of the military blocs that were there in cold war era. It that was trying to view things, as far as possible, not in the context of bloc politics, but independent by from that finally it also was trying to maintain friendly relations with the countries of each bloc. Nehru the architect of this foreign Policy, had defined non-alignment as a policy of not entering into military alliances with any country, and in particular with country of either western or communist bloc. It rather also was a policy of acting or viewing the issues of international concern issues according to one's own judgment and not according to the wishes and dictate of either of the two blocs. Finally though it was a policy of not trying itself with the countries of either of the blocs but then it also was a policy of maintaining friendly relations with all the countries, whether belonging to eastern bloc or western.¹

Evidently a close look of the aforementioned definition of the non-alignment shows that there was/were three essential postulates/features of the policy of non-alignment. The first of them was to not to join/enter into the military alliances with any country of either the western or the communist bloc. Whereas the United states has military alliances with about forty countries, and the Soviet Union land with eleven countries. The essential feature of these alliances was that an attack on any one member of the alliances system was considered as an attack on all the other members of the bloc and thus was to be faced/repelled jointly by them.²

The second essential postulate was viewing the issues of international but on their merits or demerits and not according to the guidelines or dictates of either of two blocs. Non-alignment, evidently thus was an independent approach to foreign policy and not being tied down to any particular line of action adopted by the members of rival bloc of cold war era.³

The third essential postulate was to have/to maintain friendly relations with all countries, of the power blocs.

CONFUSION ABOUT NOMENCLATURE

No doubt, non-alignment was defined as a policy to not to get tied with countries of the any of the power blocs, but to have friendly relations with all of them and to act according to the merits and demerits of the issues of international relations and not under the pressure of dictate and guidelines of either of the bloc; what however was the Brioni of the non-alignment was the confusion relation to the nomenclature which remained atleast till date 1950s, It was because of the fact that Nehru did not name the policy that he adopted as the Prime Minister/Foreign Minister of the Interim Government in September 1946. The only pointed out/give details of policy to the adopted by independent India. He said:

- (i) India would not join either of the power blocs of cold war era;
- (ii) But would maintain friendly relations with the countries of both blocs. and,
- (iii) To act according to its own judgement of the issues of international relations.

As Nehru himself did not give the term for the policy that he adopted for India confusion arose both in the political and diplomatic circles and also among the intellectuals and the journalist regarding the nomenclature of the Policy. It thus was often been called as the Policy of 'neutrality', 'neutralism', 'non-entanglement' 'non-involvement' 'abstaintionism, independent foreign policy and, the positive and constructive policy of peace etc.⁵

Non-alignment does not stand any one of these. It was not neutrality as neutrality does not have any or meaning except in time of war/conflict. Infact the term neutrality cannot the positions of not joining any of the combatants in the case of war or conflicts. It is the position of a country to not to involve itself with either of the conflicting party.⁶ This certainly was not true in the case of non-alignment, of course non-alignment was a policy of not tying itself with the countries of the either power blocs. But at the same time it also was a policy of joining with any of the party of conflicts/of war it damaged of justice went to it. Nehru himself clarified in his speech in the Constituent Assembly on 4th December, 1947 that in the modern era of war it was rather difficult for any country remain isolated/neutral, so India would remain neither neutral nor alone. It could join with the party on whose side justice would Veto prevail and that to not for aggravating the situation but for bringing the end of the conflict and thus to have the return of the normalcy.⁷

Non-alignment also was neither non-entanglement nor non-involvement. Non entanglement or non involvement is a policy of not involving/not to get involved in the dispute/conflict between the disputants/conflicting parties. It was irrespective of the demand of the time to go the side of that parties with whom the justice lies or who is being victomised. Non-alignment as seen earlier is a policy to take the side of that party which is fighting for their just cause.⁸

Non-alignment was also not synonimised as the independent policy or the positive policy of peace, because every member of International community claims to have its policy independent and the policy of peace.

Evidently non-alignment had different context and meaning for the diplomats, politician, statesmen and media etc. Details about this specific meaning would be discussed subsequently. Here it is to be noted that not only the politicians statesmen and diplomats had confusion/misperception about nomenclature of the policy being adopted by Nehru in mid 1940s, but the academics particularly scholars of International relations also had the confusion and

misperception about the policy of non-alignment as is clear from the writings of the noted western scholar Peter Lyon, who had to his credit a doctoral dissertation on the Subject under discussion.⁹ What is remarkable is the fact that both western and non-western academicians, scholars and also the journalist continued suffering from the misconception about the nomenclature and perception of the non-alignment until the world non-alignment was used by the noted diplomat Krishna Menon in mid 1950s for the foreign policy that Nehru had introduced. Infact/indeed the term non-alignment came into currency and got universal recognition only after the term being used by Krishna menon.¹⁰

Besides having the clarifications about the nomenclature of the policy being adopted in 1946, one more misconception relating to the Policy non-alignment is to be discussed and analysed. It is due to the fact that as when the Policy of non-alignment was adopted in 1946 the world was in its initial state of cold war.

As the Policy of non-alignment emerged against the background bloc politics this policy i.e. the non-alignment was being considered as they byproduct of cold war politics. Hence firstly during the period of/era of *detente* and subsequently after the end of cold war continuous validity and the relevance of the non-alignment as a foreign policy modality and also as the movement of the third world countries were being questioned by the people if almost all the section of the society. But those raising the question about the validity and continued relevance of non-alignment forget that the root of the policy of non-alignment lies much before the emergence of cold war in 1945. As would be seen later the details the policy routed India's struggle for freedom and too even before the formation of Indian National congress in 1885.¹¹ However it formally witnessed its beginning in the session of the INC held in 1921 in which the congress laid the contours or ingredients of the foreign policy to be persuaded by India after independent. J.L. Nehru, who became the spokesman of the foreign policy of INC in 1921, had very beautifully pointed/described those ingredients or criterias in following ways in 1921 and thereafter on various

occasions. The ingredients or criterias that he again and again pointed out might be summarised in the following ways;

1. National Self Respect.
2. Friendly relations with all the nations on the basis of mutual respect and reciprocal equality.
3. A general attack on the fear psychosis.
4. A specific poise of neither fearing nor causing fear in the relations of the neighbouring contagious or economic.
5. To work for the welfare and upliftment of the people of Asia.
6. Opposition to imperialism and racialism of kinds/forms.
7. Finally, to work for the peace and stability/security of the world,
8. To have independent of judgement and action on the issues of international relations.

It is to be noted here that the ingredients of the policy that Nehru adopted independent India as a foreign minister of the Interim Government in 1946 and subsequently as the Prime Minister of Independent India were nothing but only the reassertion of the ingredients that were repeatedly made clear by the spokesman of the INC and also in the resolution relating to the foreign policy of INC continuously since 1921.

As the situation created due to the arch rivalries of the rival Powers was not congeal or conducive to have independent outlook/approach in the field of foreign policy and for having peace and tranquility Nehru did not join any of the power bloc but adopted the policies that came to recognised as the Policy of non-alignment and which subsequently became the policy of the overwhelming majority of the newly liberated states of Asia, Africa and Latin America and thereafter became the movement of the non-aligned countries.

REFERENCES:

1. Rajan, M.S., Non-alignment and Nonaligned Movement: Retrospect and Prospect – Vikas Publishing House, New Delhi, 1990. pp. 32-39.
2. Ibid.
3. Ibid.
4. Alimov, Y. The Rise and Growth of the Non-Aligned Movement – Progress Publishers, Moscow, 1987, p. 102.
5. Rourke, J.T. International Politics on the World Stage – The Dushkin Publishing Group, United States of America, 1993, pp. 215-217.
6. Wunsche, R., Linder, M. and Voigtlander, R. The Struggle of the Movement of Non-Aligned Nations for Peace, Disarmament and Development – An Important factor in Modern International Relations – Akademie – Verlag, Berlin, 1986, p. 89.
7. Peter Willetts, 'The Non-Aligned Movement, Popular Prakashan, Bombay, 1978, pp.151-202.
8. Ibid.
9. Ibid.
10. Ibid.
11. L. Acimovic (Ed.) Non-Alignment in the World of Today (Institute of International Politics and Economics, Belgrade, 1969), pp. 92-95.

FUNCTIONS, OBJECTIVE AND ROLE OF SEBI IN STOCK MARKET IN INDIA

MD. ZAFAR ALAM

Research Scholar
(Dept. Of Commerce)

B.R.A. BIHAR UNIVERSITY
MUZAFFARPUR

DR. ANWAR HUSSAIN

Research fellow
(Dept. Of Commerce)

B.R.A BIHAR UNIVERSITY
MUZAFFARPUR

❖ ABSTRACT:-

Securities market in India has witnessed tremendous growth during the last 28 years in term of number of Companies; Capitalisation increase in number of investors; stock exchange; turnover and mutual funds etc. The economic liberalization and various reforms in the country have also acted as catalyst in the development of securities market. The liberalization measures taken by government have also facilitated the globalization of the Indian securities market. on the other hand, ever-expanding investors population and market capitalization has also led to variety of malpractices on the part of the companies, brokers, merchant bankers and many other market participants in new shares and stocks in India.

Thus, the government felt a strong need of a regulatory body which could monitor and supervise securities market. SEBI was constituted in 1988 and it obtained its statutory character in 1992 after the enactment of SEBI Act, 1992. SEBI is primarily constituted to regulate and promote securities market concurrently, it is also the duty of SEBI protect the interest of Investor.

❖ INTRODUCTION:-

Every fund is play very important role for the economic growth. The investment shows the level of economy in the rest world. Investment is one of the result of savings, People save some money of their income for future plan, uncertainties, unforeseen expenses unemployment and disease. When a Person deposits his/her money in a Bank or purchases the goods or shares of a company is called Investment. In any country the financial system plays as a bridge between creditors and Debtors. Always investors are needed subsequent protection to blow up more savings and Investment. Therefore Indian government has given

authority to RBI to protect the investor's investments. SEBI is one of such institutions. SEBI Act, 1992 is having Automotive effect and is consider to have come into force on Jan 30, 1992.

❖ **METHODOLOGY OF PAPER :-**

The paper is conceptual in nature primarily, largely base on secondary source of information, and focuses on various investor protection measures taken by SEBI from time to time. The impact of Investor education compaign, grievance reddressal mechanism, compensation from Investor Protection Fund and the like are being studied towards restoring investors confidence in the stock markets.

❖ **FUNCTIONS OF SEBI:-**

The functions of the SEBI can be divided into three parts:-

1. **Protective functions:-**

The protective functions of SEBI are as follows:-

(a) **Prohibits insider trading:-**

Insider trading means buying or selling of securities by the insiders like directors, Promoters or senior employees working in the company having access to confidential price on information that affects the prices of securities. To prevent insider trading, SEBI has obstructed Trusts of listed companies and Employee welfare schemes from purchasing their own shares from the secondary markets. Chairman should strict check on insider trading and takes action in case of malpracticies.

(b) **Checks Price Rigging:-**

Price rigging refers to malpractices relating to securities, with the objective of raise up normal fluctuations in the price of securities by increasing or decreasing the market price of stocks leading to huge losses for investors or traders. SEBI should strict surveillance to stop such price riggings.

(c) **Promotes Fair Trade Practices:-**

SEBI ban trappy and unfair trade practices and promotes fair trading of securities by establishing regulations and code of conduct in the securities market.

(d) **Provides Financial Education to investors:-**

SEBI educates investors by convection online and offline seminars that help investors get intention on the financial market and money management.

2. Developmental Functions:-

The development functions mean the initiative taken by SEBI to upgrade the security market with the help of technological innovations. They are as follows:-

- (a) By training the intermediaries of the securities market.
- (b) Introducing electronic/ Internet trading through registered stock broker.
- (c) Introducing the DEMAT Format.
- (d) By making underwriting optional to reduce the cost of the issue.
- (e) By the introduction of discount brokerage.

3. Regulatory Functions:-

This refers to the establishment of regulations for financial mediator and corporate to make sure the market runs efficiently:-

- (a) SEBI has prepared guidelines and code of conduct that are enforced to financial mediator and corporates.
- (b) These mediators have been brought under the regulatory limitation and private placement has been made more restrictive.
- (c) SEBI regulates the working of the mutual funds.
- (d) Regulates takeover of Companies.
- (e) Conducts enquires and audit of stock exchanges.

❖ Objectives of SEBI :-

The main objectives of SEBI are :-

1. Protection:-

To protect the right and interests of the investors by rightly guiding them and ensuring the safety of the money invested.

2. Prevention of malpractices:-

To foreclose fraudulent and malpractices related to trading and regulate the activities of the stock exchange.

3. Establishing a Code of Conduct :-

To regulate and develop a code of conduct for intermediaries such as brokers, underwriters and so on.

4. Establishing balance :-

To establish a balance between statutory regulation and self regulation by the securities industry.

5. Promote Proper functioning :-

To promote orderly functioning of the stock exchange and securities industry by regulating them.

❖ **Purpose and Role of SEBI :-**

The main objective is to create an environment that facilitates the effective mobilization and allocation of resources through the securities market. SEBI enforces rules and regulations, policy framework. Practices and infrastructure to meet the needs of three groups which mainly constitute the market i.e. issuers of securities (companies), the investors and the market intermediaries. It was setup to meet the needs of the following groups :-

1. Issuers :-

For issuers, it provides a market place in which they can raise funds in an easy and efficient manner.

2. Investors :-

For investors, it provides protection and supplies accurate and correct information on a regular basis.

3. Intermediaries :-

For intermediaries, it provides a competitive professional market. It also helps intermediaries provide better service to the investors and issuers by giving them efficient infrastructure.

❖ **Conclusion :-**

Today SEBI has become the authorization body to form the rules and regulation for the stock markets in both capital and money market due to

the emergence of SEBI the number of unethical practices in share market has been reduced proportionately. It shows the active participation of the exchange board in order to control and regulate the trading activities.

❖ **References :-**

- (i) [http//www.bseindia.com/invdest/services.asp](http://www.bseindia.com/invdest/services.asp)
- (ii) www.sebi.gov.in
- (iii) www.wikipedia.com
- (iv) SEBI (mutual funds) Regulations, 1996
- (v) Regulation 7 of SEBI (mutual funds) Regulations, 1996.
- (vi) Regulation 21 of SEBI (mutual funds) Regulations, 1996.

भारतीये दर्शने मोक्षस्य स्वरूपम्

रामकृपाल साह

स्नातक दिल्ली विश्वविद्यालय, स्नातकोत्तर पटना विश्वविद्यालय, यूजीसी नेट

भारतीयजीवनदर्शने पुरुषार्थचतुष्टयं प्रकल्पितम्। ते पुरुषार्थाः धर्मः अर्थः कामः मोक्षश्चेति वर्तन्ते।¹ यद्यपि सर्वे पुरुषार्थाः समानं महत्त्वं मानवस्य कृते धारयन्ति, तथापि मोक्षः परमः पुरुषार्थः स्वीकृतः²। मोक्षस्य कल्पनायां संसारः बन्धनरूपेण कल्पितः। अस्मिन् संसारे दुःखानि तथ्यानि सन्ति। सर्वः जनः तैः दुःखैः विकलितः। अतएव दुःखानां विनाशाय प्रयत्नं करोति। दुःखानि ऐकान्तिकरूपेण आत्यन्तिकरूपेण यदा विनश्यन्ति तदैव मोक्षकल्पना सार्थकीभवति³।

कर्मानुसारेणैव जीवः पुनः पुनः शरीरं धरति बन्धनं च प्राप्नोति। जन्मना कर्मसमुदायो जायते, दनुसारेण फलम् इति कर्मप्रवाहः संसारः। संसारः बन्धनं दुःखम् चेति पर्यायशब्दाः। मोक्षे बन्धनस्य विनाशः पूर्णानन्दस्य च प्राप्तिः इति विविधा दार्शनिकाः अभ्युपगच्छन्ति⁴। पाश्चात्यदर्शने दर्शनान्तरेषु च नेयं कल्पना वर्तते।

विभिन्नानि भारतीयदर्शनानि मोक्षस्य स्वरूपविषये तस्य साधनविषये च पृथक्-पृथक् मतानि स्वीकुर्वन्ति। अतएव च मोक्षस्य बहूनि नामानि लभ्यन्ते यथा- मुक्तिः, निर्वाणम्, कैवल्यम्, अपवर्गः, निःश्रेयसं चेति। सम्प्रति मुख्यसम्प्रदायेषु मोक्षविचारः समासेन प्रस्तूयते-

नास्तिकदर्शनम्-नास्तिकतमाः चार्वाकाः वस्तुतः प्राणत्यागमेव मोक्षं कथयन्ति। अर्थात् शरीरनाशे सति यदि दुःखनाशः तदा स एव मोक्षः⁵। शरीरनष्टे दुःखानि स्वयमेव नश्यन्ति। आध्यात्मिकः मोक्षः नास्ति इति भावः।

बौद्धदर्शने मोक्षः निर्वाणमिति कथ्यते⁶। तच्च तृतीयम् आर्यसत्यम्। दुःखस्य मूलकारणम् अविद्या। अविद्यानाशे सति निर्वाणं प्राप्यते⁷। निर्वाणावस्थायां दुःखाभावः आनन्दप्राप्तिश्च भवतः⁸। बुद्धमते जीवनेऽपि निर्वाणं प्राप्यते। तस्य लाभाय सम्यक् संकल्पादिरूपः अष्टांगमार्गः आवश्यकः।

जैनदर्शने मोक्षस्य स्वरूपं भावात्मकम्। मोक्षकाले जीवः परमाकाशे विहरति (विचरति)। जीवः पुद्गलसम्पर्केण शरीरं लभते। शरीरं च कर्मानुसारेण भवति इति कर्मपुद्गलः तत्कारणम्⁹। ज्ञानेन सर्वेषां कर्मणां संवरणं जायते। ततोः जीवः मोक्षमार्गं प्रति प्रवर्तते। मोक्षमार्गः त्रिरूपः सम्यक् दर्शनम्, सम्यक् ज्ञानम्, सम्यक् चारित्रां च¹⁰। इदं सर्वं 'त्रिरत्नम्' इति कथ्यते। सम्यक् दर्शनं जैनतीर्थकराणां वचनेषु श्रद्धारूपम्¹¹। सम्यक् ज्ञानं तद्वचनानां नियमपूर्वकं धरणम्। सम्यक् चारित्राम् अहिंसादीनां महाव्रतानां पालनम्¹²। एतेन त्रिरत्नेन पुरातन-कर्मणां निर्जरणं जायते। नवीनकर्मणां च संवरणं भवति¹³। ततः मोक्षसाधकः जीवः अलोकाकाशपर्यन्तं गच्छति।

न्याय-वैशेषिक दर्शनम् उभयोः दर्शनयोः मोक्षविचारः समानः। दुःखध्वंसः एव मोक्षः अपवर्गो वा कथ्यते¹⁴। न्यायदर्शने षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानात्¹⁵, वैशेषिकदर्शने च सप्तानां पदार्थानां तत्त्वज्ञानात् अपवर्गः इति विशेषः। पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वकं स्वरूपज्ञानेन मिथ्याज्ञानं विनश्यति। तस्य

विनाशे दोषाः नश्यन्ति, दोषनाशे प्रवृत्तिनाशः, प्रवृत्तिनाशे जन्मनाशः, जन्मनाशे दुःखनाशः इति अपवर्गः प्राप्यते। दुःखात्यन्तविमोक्षः अपवर्गः¹⁶ गौतमः न्यायसूत्रो कथयति—

दुःख—जन्म— प्रवृत्ति—दोष—मिथ्याज्ञानानाम्

उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः¹⁷।

“अत्रा कारणाभावात् कार्याभावः” इति वैशेषिकसूत्रां प्रमाणम्। मोक्षकाले आत्मनः सर्वेषां गुणानां ध्वंसो भवति¹⁸। तस्मिन् काले शुद्धः आत्मा एव तिष्ठति। न तु सुखं—दुःखम्, इच्छा ज्ञानं वा भवति।

सांख्य—योग दर्शनम्— अनयोः दर्शनयोः मोक्षविचारः समानः। अत्र प्रकृतिः पुरुषश्च इति तत्त्वद्वयम् अभ्युपगतम् (स्वीकृतम्)। यावत् अनयोः संयोगः तिष्ठति, तावत् संसारः प्रवर्तते। पुरुषः प्रकृतिसम्पर्केण एव सुखं दुःखं मोहं च अनुभवति। यदा पुरुषस्य विवेकज्ञानं जायते, स्वरूपं च प्रकृतेः पृथक् बोधति तदा तस्य मोक्षः¹⁹। मोक्षः अत्र “कैवल्यम्” इति कथ्यते। कैवल्यस्य भावः कैवल्यम्। तदर्थं प्रकृतिपुरुषयोः पार्थक्यज्ञानमावश्यकम्। तत्र बुद्धिः सहायिका भवति। सा एव पुरुषस्य भोगमपवर्गं च प्रयोजयति। योगदर्शने कैवल्यलाभाय अष्टांगमार्गः²⁰ कल्पितः स एव “राजयोगः” इति कथ्यते। स च यम— नियमासन—प्राणायाम—प्रत्याहार— धरणा—ध्यान—समाधिरूपः। तेषाम् अभ्यासेन पुरुषः स्वरूपनिष्ठः भवति। इयमेव कैवल्यस्यावस्था। पृथक्—पृथक् पुरुषस्य कैवल्यं जायते। अतः यदा एकः पुरुषः कैवल्यमापन्नः तदा अन्ये पुरुषाः प्रकृतेः सम्पर्केण बद्धाः एव भवन्ति। कैवल्यविषये पतञ्जलिः कथयति—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः इति।

वेदान्तदर्शनम्— शंकराचार्यस्य अद्वैतवेदान्तदर्शने उत्कृष्टो मोक्षविचारः²¹। आत्मज्ञानमेव मोक्षः इति तत्रा मतम्²²। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति इति श्रुतिवाक्यं प्रमाणम्। यदा आत्मा स्वरूपं ब्रह्मरूपं साक्षात्कुरुते तदा मोक्षलाभः²³। आत्मैव ब्रह्म इति द्वयोः एकत्वज्ञानं मोक्षः। अस्मिन् दर्शने सत्यं ज्ञानम् आनन्दश्च²⁴ ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणं इति स्वीकृतम्। अतएव जीवात्मा तादृशं रूपं मोक्षावस्थायां लभते। ब्रह्मरूपता—प्राप्तिः एव मुक्तिः।

जीवनकालेऽपि आत्मसाक्षात्काररूपः मोक्षः लभ्यते²⁵। इयमवस्था जीवन्मुक्तिः इति ज्ञायते। तदा मानवः प्रारब्धकर्मानुसारेण शरीरं धारयति। स ब्रह्मनिष्ठः इति कथ्यते²⁶। शरीरनाशे सति स एव विदेहमुक्तिं प्राप्नोति। तदा स ब्रह्मलीनः। शांकरदर्शने आत्मसाक्षात्काराय चत्वारि सोपानानि स्वीकृतानि—श्रवणम्, मननम्, निदिध्यासनम्, समाधिश्च²⁷। समाधौ एव आत्मैक्यबोधः जायते। तत्त्वमसि,²⁸ अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, इत्येतानि महावाक्यानि आत्मसाक्षात्कारस्य साधकानि सन्ति।

एवं भारतीयदर्शनस्य मुख्येषु सम्प्रदायेषु मोक्षविचारः प्रस्तुतः। मोक्षः क्वचित् जीवनकाले क्वचिच्च देहावसाने स्वीकृतः। क्वचित् अभावरूपः मोक्षः, क्वचित् आनन्दरूपः इति स्वीकृतः। किन्तु सर्वत्रा तत्त्वज्ञानं तस्य समानं कारणम्। किञ्च भक्तिः कर्म च मोक्षस्य कारणम् इत्यपि गीतादिषु ग्रन्थेषु प्राप्यते।

।।इति शम्।।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृष्ठ 122 –डा. डी. डी. बंदिष्ठे, डा. रमाशंकर शर्मा; मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी
2. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, भाग 2, पृष्ठ 28 – डा. राममूर्ति पाठक
3. सांख्यकारिका– श्लोक– 68
4. धर्मदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ– 252– डा. लक्ष्मीनिधि शर्मा
5. भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएँ, पृष्ठ–106– डा. महेश भारतीय; इण्डो–विजन प्राइवेट लिमिटेड, गाजियाबाद
6. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ, पृष्ठ– 387– वेदप्रकाश वर्मा, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
7. भारतीय दर्शन, पृष्ठ –53, 58– चन्द्रधर शर्मा
8. धम्मपद– 203
9. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, पृष्ठ– 97– डा. राममूर्ति पाठक
10. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रा 1/2/3– उमास्वाति
11. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ–101– डा. संगमलाल पाण्डेय
12. भारतीय दर्शन, पृष्ठ– 117– उमेश मिश्र
13. माध्वाचार्यकृतः सर्वदर्शनसंग्रहः , पृष्ठ– 144–प्रो. उमाशंकर शर्मा “ऋषि”
14. अन्नंभट्टरचित तर्कसंग्रह व तर्कसंग्रह दीपिका, पृष्ठ– 266 – डा. कांशी राम, सन्ध्या राठौर, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
15. सदानन्दरचित वेदान्तसार, पृष्ठ– 94– प्रो. राममूर्ति शर्मा
16. न्यायसूत्रा 1/1/221– गौतम
17. न्यायसूत्रा 1/12
18. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ, पृष्ठ–376–377– वेदप्रकाश वर्मा
19. ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका, श्लोक– 64–ब्रजमोहन चतुर्वेदी
20. महर्षि पतञ्जलिकृत योग–दर्शन, साधनापाद–2/29–गीताप्रेस, गोरखपुर
21. शांकरभाष्य – 1/1/4
22. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ– 315– प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
23. तैत्तिरीयोपनिषद्– 1/11
24. संक्षेप शारीरक– 1/24–25– सर्वज्ञात्म मुनि
25. धर्मदर्शन की मूल समस्याएँ, पृष्ठ–375–376– वेद प्रकाश वर्मा, दिल्ली विश्वविद्यालय
26. सदानन्द रचित वेदान्तसार, पृष्ठ– 107–प्रो. राममूर्ति शर्मा
27. वही, पृष्ठ–94
28. छान्दोग्योपनिषद्– 2/2/7

हिन्दी की पहचान के विकास में अहिन्दी क्षेत्र का अवदान : एक अवलोकन

डॉ० आलोक कुमार पाण्डेय

पूर्व पी-एच.डी. शोधार्थी, हिन्दी-विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

जीवन में भाषा का महत्त्वपूर्णस्थान है। भाषा का महत्त्व केवल भावनात्मक ही नहीं है, वैज्ञानिक भी है। अपनी भाषा के द्वारा ज्ञानार्जन में सरलता तथा अधिगम में सुगमता होती है। यह विज्ञान सम्मत है। किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के विचार, आचार, संस्कार, संस्कृति आदि की समझ और अभिव्यक्ति उसकी भाषा के माध्यम से होती है। मानव के आज तक के विकास में भाषा का योगदान उल्लेखनीय है। भाषा ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है। मनुष्य का भाषा से जुड़ाव ऐसा है कि इसके बिना जीवन की कल्पना कठिन है।¹ हिन्दी भारत की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसे भारतीय अस्मिता, सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा कहा जा सकता है। हिन्दी अनेक बौद्धिक विमर्शों, क्रियाकलापों, आंदोलनों आदि में निर्णायक भूमिका निभाती आई है।

देश की स्वतंत्रता में हिन्दी का विशेष योगदान है। हिन्दी के बिना राष्ट्रीयता की परिकल्पना अधूरी है। महात्मा गाँधी ने हिन्दी को भारतीयता का प्रतीकात्मक महत्त्व प्रदान करते हुए कहा था कि हमसब भारतवासी हिन्दी के कार्यकर्ता हैं। गाँधीजी ने 'यंग इंडिया' के जून, 1931 ई के अंक में लिखा है, "अगर यह स्वराज्य करोड़ों भूखों मरनेवालों का, करोड़ों निरक्षरों का, निराहार बहनों व दलितों व अंत्यजों का हो तो इन सबके लिए हिन्दी एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।"² आज इसके मूल्यांकन और चिंतन का समय आ गया है। हम सबको हिन्दी को 'अध्ययन की माध्यम भाषा' बनाने के साथ-साथ इसकी सरलता एवं सहजता पर भी विशेष ध्यान देना होगा। यहाँ शुद्धता-अशुद्धता के अनुचित बातों में पड़े बिना मौलिक बातों की ओर ध्यान देना समय की मांग है। इसके शुद्धता-अशुद्धता के प्रश्न के संदर्भ में कथाकार प्रभात रंजन जी का कथन द्रष्टव्य है, "हिन्दी की सबसे बड़ी ताकत यही है कि वह अनेक शैलियों में बोली जाती है, लिखी जाती है। उसे एकरूप में देखना उसकी बोलियों की मजबूत विरासत से उसको काटने की कोशिश ही कही जाएगी। असल में जिसे हिन्दी की अशुद्धता कहा जाता है, वह हिन्दी की विविधता है। यह अच्छी बात है कि सोशल मीडिया, मीडिया के माध्यमों द्वारा हिन्दी की इस विविधता का प्रसार हो रहा है। तथाकथित अशुद्धता हिन्दी की जनतांत्रिकता है, जिसको समझने की जरूरत है।"³

यह अन्तर भाषा के प्रसार और प्रचार का परिणाम है। जैसे-जैसे भाषा का विस्तार होगा, वह वहाँ के बोलियों और भौगोलिक विशेषता को अपने में समेटी और ग्रहण करती चलती जाती है, जिससे उसके अनेक रूप हो जाते हैं। यह स्थिति केवल हिन्दी भाषा में ही नहीं है, बल्कि विश्व की अनेक विकसित भाषाओं की है। अंग्रेजी भाषा में भी यह परिस्थिति देखने को मिलती है। प्रख्यात भाषा-वैज्ञानिक डॉ. भोलानाथ तिवारी के शब्दों में, "किसी भाषा के प्रचार क्षेत्र में जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसके एकाधिक रूप विकसित होने लगते हैं। आज इंग्लैण्ड,

अमरीका, ऑस्ट्रेलिया की अंगरेजी ध्वनि—व्यवस्था, रूप—रचना, वाक्य—गठन तथा शब्द—भंडार किसी भी दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं है। हिन्दी के साथ भी वही स्थिति होती जा रही है।⁴

यह मात्र भाषा ही नहीं मातृभाषा भी है। अनेकता में एकता की प्रतीक हिन्दी अपने अनेक उपभाषाओं के साथ एककार होकर राष्ट्रीयता का संचरण करती है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान अनेक भाषा—भाषी लोगों ने हिन्दी में अपने कार्यों को संपादित किया। उस समय के व्यापारिक कार्य, सामाजिक कार्य, राजनीतिक कार्य, शिक्षा के प्रचार—प्रसार, धार्मिक आंदोलन आदि कार्यों में सम्मिलित अनेक लोग बंगाली, मराठी, गुजराती, ओडिसी, तमिल, मलयाली आदि भाषाओं की पृष्ठभूमि वाले थे। इन लोगों ने बड़ी आत्मीयता से इसकी सेवा की है।

स्वतंत्रता आंदोलन में गैर हिन्दी भाषी राज्यों की भावनाओं को सम्मिलित रूप से अभिव्यक्ति का काम हिन्दी ने ही किया है। हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप भी स्वधीनता आंदोलन से ही मुखर हुआ है। आंदोलन की सहगामिनी बनने के कारण हिन्दी का राष्ट्रीय—प्रसार हुआ। अंग्रेजी के वैश्विक प्रसार के पीछे भी ऐसे ही आंदोलन का सहयोग रहा है। शशि शेखर के शब्दों में, “अंग्रेजी एक लंबे समय तक एक छोटे से भूगोल की भाषा थी, लेकिन फिर एक ऐतिहासिक बदलाव में यह औद्योगिक क्रांति की भाषा बन गई। जब औद्योगिक क्रांति और उसके परिणाम पूरे दुनिया में फैले, तो अंग्रेजी भी फैली और एक विश्व भाषा बन गई। खुद हिन्दी का पूरे देश में विस्तार भी इसी तरह हुआ। पूरे देश में वह तभी फैली, जब वह स्वतंत्रता संग्राम की भाषा बनी, वरना उससे पहले तो वह सिर्फ खड़ी बोली या एक बोली भर थी।”⁵ भाषा की उन्नति के लिए समय के प्रवाह से जुड़ना आवश्यक होता है। अतः समय से संवाद के लिए भाषा में सरलता और सहजता आवश्यक हो जाता है। यह भी भाषा का महत्वपूर्ण पहलू है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग हिन्दुस्तान को स्वधीनता प्राप्त होने के बहुत पहले से उठ रही थी, जो स्वतंत्रता संग्राम में और मुखर हुई। इसके लिए आवाज उठाने वाले केवल हिन्दी भाषी ही नहीं थे। अधिसंख्य तो अहिन्दी भाषी महापुरुष थे। महात्मा गाँधी, दयानंद सरस्वती, कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी(गुजराती), लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, माधव सदाशिव गोलवरकर, बाबूराव विष्णुराव पराडकर, अनंत सदाशिव, श्री कृष्णजी हरिपंत देशपांडे (मराठी), गोपाल स्वामी अय्यर (तमिल), नेताजी सुभाष चंद्र बोस, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चटर्जी, सर गुरुदास बनर्जी, रमेशचंद्र दत्त, डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र, डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी, राजा राममोहन राय, केशव चंद्र सेन (बंगला), डॉ. नरेन्द्र कोहली (पंजाबी) जैसे विभूतियों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का पुरजोर वकालत की थी। जिस रूप में महात्मा गाँधी राष्ट्रपिता हैं उसी रूप में पुरुषोत्तम दास टंडन को राष्ट्रभाषा—पिता⁶ कहा जाता है।

ऐतिहासिक अवलोकनार्थ जब हम हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो समन्वय—प्रवृत्ति के कारण भक्ति काल को ‘स्वर्ण—युग’ होने का विशिष्ट गौरव प्राप्त है। इसे स्वर्ण युग इसलिए भी कह सकते हैं कि इसने लोकजीवन में भारतीय संस्कृति की विराट्ता और विविधता को पिरोने का काम किया है। भारतीय लोकजीवन में जितने आदर से हिन्दी भाषी भक्तिकालीन कवियों सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि शामिल हैं, उतना ही श्रद्धा और सम्मान संत ज्ञानेश्वर, रसखान, रहीम, नामदेव, गुरुनानक, चैतन्य महाप्रभु, नरसी मेहता आदि को प्राप्त हुआ है। हिन्दी के समृद्ध, उज्ज्वल और सशक्त पहचान के निर्माण में हिन्दी के साथ अहिन्दी भाषियों का महत्वपूर्ण योगदान हिन्दी भाषा की आरंभिक अवस्था से ही है।

हिन्दी के प्रति जागरूकता फैलाने और इस भाषा को अंतरराष्ट्रीय रूप से मजबूत करने के लिए 10 जनवरी को 'विश्व हिन्दी दिवस' मनाया जाता है। 'विश्व हिन्दी दिवस' पहली बार 10 जनवरी 2006 को मनाया गया था, तब से यह हर वर्ष 10 जनवरी को मनाया जाता है।⁷ 'हिन्दी विवेक' के अनुसार, "वस्तुतः इसी तारीख को वर्ष 1975 में मराठी भाषी पत्रकार अनंत गोपाल शेवडे के सत्प्रयास से नागपुर में पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित किया गया था।"⁸ जबकि 'हिन्दी दिवस' 14 सितंबर 1953 से प्रतिवर्ष 14 सितंबर को मनाया जाता है।⁹

हिन्दी की वैश्विक पहचान स्थापित करने में विदेशी हिन्दी प्रेमियों का भी सशक्त योगदान रहा है। इनमें गार्सा द तौसी (फ्रांस) को बहुत प्रतिष्ठा से याद किया जाता है। इनको पहला 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने का श्रेय प्राप्त है। फ्रेंच भाषा में लिखी हुई पुस्तक 'इस्त्वार द लितरेत्युर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि के रचनाकारों की जीवनियों, ग्रंथों एवं उद्धरणों को शामिल किया गया है।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (स्कॉटलैंड, इंग्लैण्ड) ने सर्व प्रथम तुलसीदास पर व्यवस्थित जानकारी उपलब्ध कराई। वे भाषाशास्त्री और इतिहासज्ञ होने के साथ-साथ भारतविद् भी थे। भारतीय भाषाओं से उन्हें गहरा लगाव था। इसी लगाव के कारण उन्होंने 1894 ई. से 1927 ई. तक संपूर्ण भाषा का अध्ययन 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' के नाम से किया। जो अंग्रेजी में ग्यारह खंडों में प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही उन्होंने 'मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नादर्न हिंदुस्तान' नामक हिन्दी साहित्य का इतिहास की रचना भी की। जिसका प्रकाशन सन् 1889 में हुआ। उनके अनुसार, "हिन्दी एक ऐसी भाषा है जिसमें विभिन्न प्रांतों के लोग आपस में बातचीत कर सकते हैं। यही भारत में सर्वत्र समझी जाती है, क्योंकि इसका व्याकरण भारत की अधिकांश भाषाओं के समान है और इसका शब्दकोश सबकी संपत्ति है। भारत की सच्ची आत्मा का ज्ञान हिन्दी द्वारा ही हो सकता है।"¹⁰

जार्ज गिलक्राइस्ट (इंग्लैण्ड) ईस्ट इंडिया कंपनी के डॉक्टर के पद पर कार्यरत होने के बावजूद उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा का अच्छा अध्ययन किया। जिसके फलस्वरूप 1800 ई. में स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदुस्तानी भाषा के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हुए। इन्होंने 'डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी' तथा 'ए ग्रामर ऑफ हिंदुस्तानी लैंग्वेज एंड द ओरिएंटल लिंग्विस्टि' की रचना की। इन्हें खड़ी बोली का जन्मदाता भी कहा जाता है।¹¹

फ्रेडरिक पिकाट का जन्म 1835 ई. में इंग्लैण्ड में हुआ था। वे हिन्दी और संस्कृत के अच्छे जानकार थे। उस समय के भारत और इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों में उनके अनेक हिन्दी विषयक आलेख छपते रहते थे। उनका पत्राचार भारतेन्दु हरिश्चंद्र से भी होता था, इससे सिद्ध होता है कि वे हिन्दी के बड़े समर्थक थे। हिन्दी के साहित्यकार कार्तिक प्रसाद खत्री को 1886 ई. में भेजे गए पत्र में उन्होंने लिखा था, "मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश के निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कार्यों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिए मैंने बार-बार हिन्दी भाषा को प्रचलित करने का उद्योग किया है।"¹²

फ्रेडरिक समन ग्राउस भी इंग्लैण्ड के ही निवासी थे। 1837 ई. में इनका जन्म इंग्लैण्ड के विल्डेस्टम में हुआ था। भारत में इनका आगमन जिलाधिकारी के रूप में हुआ। उत्तर प्रदेश के विभिन्न जनपदों में 1871 ई. से 1893 ई. तक जिलाधिकारी रहे। ये नागरी लिपि के प्रबल समर्थक एवं हिन्दी-प्रेमी थे। इन्होंने उर्दू मिश्रित हिंदुस्तानी का विरोध किया। सर्वप्रथम 'रामचरित

मानस' और 'ब्रजभाषा-साहित्य' का अंग्रेजी में अनुवाद तथा पहला कवि सम्मेलन कराने का श्रेय इनको दिया जाता है। आचार्य श्रीनारायण चतुर्वेदी के अनुसार, "हिन्दी का पहला कवि सम्मेलन कराने का श्रेय ग्राउस को ही है।"¹³ श्रीधर पाठक ने इनके निधन पर श्रद्धांजलि देते हुए एक शोक-कविता की रचना की थी।

आंदोलन स्मेलन चेक गणराज्य के प्रमुख शिक्षाविद् एवं भारत में राजदूत थे। उनकी आत्मा हिन्दी के समीप थी। उनको हिन्दी से और भारत से अगाध स्नेह था। उनके अनुसार :

“हिन्दी ज्ञान,
मेरे लिए अमृत पान,
जितनी बार उसे पीता हूँ..
उतनी बार लगता है
पुनः जीता हूँ।”¹⁴

फादर कामिल बुल्के (बेल्जियम) ने हिन्दी-अंग्रेजी कोश और राम कथा की उत्पत्ति और विकास पर पहला मानक शोध किया, जिसका शोध-प्रबंध पहली बार हिन्दी में जमा किया गया। लोठार लुत्से (जर्मनी) उन कुछ विद्वानों में से थे, जिन्होंने समकालीन हिन्दी रचनाओं और रचनाकारों से स्वयं को हमेशा जोड़े रखा। साथ ही भारतीय विद्या के बड़े ज्ञाता के रूप में प्रसिद्धि पायी। प्रकाश मनु के शब्दों में, “लोठार लुत्से हिन्दी जानने वाले उन विदेशी लेखकों में से थे जो भारत, भारत के लोगों और भारत की आत्मा से इस कदर एकाकार हो चुके हैं कि उन्हें 'आधा हिंदुस्तानी' समझ लिया जाए तो कोई अचरज की बात न होगी। उन्हें इतनी अच्छी और निर्दोष हिन्दी बोलते हुए सुनना खुद में एक अनुभव है, और हिन्दी साहित्य में उनकी पैठ इतनी गहरी थी कि कई बार उनकी बारीक सूझ और साधारण निष्कर्ष हमें चकित कर देते थे।”¹⁵

अलेक्सांद्र निकोलायेविच सिंकेविच (रूस) ने सभी महत्त्वपूर्ण समकालीन कवियों की रचनाओं का रूसी में अनुवाद किया। स्वयं इनकी रचनाएँ भी रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जैसे कवियों से अनुदित होकर 'दिनमान' में प्रकाशित होती थीं। इमरै बंधा (हंगरी) ने ब्रजभाषा और घनानंद की जीवनी पर कार्य किया। राबर्ट ह्युक्सडेट (अमेरिका) का उत्तर-आधुनिक हिन्दी साहित्य का परिचय अंग्रेजी के माध्यम द्वारा विश्व-साहित्य से करवाने में बड़ा योगदान है। सेलिना थिलेमान (जर्मनी) ने ब्रजभाषा की गायन परंपरा पर शोध के साथ मध्यकालीन भक्ति साहित्य के गायन की परंपरा को लेकर जितना कार्य किया है उतना शायद ही किसी भारतीय ने किया हो। हिन्दी को जीवंत सेतु-भाषा के रूप में बरतने वाले जेसन गूनबाम (अमेरिका) अनुवादों के साथ ही नये रचनाकारों को भी विश्व पटल पर लाने में महत्ती भूमिका निभाई है।

फ्रेंसेस्का और्सेनी (इटली) हिन्दी की पहली यूरोपीय रचनाकार हैं जिनका शोध-प्रबंध अनुदित होकर वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। इनका शोध-प्रबंध लोक-प्रवृत्ति को लेकर है जो बीसवें सदी के तीसरे दशक से लेकर पाँचवें दशक तक के हिन्दी समाज के प्रवृत्तियों को समझने में मददगार होंगी। जॉन क्रिश्चियन (इंग्लैण्ड) का महत्त्व खड़ी बोली हिन्दी की आरंभिक कविताओं की रचना के कारण अधिक है। इनकी भक्ति-संबंधी कविताओं को देखा जा सकता है :

“मन मरन समय जब आवेगा।

धन सम्पत्ति और महल सराएं, छूटि सबै तब जावेगा ॥
ज्ञान मान विद्या गुन माया, कैते चित उरझावेगा ॥
मृगतृष्णा जस तिरषित आगे, वैसे सब भरमावेगा ॥
मातु पिता सुत नारि सहोदर, झूठे माथ ठहावेगा ॥
पिंजर घेरे चैदिस विलपे, सुगवा प्रिय उड़ जावेगा ॥
ऐसो काल समसान समाना, कर गहि कौर बचावेगा ॥
जौन 'अधमजन' जौ विश्वासी, ईसू पार लगावेगा ॥
(श्रीवेंकटेश्वर-समाचार दैनिक के मार्गशीष, 1990 विक्रमी, शुक्रवार अंक से उद्धृत)¹⁶

मारिओला औफ्रेदी (इटली) व डॉ. रूफर्ट स्नेल (ब्रिटेन) का विशेष योगदान ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति काव्य परंपरा में सूरदास एवं अष्टछाप के कवियों से इतर बड़ी संख्या में कृष्ण कवियों के योगदान को स्वीकृति प्रदान की है, साथ ही अंग्रेजी से हिन्दी सिखाने के लिए मानक पुस्तकों के सृजन का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है। जिलियन राइट(ब्रिटेन) हिन्दी से अंग्रेजी के अनुवाद का औपचारिक आरंभ करने कर यूरोपीय भाषाओं का ध्यान आकृष्ट करने के लिए जानी जाती हैं। पीटर बारान्निकोव(रूस) का रामचरितमानस के रूसी अनुवाद, हिन्दी सिनेमा पर केंद्रित पत्रिका और हिन्दी अध्यापक के रूप में इनकी पहचान स्थापित हुई है।

रोनाल्ड स्टुअर्ट मेक्ग्रेगार (न्यूजीलैण्ड) को पश्चिमी दुनिया में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जाना जाता है। केंब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षक रहे मेक्ग्रेगार भाषा विज्ञानी, व्याकरण के विद्वान, अनुवादक और हिन्दी साहित्य के इतिहासकार थे। इनकी महत्वपूर्ण पुस्तक 'एन आउटलाइन ऑफ हिन्दी ग्रामर' हिन्दी व्याकरण की विशेष रचना मानी जाती है।

वर्तमान वैश्विक परिवेश में भारत की बढ़ती उपस्थिति हिन्दी का भी उन्नयन कर रही है। अंग्रेजी के महान नाटककार शेक्सपियर के घर तक में हिन्दी दाखिल हो चुकी है। साहू अखिलेश जैन के अनुसार, "विश्व में हिन्दी की बढ़ रही लोकप्रियता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि कुछ वर्ष पहले तक शेक्सपियर की जन्मस्थली पर हिन्दी का नाम अनुपस्थित था, आज शेक्सपियर के घर की दीवार पर विश्व की तमाम उन्नत भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी में उल्लिखित है कि यह महान कवि शेक्सपियर का जन्मस्थल है।"¹⁷

मॉरीशस, त्रिनिदाद, दक्षिण अफ्रीका, जावा, सुमात्रा, बर्मा, फिजी, घाना, सूरीनाम, नेपाल, अमेरिका आदि देशों में बसे करोड़ों भारतवंशियों की भाषा हिन्दी है। कई देशों में तो हिन्दी की शाखाएँ विकसित हो रही हैं। फिजी में 'फिजिबात', सूरीनाम में 'सरनामी', उज्बेकिस्तान और कजाकिस्तान में 'पारया', दक्षिण अफ्रीका में 'नेताली' हिन्दी की ही नई शैलियाँ हैं। यहाँ तक की कुछ शैलियों ने तो अपने व्याकरण और कोश भी बना लिए हैं।¹⁸

आज हिन्दी अपने घर में ही उपेक्षा की शिकार हो रही है। अंग्रेजी को अच्छी और श्रेष्ठ भाषा मानना हमारी गुलाम मानसिकता का द्योतक है। राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में, "साहेब लोगों का डंडा सिर पर था, उनका राज था, इसलिए अंग्रेजी बोली बहुत अच्छी भाखा थी, वह देवताओं की भाखा से बढ़कर थी।"¹⁹

रोजगार के लिए अंग्रेजी का समर्थन आज फैशन बन गया है। 'अंग्रेजी शिक्षा' और 'अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा' दोनों में अंतर है, जिसे समझने की आवश्यकता है। किसी खास स्तर

पर किसी भाषा का अध्ययन कोई गलत कदम नहीं है, परन्तु बिना तर्क के तथा अपनी कमियों को ढँकने के लिए किसी दूसरे देश की भाषा को 'शिक्षा का माध्यम' बना देना उचित नहीं है। इससे न केवल एक खास वर्ग का देश पर प्रभुत्व स्थापित हो रहा है, बल्कि समान अवसर न मिलने से प्रतिभाएँ कुंठित भी हो रही हैं। रोजगारपरक शिक्षा के बहाने अंग्रेजी को 'शिक्षा का माध्यम' बनाया जाना हास्य उत्पन्न करता है। शिक्षा का उद्देश्य जहाँ राष्ट्रीय और नैतिक चरित्र का निर्माण तथा मानवीय मूल्यों का विकास माना जाता था; उसे रोजगार का एकमात्र साधन बना देना, सही नहीं है। यहाँ आलोक श्रीवास्तव का कथन द्रष्टव्य है, "शिक्षा के उद्देश्य के रूप में लगातार आजीविका पर गैरजरूरी बल दिया जा रहा है, इसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षा से मूल्य और मनुष्यता का विलोप हुआ है, जबकि यह बहुत बड़ा सच है कि शिक्षा का रोजगार से वैसा प्रत्यक्ष संबंध हो ही नहीं सकता, क्योंकि जब अर्थव्यवस्था रोजगार उत्पन्न न कर सके तो आजीविका के लिए शिक्षित होने मात्र से रोजगार कैसे मिल जाएगा? यानी यह मामला ऐसा है कि समस्या की जड़ कहीं है, इलाज कहीं किया जा रहा है।"²⁰

ज्यादतर भारतीय अंग्रेजी की मोहपाश में जकड़े हुए हैं, परन्तु उनको पराधीनता के अदृश आवरण का एहसास नहीं है। 02 फरवरी 1835 को मैकाले द्वारा दिया गया संसदीय भाषण स्पष्ट करता है कि किसी भी आक्रमण से ज्यादा घातक भाषा का आक्रमण होता है। मैकाले के शब्दों में, "मैं नहीं समझता कि इस देश को हम विजित कर लेंगे, जब तक कि हम इसके सांस्कृतिक एवं नैतिक मेरुदंड को तोड़ न दें। इसलिए मैं यह प्रस्तावित करता हूँ कि हम भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति एवं संस्कृति को बदल दें, क्योंकि यदि भारतवासी यह सोचने लगें कि जो विदेशी एवं अंग्रेजी है वह उनके अपने आचार विचार से अच्छा एवं बेहतर है, तो वे अपना आत्म-सम्मान एवं संस्कृति खो देंगे तथा वे एक पराधीन कौम बन जाएंगे, जो हमारी चाहत है।"²¹ हम अपने देश को अथवा स्वयं को स्वतंत्र मानते हुए भी भाषा के स्तर पर परतंत्र हैं। राजनीति के मामले में हम भले ही आजाद हो गए हो परन्तु, अन्य किसी भी स्तर पर हम आजाद नहीं हो पाए हैं। न शिक्षा के स्तर पर, न सांस्कृतिक स्तर पर, न भाषिक स्तर पर, न सामाजिक स्तर पर, न सभ्यता के स्तर पर और न ही आर्थिक स्तर पर। मैकाले ने बिना कोई हथियार उठाए एक छोटा-सा काम कर दिया जो हमें आज तक मानसिक गुलाम बना रखा है। हम अपनी उत्कृष्टता के बावजूद जानबूझकर अन्जान बने हुए हैं।

हिन्दी हमारी स्वतंत्रता और अस्मिता का प्रतीक है और अंग्रेजी गुलामी का। माना कि अंग्रेजी का ज्ञान जरूरी है फिर भी इसके लिए अपनी अस्मिता और अपनी भाषा की बलि नहीं दे सकते। वर्तमान की अंग्रेजी केंद्रित शिक्षा प्रणाली न सिर्फ समाज के बड़े तबके को ज्ञान से वंचित कर रही है, बल्कि यह हमारी संस्कृति, हमारी भाषा, हमारे ज्ञान के प्रति हीनता की भावना पैदा कर रही है, जो सही नहीं है। यही बात उच्च शिक्षा पर भी लागू होती है। आलोक श्रीवास्तव के शब्दों में, "उच्च शिक्षा की सारी व्यवस्था अमीर तबके के लिए है, जिसे अंतिम रूप से सुनिश्चित करने के लिए अंग्रेजी का माध्यम के रूप में अप्रश्नेय इस्तेमाल है। यह प्रत्यक्ष तौर पर एक वर्ग का शिक्षा पर और शिक्षा के जरिए उच्चस्तरीय नौकरियों पर संपूर्ण और अभेद आरक्षण है। इस लक्ष्य के लिए एक विदेशी और औपनिवेशिक भाषा का दुरुपयोग है। जिसका परिणाम राष्ट्रव्यापी हीनभावना का संचार है, प्रतिभा का हनन है और शिक्षा का संपूर्ण और एकमात्र लक्ष्य अर्थव्यवस्था और सुविधाओं में एक बहुत छोटे से वर्ग का एकाधिकार है।"²² महात्मा गाँधी के शब्द 'कोई भी राष्ट्र नकल करके बहुत ऊपर नहीं उठता है और महान नहीं बनता है।' हमें सदैव याद रखना चाहिए।

आज यह धारणा है कि अंग्रेजी सर्वव्यापी है, सभी विकसित राष्ट्रों की अभिव्यक्ति का साधन अंग्रेजी ही है। जबकि ऐसा बिलकुल भी नहीं है, सच्चाई इससे बिलकुल अलग है :

देश	भाषा	देश	भाषा	देश	भाषा
अमेरिका	4 भाषाएँ	इंग्लैण्ड	6 भाषाएँ	ईरान	फारसी
रूस	रूसी	कनाडा	3 भाषाएँ	इजरायल	हिब्रू
चीन	मंदारिन	ताईवान	मंदारिन	ब्राजील	पुर्तगाली
जापान	जापानी	स्वीडन	स्वीडिस	इटली	इटालियन
जर्मनी	जर्मन	स्पेन	स्पेनिस	आयरलैण्ड	आयरिस
फ्रांस	फ्रेंच	आस्ट्रेलिया	जर्मन	भारत	अंग्रेजी सहित 22

(स्रोत: आजकल : सं. फरहत प्रवीन, सितम्बर 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, ISSN-0971-8478से साभार)²³

इतना ही नहीं, राष्ट्रीय ज्ञान आयोग द्वारा सन् 2009 में करवाए गए राष्ट्रीय सर्वेक्षण के अनुसार भारतवर्ष में अच्छी अंग्रेजी जानने वाले लोगों की संख्या कुल जनसंख्या का केवल आधा प्रतिशत (0.5 प्रतिशत) ही है।²⁴

हिन्दी भाषी राज्यों के साथ ही अहिन्दी भाषी राज्यों और विभिन्न देशों में हिन्दी बोलने वालों तथा समर्थन करने वालों की संख्या व्यापक है। अहिन्दी भाषी हिन्दी-सेवियों, साहित्यकारों, पत्रकारों, शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों, विद्वानों, पाठकों तथा अध्येताओं का हिन्दी के प्रचार, प्रसार, विकास, उन्नति और स्वीकृति में जितना अवदान है, वह न केवल प्रेरक व प्रशंसनीय है बल्कि अनुकरणीय भी है।

संदर्भ सूची :

1. हिन्दी साहित्य ज्ञानकोश : प्र.सं. शंभुनाथ, खण्ड-5, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, प्रथम संस्करण : 2019, पृ.सं.-2609,
2. साहित्यिक निबंध : डॉ. गणेश प्रसाद, गुडमैन (पी. एण्ड डी.) लंगर टोली, पटना, संस्करण : 2014, पृ.सं.-42,
3. शुद्ध हिन्दी बनाम अशुद्ध हिन्दी : प्रभात रंजन, प्रभात खबर : राजेन्द्र तिवारी, वर्ष-20, अंक-105, 18 अगस्त 2016, पटना संस्करण, पृ.सं.-08,
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं. डॉ. नगेन्द्र और डॉ. हरदयाल, मयूर पेपरबैक्स, नौएडा, प्रथम संस्करण : 1973, पैंतीसवां पुनर्मुद्रण : 2009, पृ.सं.-16,
5. उन्नति की भाषा : शशि शेखर, हिंदुस्तान : प्रधान संपादक शशि शेखर, संपादकीय, 14 सितम्बर 2016, पटना संस्करण, पृ.सं.-10,
6. आजकल : सं. फरहत प्रवीन, सितंबर 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.सं.-08,
7. <https://aahtak.intoday.in/education/story/international-hindi-day-2020-know-all-about-tedu-1-1153547.html>
8. <http://hindivivek.org/992>

9. <https://ajtak.intoday.in/education/story/international-hindi-day-2020-know-all-about-tedu-1-1153547.html>
10. आजकल : सं. फरहत प्रवीन, सितम्बर 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.सं.-10,
11. वही, पृ.सं.-10,
12. वही, पृ.सं.-10,
13. वही, पृ.सं.-11,
14. वही, पृ.सं.-11,
15. आजकल : सं. फरहत प्रवीन, मई 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.सं.-14,
16. विदेशी विद्वानों की हिन्दी सेवा : प्रभात रंजन, प्रभात खबर : राजेन्द्र तिवारी, 14 सितंबर 2016, पटना संस्करण, पृ.सं.-11,
17. नया ज्ञानोदय : सं. साहू अखिलेश जैन, अंक-54, अगस्त 2007, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ.सं.-06,
18. <http://hindivivek.org/992>
19. भागो नहीं (दुनिया को) बदलो : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1944, तेरहवाँ संस्करण : 1987, पृ.सं.-162,
20. अहा! जिंदगी : सं. आलोक श्रीवास्तव, सितंबर 2016, भूमिका भाग, पृ.सं.-05,
21. “We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern; a class of persons, Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, in morals and in intellect.”
सभ्यता और संस्कृति के साथ भाषा का संबंध : के. आर. चौहान, आजकल : सं. फरहत प्रवीन, सितम्बर 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.सं.-13,
22. अहा! जिंदगी : सं. आलोक श्रीवास्तव, सितंबर 2016, भूमिका भाग, पृ.सं.-05,
23. आजकल : सं. फरहत प्रवीन, सितम्बर 2015, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृ.सं.-13,
24. वही, पृ.सं.-13

कलाकांत त्रिपाठी के उपन्यासों में चित्रित किसान जीवन

विनोद कुमार

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कमलाकांत त्रिपाठी की औपन्यासिक दृष्टि की विशेषता यह भी है कि वे लोक मानस, लोक विश्वास, धार्मिक कर्मकांड व रूढ़ियों को उसके संदर्भ से काटकर पिछड़ेपन व अंधविश्वास की शब्दावली से खारिज नहीं करते बल्कि उसे लोक प्रतिरोध का संदर्भ देते हुए नया कलेवर प्रदान करते हैं। 'पाहीघर' का यह अन्तिम दृश्य कुछ ऐसा ही है—

“जिस समय 'पाहीघर' में रोना-पीटना मचा था, अहिरान के लोग जैकरन के चौरे पर गुड़हल के फूल, लगेटी, टुबडाऊ और सिखरन चढ़ा रहे थे। दुबेली की मौत की खबर ने जैकरन को प्रेत से ऊपर उठाकर ग्राम देवता की श्रेणी में रख दिया था।”¹

'बेदखल' में उपन्यासकार अवध के किसान आन्दोलन की सीमा और राष्ट्रीय आन्दोलन को भी रेखांकित करते हैं। उपन्यासकार नेहरू और किसान आन्दोलन की समक्षता के प्रसंग द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—

“चारों ओर दूर-दूर तक सीताराम की आवाज गूँज रही थी, चिलचिलाती धूप में अनगिनत बच्चे, बूढ़े, जवान, औरत, मर्द फसल कटने से खाली पड़े खेतों से होकर दौड़े जा रहे थे। नेहरून ने देखा कि चिथड़ों में लिपटे, नंगे-भूखे लोगों की आँखों में एक अनोखी चमक थी और वे अन्दर ही अन्दर सिहर उठे। यह कैसी दुनिया है, कैसा हिन्दुस्तान? हम शहरों में राजनीति करते हैं, उसके सामने कितनी ओछी है। कांग्रेस और उसके लीडर असलियत से कितनी दूर हैं, हम क्या कर पाएंगे इनके लिए? आखिर में ये कितने निराश होंगे।”²

वास्तव में कितना ही मार्मिक और नग्न यथार्थ है। अपने खेत से बेदखल सुचित कुर्मी की किसान निराश व हताश मनोदशा के मूल में उत्पीड़ित किसानों की यँ अभिव्यक्त करता है—

“आन्दोलन वगैरह की बातें उसे फिजूल लगती, कहाँ इलाहाबाद कहाँ नेहरू और टण्डन की सभा— कहीं-कहीं बातें और कहाँ पदारथ का यह व्यवहार। क्या करेगी किसान सभा और क्या करेंगे बाधा। तालुकेदार को तो जाने दो, जिसकी चलने लगती है, वहीं आग उगलने लगता है। आदमी यह आदमी का अत्याचार क्या ऐसे ही चलता रहेगा।”³

कमलाकांत त्रिपाठी गाँव की जिंदगी की परतों में छिपे दर्द को अनंत समुद्र में दाखिल होते हैं।

सरयू से गंगा में जब इब्राहिमपुर से भानेपुर की दो-तीन कोस की यात्रा लेखीपति ने की तो उसका वर्णन देखें—

“उस दिन दोहरीघाट में न्योहड़ और उपलों का इंतजाम करते-करते और बनाते-खाते शाम हो गई थी, जाड़े का दिन होता ही कितना बड़ा है। इधर से आया, उधर गया, लोग खा-पी कर देह जरा सीधी ही कर रहे थे कि शाम उतर आई, अंधेरी पाख, गोधूलि का कुहासा देखते-देखते धूप अंधेरे में बदल गया। वैसा खराब समय, अनजाना रास्ता और साथ में जनाना-सवारी आगे बढ़ने की सलाह कौन देता? नाई ने कहा- कल तो कोई नदी पार करने की झंझट है नहीं, आज का हाँवक कल पूरा कर लेंगे.....।”⁴

‘कमलाकान्त त्रिपाठी ने अपने तीनों ही उपन्यासों में किसानों के यथार्थ जीवन का भलीभाँति सजीव व मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। उन्होंने कृषक जीवन और उसके समाज को अत्यन्त गहराई से समझा और उसे अपने भावनाओं में अभिव्यक्त किया। वह कहानीकार कम उपन्यासकार ही ज्यादा हमारे सम्मुख आते हैं। अपनी संवेदनाओं को वे एक कुशल चित्रकार की भाँति अपने कैनवास पर उकेरे चले जाते हैं। अपने तीनों उपन्यासों में उन्होंने किसानों की मूलभूत समस्याओं से जनमानस को अवगत कराया। हर उपन्यास व उसके पात्र अपने आप में एक दूसरे से गुथे हुए हैं। कहीं भी बोझिलता नहीं है। आज भी किसान अभाव की जिन्दगी गुजार रहे हैं। मुट्ठी भर सुविधाएं सिर्फ कागजी कारवाई पर ही सीमित हुई हैं। बेबस व लाचार किसानों के जीवन में प्रकाश कम व अंधेरा ज्यादा है।

ग. किसान जीवन एवं कमलाकान्त त्रिपाठी के उपन्यास-

सामाजिक, आर्थिक, विश्लेषक ‘सुनील’ ने किसान के बारे में लिखा है कि-

“किसान व खेतिहर मजदूर में द्वन्द्व तो है लेकिन यह बुनियादी द्वन्द्व नहीं है जो किसान आन्दोलन, नव औपनिवेशिक शोषण और आन्तरिक उपनिवेशकों के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में चीजों को देखेगा। वह उससे संघर्ष के लिये खेतिहर मजदूरों को अपने साथ लेने का प्रयास करेगा। यदि किसान और खेतिहर मजदूर एक हो गए तो बड़ी ताकत पैदा होगा जो पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, ग्लोबीकरण और साम्प्रदायिकता का मुख्य बला कर सकेगी।”⁵

भारत की पहचान एक कृषि प्रधान राष्ट्र के रूप में रही है। स्वाधीनता पूर्व यहाँ की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती थी आज यह आँकड़ा कम तो हो गया है परन्तु अभी भी हमारे देश में गाँव बहुतायत में हैं। जहाँ स्वाधीनता के 72 वर्षों बाद भी मूलभूत सुविधाओं का अभाव है। ग्रामीण समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि व कृषि आधारित है, परन्तु दुर्भाग्य आज भी हमारे किसानों की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है। आज भी वे ऋण के बोझ तले दबा हुआ आत्महत्या करने को विवश है। आज प्रत्येक वस्तु की कीमत आसमान पर है परन्तु किसान इन बढ़ती कीमतों का साझेदार कभी नहीं बन पाता, बिचौलिये और व्यापारी उसकी मेहनत का भरपूर फायदा उठाते हैं और किसान उसी गरीबी और बदहाली में अपने दिन काटता है।

20वीं सदी की शुरुआत से ही किसानों की दशा, दुर्दशा, समस्याएं उनके विरोध, मुखरता तथा सक्रियताओं को हिन्दी के रचनाकार सम्मुख लाते रहे हैं। कमलाकान्त त्रिपाठी ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने भारतीय किसान की दयनीय स्थिति के प्रति अपनी गहरी सहानुभूति ही नहीं बेचैनी और चिन्ता भी व्यक्त की है। उन्होंने किसानों के शोषण, बदहाली और संघर्ष के

प्रामाणिक व यथार्थ चित्र उनके उपन्यास में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। 'पाहीघर' और 'बेदखल' उपन्यास में 1857 ई० से 1920 ई० तक के काल में अंग्रेजों के साथ मिलकर तालुकेदारों और जमींदारों द्वारा गरीब किसानों का शोषण तथा किसानों द्वारा शोषण के विरुद्ध संगठित होकर लड़ाई लड़ने को अपना विषय बनाया। बेदखल में झिंगुरी सिंह कहता है—

“सन् अट्ठारह सौ अड़सठ में अवध लगान कानून लागू हुआ था। तब से किसानों की दुर्दशा लगातार बढ़ती जा रही थी। बहुत शोर-शराबे के बाद सन् छियासी में कानून में तब्दीली हुई और किसानों को सात साला हक मिला। अब कानून सात साल तक लगान में बढ़ोत्तरी नहीं हो सकती थी और उसके बाद भी रूपया एक आना ही लगान बढ़ाया जा सकता था। कुछ दिन राहत रही, लेकिन फिर वहीं ढाक के तीन पात। शेर के सामने बकरी बैठी हो तो उसकी क्या दशा होगी। तालुकेदारों के पास हजारों हथकंडे, लगान अदा नहीं हुआ। इस बिना पर बेदखली काश्तार मर गया, इस बिना पर बेदखली। बेदखली से बचना है तो नजराने का इन्तजाम करो।”⁶

उपन्यासकार ने जहाँ किसान वर्ग को केन्द्र में रखा वहीं किसान आन्दोलन की भी व्याख्या की। उनके तीनों ही उपन्यासों की कथा भूमि अवध ही रही है। अवध का क्षेत्र 1857 का सबसे उग्र रूप वहीं दिखाई पड़ा था तथा बाद के दौर में किसान आन्दोलन का प्रारम्भ भी वहीं से हुआ था। यही कारण है कि अवध को केन्द्र बनाकर आज भी राष्ट्रवादी विमर्श के उपन्यास लिखे जा रहे हैं।

‘पाहीघर’ के सन्दर्भ में “वीरेन्द्र कुमार बरनवाल” का वक्तव्य है कि—

“उपन्यास में कथा की दो समानान्तर धाराएँ हैं— एक तो पाहीघर और उसके परिवेश के इर्द-गिर्द घूमती है, दूसरी गजेटियरों और अभिलेखागारों के दस्तावेजों से मिलकर अपना ब्यौरेवार विस्तार करती है। ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण जगह-जगह दिलचस्प है। लड़ाइयाँ और मुठभेड़ों के सटीक और सजीव ब्यौरे वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों की याद ताजा कर देते हैं। दुबेली और समर सिंह वह पुल हैं जो दोनों धाराओं को जोड़ते हैं, लिपिबद्ध और शोधजन्य इतिहास से इतर आलोच्य जगत से चुनी गई कथावस्तु और अपनी जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक बुनावट के लिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अवध में लहकते सुलगते किसान जीवन की प्रस्तुति ही मूलतः रचनाकार का अभीष्ट है।”⁷

‘पाहीघर’ में दुबेली सिंह, सुमेर सिंह, भवानी प्रसाद चौबे और ठाकुर काली बख्श ऐसे गरीब पृष्ठभूमि के फौजी थे जो—

“सात रूपये महीने की पगार पाने और इसमें भी कई तरह की कटौतियाँ हो जाने के बावजूद आराम से रहते थे और पेंशन लेकर गाँव लौटने पर कोई कुआँ, तालाब या मन्दिर जरूर बनाते थे।”⁸

‘बेदखल’ में पदारथ महाराज भी सवर्ण सामंती अकड़ के विरोध में उपन्यासकार मुखर विरोध की अभिव्यक्ति औपन्यासिक कथ्य पर अपने मनोगत निष्कर्ष लादने से बचते हैं। नीची जातियों के किसानों के दमित क्रोध की उचित परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हुए वह इस तथ्य को

औपन्यासिक काव्य में विन्ध्वस्त करता है कि जो सुचित पदारथ की मार खाते-खाते बेदम हो गया था, लेकिन चूँ तक नहीं की थी, उसी ने पंडित सालिकराम के बेटे को बचाने के लिए पदारथ के छोटे बेटे को धक्का देकर पीछे ढकेल दिया और चट्टान की तरह खड़ा हो गया। यहाँ उपन्यासकार निम्न किसान जातियों के प्रतिरोध का विमर्श ग्रामीण सामंती संरचना की अतिरिक्तता में ही निर्मित करता है, क्योंकि यहाँ व्यक्तिगत प्रतिरोध की कोई कारगर भूमिका नहीं है और सामूहिक प्रतिरोध सामंती समाज की आन्तरिक टूटन के बिना संभव नहीं है।

सामंती समाज की आन्तरिक टूटन का ही परिणाम था कि सहदेव सिंह, झिंगुरी सिंह व ठाकुर दीन सरीखे कुलीन सवर्ण समुदाय के लोग अवध के उत्पीड़ित किसानों का नेतृत्व कर रहे थे और साधु सालिक राम जैसे लोगों की सहानुभूति भी सुचित जैसे किसानों के साथ थी। यही कारण था कि निचली जाति के किसानों में उच्च सवर्ण किसान नेतृत्व के प्रति संशय का भाव था जिसे उपन्यासकार शब्दों में व्यक्त करता है—

“ठाकुरहीन किसानों की बिरादरी में कहीं ठीक नहीं बैठते थे, लिहाजा एक बार, शुरुआत हो जाने के बाद आंदोलन उन्हें छोड़कर आगे बढ़ गया था। सुचित के भीतर जो उथल-पुथल मची थी, उसके पीछे अस्पष्ट सी उभरती यही चेतना थी जिसमें बाधा और झिंगुरी सिंह और सालिकराम तक थोड़ा अलग-अलग दिखाई पड़ते थे।”⁹

‘सरयू से गंगा’ में ब्रिटिश किसानों का किस तरह से उत्पीड़न करते हैं इसका एक उदाहरण अवलोकनीय है—

“बदनसीब बादशाह (दो साल बाद उसे गद्दी से उतारा जायेगा, पहले उसकी आँखें निकाली जायेगी और फिर बेहद, अपमानजनक ढंग से फाँसी दी जायेगी को क्या पता रहेगा कि कंपनी की ताकत और दबदबा बढ़ने के साथ इस छूट का इस्तेमाल कंपनी के भारकुमन धींगामुस्ती से अपने निजी व्यापार के लिये भी करने लगेंगे और तो और इसके लिए शासन से मिलने वाले शाही दस्तक (हुक्मनामा) देशी व्यापारियों को बेचकर भी पैसा बनाने लगेंगे, फिर कंपनी के गुमाश्त किसानों, बुनकरों और कारीगरों को पेशगी देकर सिर्फ कंपनी और उसके कारकुनों के लिए काम करने पर मजबूर करेंगे और इस तरह की पेशगी से हुई उपज और बने माल को जोर-जबरदस्ती से आधे-तीहें दाम पर कंपनी या उसके कारकुनों को ही बेचने पर मजबूर करेंगे। पेशगी लौटाने से उनकी जान नहीं छूटेगी।”¹⁰

‘सरयू से गंगा’ में साधु आकर बूढ़ा (माँ) बातों-बातों में उसके जवान बेटे की मृत्यु का समाचार कहता है। बूढ़ा यह सुनकर अन्दर ही अन्दर हिल गई। बहुत को अभी पता नहीं है। वह पेट से है बहू माँ को खाने के लिए बोलती है पर वह खाने को मना कर देती है यह उदाहरण देखिये—

“बूढ़ा बाहर का दरवाजा बन्द कर आँगन में लेटी, बहू काम निपटा कर उनके हाथ-पैर दबाने आई तो उन्होंने पैर सिकोड़ कर मना कर दिया। आँगन में ओस पड़ रही थी। रात गहराने के साथ बारीक जलकणों का मामूली-सा स्पर्श महसूस होता था। बहू ने उन्हें अन्दर चलकर लेटने को कहा, अंधेरे में कुछ देर वे चुपचाप उसकी ओर देखती रही, फिर हाथ से जाने का

इशारा कर, सर चादर खींच ली और गुड़ी-मुड़ी होकर पड़ रही। बहू को इतना तो समझ में आ गया था कि जोगी से कोई ऐसी बात हुई है कि बूढ़ा अंदर तक हिल गई हैं, किन्तु आगे ज्यादा कुछ सोच पाने की उसकी अभी उम्र नहीं थी, वह अपनी कोठरी में जाकर लेट गई।¹¹

‘सरयू से गंगा’ उपन्यास में प्लासी का युद्ध (1757) समाप्त हो गया। अवध के नवाब सिराजुद्दौला, दिल्ली का बादशाह शाहआलम द्वितीय और मीर कासिम (मीर जाफर का दामाद) और अंग्रेजों के बीच संधि हो गई। इस युद्ध में लाखों सैनिक मारे गये। मारे जाने वाले अधिकांश भारतीय ही थे। अंग्रेजों ने दस्तक और लगान की मात्रा ज्यादा कर दिये वे जिसके परिणामस्वरूप किसानों की स्थिति बंद से बंदतर होती गई, ईस्ट इण्डिया कंपनी अपनी ही मनमानी करती गई। एक उदाहरण देखिए—

‘उधर कंपनी के गुमाशतों की मनमानी से आजिज आ गए। बुनकर और दस्तकार भी काम छोड़कर गाँवों की ओर पलायन कर रहे हैं। वहाँ ऊँचे लगान पर छोटी-छोटी काशत का जुगाड़कर अलाभकारी खेती करने नहीं तो खेत मजदूर बनकर खटने के अलावा उनके सामने और कोई चारा नहीं है और वे अपने पुश्तैनी पेशे के चलते दोनों कामों के लिये एकदम नौसिखिए और शारीरिक रूप से अक्षम है।’¹²

‘सलाम’ अभिवादन के साथ जुड़ी दास भावना की पुष्टि ‘बेदखल’ में उपन्यासकार ने इस प्रकार अभिव्यक्त की है—

‘पूरे सीवान में दहशत की लहर दौड़ गई, किसान खरमिटाव छोड़कर उठ खड़े हुए। जिलेदार का घोड़ा करीब आया तो अन्दर-अन्दर काँपते हुए उन्होंने सलाम बजाया और सिर झुका लिया।’¹³

जब ‘बेदखल’ में साधु सालिकराम अपने जंगल की वापसी के लिये अनशन करते हैं तो तालुकेदारिन अपने कान-कूनों को निर्देश देती है—

‘बाभन हमारे ऊपर जान दे, यह मैं नहीं होने दूँगी, पहले कभी ऐसा हुआ था? पहले भी तो लगान वसूल होता था।..... बाभन को उठाइए उसको खिलाने-पिलाने का बन्दोबस्त करिए।’¹⁴

खाटी किसानों की जीवन की एक झलक देखिए—

‘दोनों हलवाहे बैल-हल लेकर चले गये तो वे मड़हे के कोने में रखी चौकी पर बैठकर पूजा करने लगे। तभी बाँस की टूटी छतरी लगाए, काँख में एक फटी-पुरानी पिछौरी दबाए उधारे वदन एक आदमी आता दिखा। पास आने पर उसने झुककर पैलगी की और छतरी एक किनारे रखकर चौकी के सामने खड़ा हो गया। सालिकराम ने सिर उठाकर हाथ के इशारे से उसे बैठने को कहा।’¹⁵

कमलाकान्त त्रिपाठी जी ने ‘बेदखल’ उपन्यास में कहीं-कहीं किसानों के पूजा-पाठ को भी बड़े ही तन्मयता के साथ व्यक्त किया है—

“बुढ़ऊ का नियम था, पूजा खत्म होते ही सीधे भोजन के लिये उठ जाते थे। पीढ़ा-पानी न रखा हो तो बहुओं की शामत ही आ जाती थी।”¹⁶

‘बेदखल’ में बाबा रामचन्द्र से किसानों की दुर्दशा देखा नहीं जाता था उन्होंने घूम-घूकर महाजनों को समझाया, सबके खेत में बीज पड़ेगा और सबका पेट भरेगा तभी वे भी चैन से रह पायेंगे। पर महाजनों के सिर पर जूँ नहीं रेंगी। तभी एक घटना घटती है जिससे अब किसानों में भी हिम्मत आने लगती है। यह देखिए—

“जौनपुर जिले की सरहद से लगा एक गाँव था ‘कुटिया’, ठाकुरदीन सिंह कुटिया के भूमिधर किसान थे और राजाबाजार रियासत की पट्टीदारी में आते थे। रियासत में अहलकार भी थे। वहाँ के मैनेजर जनक सिंह से लगान के कुछ पैसों को लेकर अनबन हुई, उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। तालुकेदार ने बुलाकर समझाया तो कुछ जद्द-बद्द कह दिया। ठाकुरदीन को ताव आ गया। झिड़ककर चले आये औ बगावत शुरू कर दी। किसानों में गरमाहट पहले से थी। बिसार न पाने से वे और भी बौखलाए हुए थे। ठाकुरदीन ने सही वक्त पर चोट की, पहले तो किसानों को लगान न देने के लिए उकसाया और जब बेदखली का फर्मान लेकर रियासत का सिपाही उनके गाँव पहुँचा तो उन्होंने फर्मान के टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिये। सिपाही जान लेकर भागा, किसानों की हिम्मत बढ़ गई। वे महाजनों की गाड़ी पर धावा बोलने लगे।”¹⁷

‘पाहीघर’ में किसानों के घर खुशियाँ आती हैं तो उसका दृश्य देखिए—

“संयोग की बात, उसी साल दुर्बली के लिये भी देखुआर आ गए। भोलमपुर के पास के एक गाँव में उसकी भी शादी तय हो गई थी। इतने दिन बाद घर में कोई शुभ काम हो रहा था। किसी का उत्साह ही धरा नहीं करता था। दूर-दूर के रिश्ते की बहन बेटियाँ आनकर आईं। कामकाज संभालने के लिये कान्ति और भीलमपुर से कई औरतें आईं। कई दिन पहले से ही घर में भीड़-भाड़ हो गया। रात में औरतें खाना-पीना खाकर आँगन में कथरी बिछाकर गीत गाने बैठतीं।”¹⁸

निष्कर्ष: कमलाकान्त त्रिपाठी एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो देशकाल के विविध परिस्थितियों को किसान जीवन के माध्यम से अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किये हैं। उन्होंने बेहद अभाव की जिन्दगी जीने वाले व आधुनिक सुविधाओं से वंचित हिन्दुस्तान के गरीब किसानों को अपने विषय का माध्यम बनाया। उनके उपन्यासों में मानवीय भावनायें और एहसासों का संस्पर्श है। अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति हेतु चलाये गये स्वाधीनता संग्राम के दौरान सदियों से किसानों पर थोपी गई सवर्ण और उच्च समाज की गुलामी से मुक्ति हेतु गाँधी और नेहरू द्वारा चलाये गये स्वतंत्रता की भी गंध उपन्यास में मिलती है। जब हम बेदखल उपन्यास में बाबा रामचन्द्र को देखते हैं तो हमें सहज ही स्वामी सहजानन्द सरस्वती की याद आ जाती है। उनके उपन्यासों में स्वाधीनता आन्दोलन की भी कथा चलती है जो स्वभावतः उसके मूल में है।

संदर्भ :

1. पाहीधर, पृ0 192
2. बेदखल, पृ0 188
3. बेदखल, पृ0 121
4. सरयू से गंगा, खण्ड-6, पृ0 210
5. किसान आन्दोलन : दशा और दिशा, किशन पटनायक, संपादक सुनील, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2006, पृ0 15
6. बेदखल, द्वितीय संस्करण, 2000, पृ0 41
7. वीरेन्द्र कुमार बरनवाल, पक्की रोटी माटी की अवसाद भरी गंध, हंस, जुलाई 1992, पृ0 79
8. पाहीधर, पृ0 29
9. बेदखल, पृ0 42
10. सरयू से गंगा, खण्ड ग्यारह, पृ0 47
11. सरयू से गंगा, खण्ड-दो, पृ0 12
12. सरयू से गंगा, खण्ड-ग्यारह, पृ0 48
13. बेदखल, पृ0 19
14. वही, पृ0 32
15. बेदखल, पृ0 11
16. वही, पृ0 12
17. बेदखल, पृ0 137
18. पाहीघर, पृ0 48

किसान के आँसुओं का सैलाब 'फॉस'

डॉ० रवीन्द्र कुमार यादव

9452474141

“जमीन जल चुकी है, आसमान बाकी है,
दरख्तों तुम्हारा इंतजार बाकी है
वो जो खेतों के मेड़ों पर उदास बैठे हैं,
बादलों अब तो बरस जाओ सूखी, जमीन पर,
मकान गिरवी है और लगान बाकी है।।”

किसानों की समस्याओं पर, जीवन पर, आत्महत्या रोकने की अपील करता यह अनुपम शिल्प भारतीय साहित्य की बेजोड़ कला कृति है। संजीव एक यथार्थवादी लेखक हैं। उनका मानना है कि ड्राइंगरूम में बैठकर जमीनी स्तर पर अनुभव नहीं अर्जित किये जा सकते हैं। इसलिए उनके सभी उपन्यासों में यथार्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। चाहे उनका उपन्यास 'किशनगढ़ की अहेरी' 1981 से लेकर अब तक के अंतिम उपन्यास 'फॉस' 2015 हो। कल्पनाशीलता का वे बहुत कम सहारा लेते हैं। यथार्थ से भी परे सच, आँखों देखा सच को ही वे अपने उपन्यास की विषयवस्तु बनाये हैं। खुद संजीव के शब्दों में, "महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, वर्धा में अतिथि लेखक के रूप में विदर्भ के 11 जिलों के किसानों की स्थिति को बहुत करीब से देखने, जानने और समझने का अवसर मिला जिसमें इतना विचलित हुआ कि मुझे लगा तीन लाख से अधिक किसानों की आत्महत्या से बड़ा मेरे लिए कोई लेखकीय सरोकार नहीं हो सकता।"¹

उन्होंने कहा उपन्यास में लिखी सारी बातें सच हैं और उपन्यास ने लिखते वक्त मुझे बहुत रुलाया है। उन्होंने कहा कि किसान की आत्महत्या देश की आत्महत्या है।

'फॉस' उपन्यास के केन्द्र में महाराष्ट्र का विदर्भ क्षेत्र है। महाराष्ट्र का यह इलाका सूखाग्रस्त है। इसमें भी विविधता है। उपन्यास के आरम्भ में ही इसका जिक्र मिलता है। "भला कोई कह सकता है कि सुखाड़ के ठनठनाते यवतमाल जिले के इस पूर्वी छोर पर 'बनगाँव' जैसा कोई गाँव भी होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला होगा आधा सूखा।"² यहाँ की कृषि पूरी तरह वारिश पर निर्भर होने से अक्सर वह घाटे में ही होती है। बनगाँव मराठा, महार, कुनबी, भाँग आदिवासी आदि की मिश्रित आबादी का गाँव है। उर्वर खेत उच्च जाति के तो बंजर खेत निम्न जाति के। अधिकतर नीची जाति के लोग मजदूर ही हैं। कमोवेश हर गाँव में यही स्थिति है। इसी गाँव में शिवशंकर और शकुन्तला अपनी कला और सरस्वती नामक दो बेटियों के साथ रहते हैं। इनकी कथा उपन्यास की एक प्रधान कथा के रूप में सामने आती है। उनकी आजीविका कृषि पर ही निर्भर है। दोनों अपनी बेटियों को पढ़ाते हैं। इसके लिए उन्हें गाँव वालों

के ताने सुनने पड़ते हैं। छोटी बेटा कला अपने ढंग से जिन्दगी जीती है जिसको लेकर पिता शिबू चिन्तित रहता है।

इधर अपनी खेती से भी वह लगातार मार खाता है। इसी कारण वह अपने परिवार वालों को कहता है, "इस बार तो फसल की कोई उम्मीद नहीं, दो चार किलों तुअर, बाकी कुछ नहीं। मुझे लगता है, मैं बीच मझधार में फँस गया हूँ। न आगे बढ़ पा रहा हूँ न लौट पा रहा हूँ। मेरी हालत अपने लालू जैसी होती जा रही है।"²

वह चाहकर भी गाय और बैल खरीद नहीं पाता। एक अपना और एक दूसरे का भैंसा जोतकर जैसे-तैसे खेती करता है। उसकी पत्नी उसकी और किसानों की दशा को भलीभाँति जानती है। वह यहाँ तक निष्कर्ष निकालती है कि इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है। बैल के मर जाने पर शिबू अन्दर से टूट जाता है। वह खेती छोड़कर शहर जाने की सोचता है, लेकिन पत्नी और लड़कियों को छोड़कर जा नहीं पाता। उसकी खेती छोड़ने की बात पर उसकी बेटा छोटी उसे कहती है "तुम ही नहीं, इस देश के सौ में से चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दें, अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। तुम लाख कहो कि तुम खेती छोड़ दोगे, नहीं छोड़ सकते। किसानी तुम्हारे खून में है।"³

नाना, मोहनदास, सदा आदि सभी किसान इसी अवस्था में जी रहे हैं, जहाँ किसानों का मतलब मौत है। यही किसान जीवन का यथार्थ है। शिबू कुँ के लिए सरकारी कर्जा लेता है जो उसके जीवन की पूरी खुशी शोख लेता है। अब तो खेती की उपज भी कर्ज की भेंट चढ़ानी पड़ती है। यह कर्ज उसकी आत्मा को बंजर बना देता है। दो बेटियों के विवाह की चिन्ता उसे सताती रहती है। उपर से कला जैसी लड़की को गाँव में नाहक बदनाम किया जाता है। इन सबसे परेशान शिबू अंततः आत्महत्या कर लेता है। पति की मृत्यु के बाद शकुन टूट जाती है लेकिन हार नहीं मानती। वह दोनों बेटियों का विवाह करती है। वह अपने ही खेत में मजदूर बन जाती है। उसे अपने पति की आत्महत्या करना रास नहीं आता। वह दारू की भट्टियाँ तोड़ने में अगवा बन जाती है। वह अपने समाज की समस्याएँ दूर करने के लिए प्रयास करती है।

खेती के साथ किसान कुछ पूरक काम भी करते हैं। शकुन तथा गाँव की औरतें वन में महुआ चुनती हैं। यहाँ वनाधिकारी उन्हें परेशान करते हैं। शिबू को अक्सर बेटियों की चिन्ता सताती है। अक्सर पड़ने वाले सूखे के कारण उपज कम होने से जंगल और मजदूरी यह आधार होता है। वनाधिकारी अक्सर उन्हें तंग करते हैं। मक्का, कपास आदि की फसल से उनकी जीविका चलना असम्भव है।

कापूस का नया बीज आने पर उसमें आस जगती है, लेकिन वह तो सब चौपट ही कर देता है। पहली बार फसल अच्छी आती है। लेकिन वह जमीन से सब कुछ सोखकर जमीन को बंजर और किसानों को ऋणग्रस्त बना देती है। ज्यादा उपज की बास उन्हें बरबादी के कगार पर खड़ा कर देती है। रही-सही कसर बाजार पूरी कर देता है। कर्जा लेना उनकी मजदूरी बन जाता है। और उसे न चुका पाना यथार्थ। खेत से धोखा, नेताओं से धोखा, व्यवस्था से उपेक्षा, बेटों से भ्रमभंग। न कोई नेता और न कोई देवता मदद करता है।

उपन्यासकार ने गाँवों का जीवन, जाति समस्या, धर्म परिवर्तन आदि का भी चित्रण किया है। बेटा के विवाह और दहेज को लेकर शिबू परेशान रहता है। यहाँ यह बात द्रष्टव्य है जहाँ के

किसान सभी जाति से हैं। सभी का जीवन और समस्याएँ लगभग एक समान है। यहाँ की केवल न जमीन बंजर होती जा रही है बल्कि आदमी के मन में बंजरता बढ़ती जा रही है।

ऋणग्रस्तता भारतीय किसान को मिला एक अभिशाप है। प्रेमचंद के गोदान में भी किसान ऋणग्रस्तता से त्रस्त है। आजाद देश का किसान भी इससे मुक्त नहीं हो पाया है। आजादी के आन्दोलन में किसानों ने सक्रिय सहभाग लिया, उनको यह उम्मीद थी कि आजादी के बाद अपनी स्थिति में परिवर्तन होगा। देश आजाद हुआ, अंग्रेज चले गये, लेकिन आम किसानों की दशा में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। अन्तर आया तो महज इतना कि पहले साहूकार कर्जा देता था, आज बैंक कर्जा देते हैं। पहले किसान संघर्ष करता था, आज तो वह हारकर आत्महत्या कर रहा है। परिस्थिति उसके जिन्दा रहने के लायक नहीं रही।

संजीव ने उपन्यास में मंथन समारोह के माध्यम से कृषि समस्या और किसान की आत्महत्या को एक व्यापक संदर्भ में प्रस्तुत किया है। किसान की आत्महत्या या कपास की खेती की समस्या केवल महाराष्ट्र की नहीं है। यह समस्या तो गुजरात, पंजाब, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, बुन्देलखण्ड आदि में भी है। केवल सन्दर्भ अलग है। इसके पीछे के कारण मात्र वही हैं।

आत्महत्या का एक संदर्भ अतीत का बोझ भी है। आदिवासी या अन्य जाति के लोग आत्महत्या नहीं करते हैं। यदि करते भी हैं तो अपवाद में। आत्महत्या करने वालों में कुनबी मराठा ही अधिक हैं। सबसे ज्यादा आबादी इसी वर्ग की है। सबसे ज्यादा आगे यही बढ़े हैं। इस सन्दर्भ में आदिवासी लोगों की टिप्पणी द्रष्टव्य है। "इनका प्राचीन गौरव, महानता का बोझ है। दूसरी ओर इन्हीं की जाति के कुछ नौकरी वालों को मोटरसाइकिल, रंगीन टीवी, फ्रिज। यह हकीकत जितनी बड़ी खेती उतना ज्यादा लॉस। दोनों ठेलकर ले जाते हैं— आत्महत्या तक। रिजर्वेशन की डिमांड भी।"⁴

संजीव ने इस उपन्यास को पूरा देशी बना चढ़ाया है। महाराष्ट्र में मानवीयता का अलख जगाने वाले सुधारकों के कार्य को इसमें प्रस्तुत किया है। इसमें दादा जी खोबरागड़े, देवाजी तोपा आदि स्वयं पात्र बनकर उपस्थित हैं। शिवाजी महाराज, बाबा साहब अम्बेडकर, शाहू जी महाराज, सन्त गाडगे बाबा, अन्ना हजारे, पोपट पवार, सिन्धु ताई सपकोल आदि के कार्य का भी यथाप्रसंग उल्लेख आया है।

संजीव के उपन्यास यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। उनमें कोरी कल्पना का कोई स्थान नहीं है। उपन्यास कला को उन्होंने एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है।

संदर्भ सूची :

1. किसान— आत्महत्या यथार्थ और विकल्प, संजय नेवले, पृ0 198—99
2. संजीव, फॉस, पृ0 9
3. संजीव, फॉस, पृ0 16
4. संजीव, फॉस, पृ0 17—18
5. संजीव, फॉस, पृ0 91

“संयुक्त प्रान्त में रेलवे के विकास के समाजिक प्रभाव”

डॉ० रमेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, हंडिया पी०जी० कॉलेज, हंडिया, प्रयागराज

19वीं शताब्दी के मध्य भारत में रेलवे का आगमन शुरू हुआ। इस जोखिम पूर्ण साधन को जल्दी ही एक सफल यातायात के रूप में पाया गया और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक संयुक्त प्रान्त में रेलवे का विशाल संजाल स्थापित हो गया। इस प्रकार भू-संचार सम्पर्क व्यवस्था के उन्नति के इतिहास को जानने वालों में से कोई भी उनके महत्व की प्रशंसा करने में अनदेखी नहीं कर सकता जो लोगों के जीवन से संबंधित था। रेलवे ने लोगों को यातायात में बड़ी सुविधा प्रदान की जिससे एक सामाजिक परिवर्तन का वातावरण बना। रेलवे के आगमन के फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव को दो तथ्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, प्रथम—यात्री किराया भाड़ा में कमी के फलस्वरूप तृतीय श्रेणी के यात्रियों में वृद्धि और दूसरा रेलवे के आगमन से यात्रियों की तीर्थस्थलों पर जाने की संख्या में वृद्धि।

भारतीय रेलवे में यात्री भाड़ा को चार वर्गों में बाँटा गया था अर्थात्— प्रथम, द्वितीय, इण्टरमीडिएट और तृतीय श्रेणी। कुछ रेलवे पर जैसे उत्तरी भारत के रेलवे और बंगाल के रेलवे में यह चार वर्ग थे परन्तु कई वर्षों तक दक्षिणी भारत के रेलवे और पश्चिमी भारत के रेलवे में केवल तीन श्रेणियाँ थीं— प्रथम, द्वितीय और तृतीय। हालांकि निम्न वर्ग के लोग तृतीय श्रेणी में ही यात्रा करते थे क्योंकि उनकी आय सीमित थी। अतः सरकार ने तृतीय श्रेणी का किराया दर में एक प्रयोग करके जो पहले 3 पाई निर्धारित था उसे 2.5 पाई प्रतिमील कर दिया जिसे इलाहाबाद के नैनी में 1882 से लागू किया गया (सर्वप्रथम जबलपुर शाखा पर लागू हुआ था।) इससे तृतीय श्रेणी में

यात्रा करने वाले यात्रियों की संख्या में वृद्धि हुयी जिससे यात्रियों से होने वाली आमदनी तुरन्त बढ़ गयी। 1881 में इस प्रकार की कमाई 90 लाख 2 हजार 162 रुपये हो गयी जो बढ़कर 1882 में 99 लाख 99 हजार 29 रुपये हो गयी। यह बढ़ोत्तरी अंशतः इलाहाबाद में होने वाले कुम्भ मेला से भी प्रभावित था और आने वाले वर्षों में रेलवे को घाटा नहीं हुआ बल्कि दूसरी ओर तृतीय श्रेणी के रेलवे यातायात की आमदनी में लगातार वृद्धि होती गयी। वहीं 1882 के उत्तरार्द्ध से मध्यम श्रेणी की यात्रा से होने वाली आमदनी में कुछ कमी आयी जिसका कारण तृतीय श्रेणी के यात्री-किराये दर में कमी को माना गया। भारतीय रेलपथों पर समान ढुलाई की दर बहुत ही कम रखी गयी, यहाँ तक कि इंग्लैण्ड की दरों से और कितने ही अन्य यूरोपीय देशों के रेलों की दरों से कम थी। यही कारण है कि 1882 में यह प्रस्ताव रखा गया कि पुराने भाड़े की दर को ही कायम रखा जाय। वास्तव में उन दिनों प्रत्येक यात्री जिस औसत दूरी की यात्रा करता था वह छोटी हो गयी परन्तु यह भाड़े की दर में कमी की वजह से नहीं था बल्कि लोगों की अधिक संख्या में यात्रा के कारण था जो कि रेलवे से यात्रा करने के लिए धीरे-धीरे प्रेरित हो रहे थे बजाय छोटी दूरी तक पैदल जाने के लिए¹।

1914 और 1915 के पूर्वार्द्ध में विभिन्न श्रेणियों के औसत यात्रियों की संख्या निम्न प्रकार से है²:-

	प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	मध्य श्रेणी	तृतीय श्रेणी :	योग
B.N. Railway	1	3	8	181 = 94%	193
B.B. and C.I. Railway	1	7	13	216 = 91%	237
E.B.S. Railway	1	4	22	144 = 82%	171
E.I. Railway	1	4	16	207 = 90%	228
G.I.P. Railway	1	4	2	147 = 95%	154
N.W. Railway	1	3	11	197 = 93%	212

रोजगार:

रेल मार्गों के विकास से रोजगार के नये अवसर सिर्फ अकाल के दिनों में ही नहीं बल्कि सामान्य काल में भी पैदा हुए। रेलवे के भिन्न-भिन्न कम्पनियों के सभी तरह के कार्य इंग्लैण्ड से भेजे जाने वाले व्यक्तियों द्वारा किये जाते थे। इसका कारण था भारत में प्रशिक्षित व्यक्तियों का न मिलना। जबकि वहाँ यूरोपीयन स्टाफ का रखरखाव अत्यन्त खर्चीला था। इन आदमियों का वेतन, अतिरिक्त भत्ते जोड़ते हुए और भारत तथा इंग्लैण्ड के बीच यात्रा धन कभी-कभी इंग्लैण्ड में इसी कार्य के लिए दिए जाने वाले वेतन का दुगना या तिगुना तक हो जाता था।³ इसके साथ बीमारी, या मृत्यु जो कि भारत की प्रतिकूल जलवायु स्थिति के कारण इन लोगों में प्रायः होती थी, के चलते रेलवे कम्पनी को केवल भारी आर्थिक हानि ही नहीं हुई अपितु अत्यन्त समर्थ मनुष्यों की सेवाओं की असमय हानि भी उठानी पड़ी।⁴ ऐसी परिस्थितियों में भारत में बसे इस प्रवासी समुदाय के आकार स्थायित्व और अनुभव की वृद्धि के साथ ही दृष्टिकोण में रेलवे कम्पनियों के लिए स्थानीय लोगों को उचित प्रशिक्षण देकर रोजगार देना आवश्यक हो गया परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे बदलाव होने लगा और सिविल तथा रेलवे निर्माण इंजीनियरिंग के प्रति तकनीक रूप से समन्वयी अर्थ राष्ट्रीय भारतीय दृष्टिकोण उभरने लगा। मिश्रित तकनीकी दृष्टिकोण में इंजीनियरिंग की आधुनिक पश्चिमी प्रक्रियाओं और पारंपरिक भारतीय प्रयोगों का समन्वय था। भारतीय तकनीकी दृष्टिकोण और समसामयिक पश्चिमी दृष्टिकोण के बीच संतुलन का पलड़ा भारतीय दृष्टिकोण की ओर तब झुक जाता था जब सड़क, नहर और सार्वजनिक इमारत बनाने की बात आती और पश्चिमी दृष्टिकोण की ओर पलड़ा तब झुकता था जब रेलवे निर्माण की बात आती थी। इस प्रकार रेलवे कम्पनियों के लिए स्थानीय लोगों को उचित प्रशिक्षण देकर रोजगार देना आवश्यक हो गया प्रशिक्षित करने की योजना के सम्बन्ध में निदेशक मण्डल ने 1855 में लिखा- “रेलवे केवल रेल कम्पनी को यूरोपीय इंजन चालकों से स्वतंत्र करने के लिए ही नहीं अपितु स्थानीय श्रम को जहाँ तक सम्भव हो सके नियोजित करने के सिद्धान्त का पालन करने के लिए भी है। हम आशा करते हैं कि स्थानीय मजदूर शक्ति और समयबद्धता तथा शान्ति व स्वनियन्त्रण के द्वारा दायित्व के लिए अपनी उपयुक्तता सिद्ध करेंगे।⁵ तत्पश्चात् विभिन्न रेलवे कम्पनियों में मजदूरों के रूप में भारतीय कार्य कर रहे थे जिसका विवरण निम्न सारणियों में प्रदर्शित है-

Table -1

Mean Daily Employment, EIR in the North-Western Provinces, June 1855.

District	Distance	Excavators and Labourers	Carpenters	Brickl a Years	Smiths
Mirzapur	95	8,487	158	340	54
Fatehpur	121	3,700	10	1	7
Benares	57	1,393	-	-	-

Source : IOL & R, L/PWD/3/51, Bengal R.R. Letters, Collection 03 to letter No. 2 of 1856.

Table -2

Mean Daily Employment, EIR in the North-Western Provinces, (January, April and June 1860)

District	Distance	Excavators and Labourers	Others	Total Daily Mean	Daily Mean per Mile
Mirzapur East Middle	28	1,797	716	2,513	90
Mirzapur	32	2,525	1789	4,314	135
Mirzapur West	31.5	2,022	68	2,090	67
Tons Bridge	1	800	156	956	956
Jamuna Bridge (Allahabad)	1	1,436	631	2,067	2,067
Cawnpore	27	555	165	720	27
Agra	24	52	39	91	4
Agra Branch	13	435	43	478	37
Jamuna Bridge (Delhi)	1	318	125	443	443
Hindan Bridge	1	73	100	173	173
Etawah	44	2,325	58	2,383	54
Total	286	20,286	4,085	24,271	85

Source : IOL & R, North Western Provinces, RR Dept. Progs: No. 98A, 23 April 1860; No. 75, 25 June 1860; No. 64, 18September, 1860.

Table -3

Mean Daily Employment, EIR in the North-Western Provinces, (January, April and June 1860)

	Area	Distance	Mean Daily Employment	Mean Daily Employment Per Mile
1.	Jhansi - Manikpur Section			
	a- Karwi Division	60	1,237	21
	b- Banda Division	56	2,182	39
	c- Mhow Division	65	3,033	47
2.	Bhopal - Jhansi Section			
	a-Bhilsa Division Bhilsa to Basoda Only	24	625	26
	b- Etawah Division	66	1,881	29
	c- Lalitpur Division	56	8,043	144
Total		327	17,001	52

Source : IOL & R, P/2751, PWD, RR Construction Progs., September 1886, No. 232 : Narrative Progress Report for the quarter ending 30th June 1886' by A.C. Cregeen Agent and Chief Engineer, IndianMidland Railway Company, 22 July, 1886.

भारत में रेलमार्गोंके निर्माण में बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों को लगाया गया क्योंकि प्रत्येक मामले में रास्ते का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् भू-भाग के धरातल पर तैयारी की आवश्यकता पड़ती। इस कार्य के लिए हजारों मजदूरों के समूह, को नजदीक के गाँव से किराये पर लाये जाते थे और उन्हें छोटी-छोटी झोपड़ियों में रखा जाता था, कम भोजन दिया जाता था और अधिक कार्य लिया जाता था और ये मजदूर आमतौर से बीमार रहते थे जिसका कारण था रेलमार्ग पर कार्य करने वाले मजदूरों की समूहों में होने वाले महामारी का प्रकोप। परिणामस्वरूप बहुत से लोग मर जाते थे। बनारस के कैम्पो के अभिलेखों से पता चलता है कि 10 हजार कार्य करने वाले लोगों में से एक तिहाई मजदूर हैजा और अन्य बीमारियों के शिकार हो गये। इससे खराब बात यह थी कि यह छुआछूत की बीमारी नजदीक के कस्बों में भी फैल गयी थी (वराडे-1981 : 188-89, संयुक्त प्रान्त के लोक स्वास्थ्य विभाग-1903)। इसके अलावा मजदूरों की टीमों को जंगलों और वनस्पतियों की सफाई करने के लिए भी लगाया जाता था जो पेड़ की जड़ों को खोदकर निकालते थे, तटबन्धों का निर्माण करते थे, पटरियों का निर्माण करते थे, और नालों तथा छोटी नदियों पर पुल का निर्माण करते थे।⁶

रेलवे में नियुक्ति के सन्दर्भ में ब्रिटिश राज्य में रेलवे निर्माण प्रबन्धन के दो ढाँचे थे पहला एक वृहत्त संविदा तंत्र था जो बड़े ठेकेदारों के साथ होता था। बड़े ठेकेदारों में अधिकांश ब्रिटिश थे, लेकिन उनमें जमशेद जी दोराब जी जैसे सफल लोग और मुहम्मद सुल्तान थे। दूसरा ढाँचा विभागीय तंत्र था जिसमें निजी रेल कम्पनियों अथवा राज्य रेल मार्गों के अभियन्ताओं ने अग्रणी रूप में कार्य किए। दोनों तंत्र 1850 से 1900 तक बने रहे। हालांकि 1850-1860 तक के मध्य प्रथम तंत्र की प्रभुसत्ता बनी रही। अग्रणी ठेकेदारों के नीचे माध्यमिक स्तर था का उभार हो रहा

था जो अधिकांशतः भारतीयों से बना हुआ था। ये मध्य और ऊपरी प्रबन्ध के यूरोपीय स्तरों और भारतीय मजदूरों जो कि श्रमिक कार्य करते थे, के बीच स्थित था। इन मध्यस्थों का छोटे ठेकेदारों के तबकों के रूप में उदय ने ब्रिटिश राज्य के रेलवे को मितव्ययी और तीव्रता से बनने वाला बनाया। छोटे ठेकेदारों में बढ़ती प्रतियोगिता के साथ निर्माण कार्य की समझ और ठेका पूरा करने की समझ बढ़ती गयी जिससे अंग्रेजों को श्रमिक प्राप्ति करना और श्रमिकों के कार्य करने के विषय में चिन्ता कम करने के योग्य बनाया तथा आधुनिक होते पूँजीवाद में उभरते हुए छोटे बुर्जआ वर्ग और श्रमिक दोनों को अनुशासित किया। हालांकि प्रधान पुरुष और प्रधान महिला (दल, मुकद्दम, और कारीगर) मध्यस्थों की श्रृंखला में अभी भी निचले स्थान पर थे। कभी-कभी वे उपलब्ध ठेकेदार के रूप में भी कार्य करते थे।⁷ अंग्रेज निर्माण प्रक्रिया के सम्पूर्ण प्रबन्धक एवं तकनीशियन थे। उन्होंने यह जानकारी और सहयोग उपलब्ध कराया जिससे निर्माण कार्य को आगे बढ़ाने में सक्षम बनाया जा सके। निर्माण कार्य तीन बड़े स्तरों से बना था— मार्गों का निर्माण, तोड़-फोड़ एवं स्थायी मार्गों को बनाया जाना एवं स्टेशन और कार्यशालाओं का निर्माण। इन कार्यों को पूर्ण करने के लिए अनेक विशेष प्रकार के कार्य— प्रक्रमों का सहयोग आवश्यक था। इनमें से अधिकांश प्रक्रियायें श्रमिकों के बड़े दल का प्रयोग करती थी। इनमें से कुछ प्रक्रियायें भारतीयों के लिए नयी थी। दूसरी प्रक्रियायें विशेषतया भूमि पर कार्य भारत में शताब्दियों से या काफी लम्बी अवधि से प्रचलन में आ रहे कार्य के तरीके को प्रदर्शित करते थे। ब्रिटिश शासक हालांकि इन सहनशील कार्यों को सस्ता और प्रभावी पाते थे जबकि भारतीय उनसे इसलिए जुड़े थे क्योंकि वे कम वेतन के साथ ही लगातार— पारिवारिक श्रम प्रदान करते थे इस प्रकार यह प्रश्न कि अंग्रेजों ने भारत में रेल मार्ग कैसे बना लिया का, प्रथम उत्तर यह है कि यह भारतीय श्रमिकों और भारतीय मध्यस्थों जिन्होंने श्रमिकों की आपूर्ति की और उन्हें उत्पादन के बिन्दु पर नियंत्रित किया के कारण हुआ। निर्माण कार्य का रोजगार 1859 से 1900 ई० के बीच 1 लाख 80 हजार 6 सौ से बढ़कर 2 लाख 21 हजार 253 व्यक्ति हो गया। यह 126 से 155 व्यक्ति प्रति मील औसत निर्माण पर आधारित था। जिनमें से 80 प्रतिशत तक कर्मचारी अकुशल श्रमिक थे। बच्चे और स्त्रियाँ बड़े पैमाने पर नियोजित किए गए, कार्य करने योग्य सभी पारिवारिक सदस्य अनेक मामलों में अपने पारिवारिक अस्तित्व बनाए रखने के लिए कार्य करते थे। अप्रशिक्षित श्रमिक प्राथमिक रूप से नीची जातियों और जनजातियों से भर्ती किए जाते थे।

दूसरी तरफ निर्माण स्थल पर कार्य, कार्य के नये और पुराने रूपों को प्रदर्शित करता था। हालांकि अधिकांश श्रमिकों के लिए कार्य की परिस्थितियाँ समान रूप से कठिन थी। दुर्घटना में मृत्यु और चोटें सामान्य थीं, पर ये हैजा, मलेरिया, निमोनिया, टाइफाइड जैसी बीमारियाँ थी जो कि उच्च बीमारी दर और मृत्यु दर के लिए जिम्मेदार थी। श्रमिक दमन और शोषण भी सहते थे। वेतन कम थे, जीवन कठिन तक क्रूर था और बेहतर भविष्य के लिए अनुमान अत्यन्त सीमित थे।⁸ श्रमिकों ने सामूहिक प्रतिरोधों के विभिन्न रूपों में इसका विरोध किया। यह प्रतिरोध—अत्यन्त अप्रत्यक्ष एवं निष्क्रिय के साथ हड़ताल जैसे कार्यों और हिंसक विद्रोहों तक रहता था। यद्यपि विषमांगी और गतिमान निर्माण कार्य से मजदूर बड़े पैमाने पर जुड़ नहीं पाते थे। वे एकत्रित हो सकते थे और एकत्रित होते रहे जब परिस्थितियाँ असहाय हो जाती थी अथवा वे जब विरोध कार्यस्थलों पर अपनी स्थिति में संभावना देखते थे। श्रमिकों ने अपनी जीविका पर खतरे का विरोध किया जो कि कम अनियमित और वेतन के भुगतान नहीं होने पर था। अथवा उन्होंने उन लोगों पर हमला किया जब परिस्थितियाँ असहनीय हो जाती थी। जबकि कुछ अभियन्ता अपने श्रमिकों से उदारता पूर्वक व्यवहार करते थे और उनकी एकाग्रता, धैर्य, बुद्धिमत्ता, कठोर, श्रम और

सीखते रहने की इच्छा की सराहना करते रहते थे। लेकिन मूलतः ब्रिटिश और उनके भारतीय मजदूरों के बीच सम्बन्ध यांत्रिक था श्रमिकों की कमी को पूर्ण करने के लिए बलात श्रम का सहारा लिया गया जिस पर सरकार ने आँखे मूँदे रखीं थीं। श्रमिकों का प्रतिरोध अप्रभावी और अप्रत्यक्ष था जैसा कि एक विशेष औजार या विशेष कार्य करने के तरीकों को लेकर था जिसे ब्रिटिश उत्तर जो पहले से ज्यादा चालाक और उद्देश्यपरक हो गया था अथवा पहले से ज्यादा सुविधाग्राही हो गया से निपटा जाता था। प्रबन्धक अभियन्ता एक या दूसरी या दोनों रणनीतियाँ चुनते थे क्योंकि वे विपक्षी रूप से विशिष्ट नहीं थे जबकि परिस्थितियाँ, स्थान, वातावरण और कार्य की प्रकृति और अभियन्ताओं की सक्षमताओं और पृष्ठभूमि अलग-अलग थीं। चुनी हुयी रणनीति से असम्बद्ध रहते हुए भारत, ब्रिटिशों और उनके अधीन करने वाले भारतीय पर्यवेक्षकों ने धीरे-धीरे श्रमिक समस्याओं पर नियंत्रण पाना सीख लिया। कार्य कराना एक विशेष तरीके से कार्य कराने से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया। इस प्रकार 3 से 5 मील के रेलवे निर्माण पर एक यूरोपियन कार्यरत् होता था लेकिन भारतीय श्रमिकों के रूप में— मितव्ययिता के कारण निर्माण कार्य में भारतीयों की नियुक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। 1884 में अधिकांश ब्रिटिश अभियन्ताओं ने संसदीय चयन समिति के सामने यह प्रमाणित किया कि उनके पास अनेक भारतीय ओवरसीयर थे और उन्होंने उन्हें अंग्रेज अभियन्ताओं की तुलना में काफी अधिक परिश्रमी, अत्यन्त मजबूत और भरोसा करने योग्य पाया जबकि ठेकेदार **थामस ग्रोवल** ने नियंत्रणकारी पदों को अंग्रेजों के लिए आरक्षित रखा था। भारतीय श्रमिकों में **बाबूराव विद्यायत** ने 6 वर्ष सहायक अभियन्ता के रूप में अवध-रूहेलखण्ड रेलवे के मुख्य अभियन्ता के कार्यालय में विशेष जिम्मेदारी का कार्य किया। वे बनारस में गंगा पर बने बड़े डफरिन पुल के प्रारूप तैयार करने वाली समिति में भी थे। **रामगोपाल** अभी भी कर्मचारी सबसे निचले दर्जे के अभियन्ता थे।¹¹

भारतीयकरण और श्रमिक मूल्यों में कमी:

भारतीय रेलवे कम्पनियों के वार्षिक कार्यकारी व्यय का दो हिस्सा श्रमिकों के लिए था, लगभग एक तिहाई खर्चा स्थायी मार्गों के रखरखाव इंजनों और प्रत्यावर्तनीय भण्डार पर होता था और बाकी ट्रेनों पर संचालक दल और रेलवे स्टेशनों पर लिपिकों, कुलियों, चालकों, सिग्नलकर्मी, अग्निकर्मी, गार्डों तथा रक्षकों पर भुगतान किए जाते थे।¹² शुरुआत में रेलवे कम्पनी के 90 प्रतिशत कर्मचारी भारतीय थे। हालांकि सात से दस प्रतिशत जो कि यूरोपियनों के द्वारा एकाधिकृत की गयी थी, विशेष दक्षतायुक्त पद थी। 1860 के मध्य से आंशिक भारतीयकरण की नीति प्रारम्भ हुई। भारतीय लोगों की तादाद प्रांतीय सेवाओं में ज्यादा थी और 1885 तक 97 प्रतिशत तक रेल कर्मचारी भारतीय थे।¹³ घाटा उठा रही अवध-रूहेलखण्ड रेलवे ने इस क्षेत्र में ईस्ट इण्डिया रेलवे के लिए अग्रणी कार्य किया। 1881 तक अवध-रूहेलखण्ड रेलवे में 66 भारतीय संतर और ड्राइवर थे जबकि ईस्ट इण्डिया रेलवे में 230 यूरोपियन ड्राइवर, 20 यूरोपियन संतर और 61 यूरोपियन अग्निकर्मी थे।¹⁴ प्रचालन श्रेणियों में बढ़ते हुए भारतीयकरण ने 1870 के मध्य में आंग्ल भारतीय और यूरोपियन कर्मचारियों जो कि पहले ही एक पदोन्नति में अवरोध का सामना कर रहे थे, में विरोध की लहर फैला दी। 1895 तक रेलवे के नियुक्ति में भारतीयकरण से कम वेतन पर भारतीयों को दक्षतायुक्त मध्यम पदों पर ला दिया और रेलवे की खर्च दरों में कटौती की। मध्यम स्तर के पदों पर तैनात भारतीय इंजीनियर शायद ही किसी नई लाइन के किसी हिस्से के विभागीय स्तर के निर्माण का शायद ही व्यक्तिगत जिम्मेदारी मिल पाती थी। भारतीयों की निर्णय क्षमता, संकट में उन्हें भरोसेमंद मानने, यूरोपीय तथा आंग्ल-भारतीयों को निर्देशित करने की क्षमता के प्रति औपनिवेशिक पूर्वाग्रह ने इन योग्य अधिकारियों को आगे बढ़ने

से रोकता रहा। यही कारण था कि रेलवे पर अभी भी नियंत्रण तीन से चार प्रतिशत यूरोपियों के ही हाथों में था। वही दूसरी ओर रेलवे नेटवर्क के विकास के परिणामस्वरूप लम्बी दूरी के परिवहन के वैकल्पिक साधनों के अनेक मालिकों और प्रचालकों को रोजगार के अनेक अवसरों से हाथ धोने पड़े क्योंकि वे रेलवे के मुकाबले प्रतिद्वंद्विता में ठहर पाने में असमर्थ थे। फिर भी वस्तुओं को रेल मार्गों तक लाने और वहां से ले जाने के लिए गाड़ीवानों और नाविकों की जरूरत बनी रही।

तीर्थयात्रा पर रेलवे का प्रभाव:—

भारत में रेलवे के आगमन के कुछ दशक पश्चात् भारत में रेलमार्ग 2500 मील से अधिक हो गया। लंदन इलेस्ट्रेट न्यूज ने "भारतवर्ष में यात्रा के तरीकों"¹⁵ के शीर्षक के अंतर्गत यह लिखा कि—तीर्थयात्रा नौ तरीकों से भारत में किया जाता है। उसने कहा कि मनुष्य या तो पैदल चलता है या पालकीधारकों द्वारा ले जाया जाता है, या तो व्यक्ति गदहों की सवारी करता है या हाथी पर सवारी करके यात्रा करता था या ऊंटों की कारवों के साथ यात्रा करता था अथवा तमाम प्रकार के गाड़ियों अथवा बैलगाड़ियों या घोड़ों से यात्रा करता था। एक स्थान पर यह भी उल्लेख किया है कि हिन्दू यात्री बड़ी कठिनाई के साथ दण्डवत करते हुए अपनी शरीर का बोझ संभालकर आगे बढ़ते हुए यात्रा करते थे। रेलवे के आने के साथ ही भूपरिवहन का रूप बदल गया भाप से चलने वाली इंजन जिसमें यात्री डिब्बा जुड़े रहते थे और वे डिब्बे दाये से बायें तेजी से चलते हैं इससे स्पष्ट होता है यात्रा के पुराने स्थापित तरीके जो कि बहुत धीमे थे और जो मनुष्य शक्ति तथा पशुशक्ति पर आधारित थे अब उनका स्थान भाप से चलने वाले इंजन ले रहे थे। जिससे दूरी और समय पर विजय प्राप्त हो रहा था और रेलवे का प्रस्तुतीकरण उन्नति के रूप में हो रहा था।¹⁶

तीर्थयात्रा इतिहास, कर्मकाण्ड, पौराणिक व्यवहार जैसे देवी-देवता और स्थितियों आदि पर निर्भर करता है। वार्षिक उपस्थिति किसी विशेष तीर्थ स्थान पर अथवा धार्मिक मेले जो लगते थे वे सैकड़ों और हजारों की संख्या में या बहुत अधिक थे। अखिल भारतीय तीर्थयात्रा के स्थान पर मांगलिक शुभ अवसर अपवाद रूप से महान होते थे जैसे कि—कुम्भ मेला जिसमें लाखों तीर्थयात्री आते थे, 1877 में इलाहाबाद में कुम्भ मेला में लगभग 13 मिलियन तीर्थयात्री यहाँ आये थे। ये धार्मिक मेले अकेले ही नियमित रूप से तीर्थयात्रियों का लगातार आवागमन बनाये रखते हैं। इसके अलावा कुम्भ मेले में इतनी बड़ी संख्या में तीर्थयात्रियों का आना बीसवीं शताब्दी में कोई विशेष नयी बात नहीं थी। 1906 में कहा जाता है कि केवल 1 दिन के अन्दर 2 मिलियन लोग इलाहाबाद में आये थे। जबकि एक अमेरिकन पर्यवेक्षक ने कहा कि दो मिलियन तीर्थयात्रियों की संख्या 1882 के कुम्भ मेले में आयी थी।¹⁷ 19वीं शताब्दी के शुरु में बनारस में महाशिवरात्रि के दिन लगभग 2 लाख लोग नियमित रूप में आते थे। इस तरह से देखा जाय तो तो रेलवे के आगमन से पूर्व भी तीर्थयात्री बहुत बड़ी संख्या में यात्रा करते थे चाहे वह अखिल भारतीय महत्वपूर्ण तीर्थस्थल हो, क्षेत्रीय तीर्थस्थल हो या उपक्षेत्रीय तीर्थस्थल हो या स्थानीय तीर्थस्थल हो अथवा चाहे मेला लगता हो या न लगता हो तो भी तीर्थयात्री इन स्थानों पर पहुँचते थे।¹⁸

यह स्पष्ट है कि रेलवे के आगमन से तीर्थयात्रा के यातायात में पर्याप्त रूप से वृद्धि हुयी। वास्तव में कुछ रेल मार्ग जानबूझकर तीर्थ यात्रा के स्थलों से होकर गुजरती थी।¹⁹ इस तरह एक लाभदायक अभ्यास कई क्षेत्रों में रहा (आर्थिक प्रभाव के मापन के उदाहरण के रूप में) जिसके फलस्वरूप निर्माण कार्य का प्रयास किया गया। इतिहासकार सी०ए० बेली ने टिप्पणी की

थी— कर्मकाण्ड वाले स्थान को भी 1850 के बाद भारतीय रेलवे के नेटवर्क के कारण उन्हें बहुत लाभ हुआ।²⁰ इस प्रकार पवित्र स्थान और रोजाना वाले स्थान के बीच जो विभाजित रेखा थी वह भी बहुत कम हो गयी क्योंकि पहले के मुकाबले रेलवे के कारण अल्पकालीन रूप से तीर्थयात्रा में बदलाव आया जिसका तीर्थयात्री कमेटियों ने जिक्र संक्षेप में किया है, और संयुक्त प्रान्त की कमेटी की रिपोर्ट भी तमाम अन्य दी गयी रिपोर्टों से सहमति जतायी है। दूसरी महत्वपूर्ण बदलाव जो कि रेलवे के विस्तार से हुआ है वह यह है कि पवित्र शहरों में तीर्थयात्रियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुयी वही मुख्य पर्वों पर तीर्थ यात्रियों की संख्या उसी अनुपात में अधिक नहीं हुयी बल्कि कुछ मामलों में वास्तव में उनकी संख्या घटी। प्रारम्भ में जबकि तीर्थ यात्रा लम्बी होती थी जो शायद कई महीनों की अवधि की थी और ऐसी यात्रा लोग करते थे और वह भी अपने जीवनकाल के एक समय में। तीर्थयात्री अपनी सुरक्षा के लिए बहुत दलों में यात्रा करते थे और स्वाभावतः अपने गन्तव्य स्थान पर समय पर आ जाते थे जिससे वे साल के त्यौहारों में समय पर भाग ले सके। लेकिन अब तीर्थयात्रा एक बहुत सामान्य बात हो गयी थी और तीर्थयात्रियों को पता है कि रेलवे यातायात उपलब्ध है और यात्रा छोटी है तो तीर्थयात्री, तीर्थयात्रा के लिए सोचना शुरू कर देता है कि कौन सा—समय उसके लिए अधिक सुविधाजनक होगा। रेलवे ने तीर्थयात्रियों के निष्पादन में भी परिवर्तन किया, जहाँ तक कि उनका बहुत बड़ा प्रभाव तीर्थयात्रियों की यात्रा पर था। पहले जो तीर्थयात्रा थोड़ी धीमी और अधिक मेहनत की यात्रा थी जो पैदल तथा बैलगाड़ियों से होती थी अथवा अन्य तरीकों से होती थी। अब वह त्वरित यात्रा के रूप में परिवर्तित रेलवे के द्वारा हुयी जिसके फलस्वरूप महीनों और हफ्तों की ऐसी यात्राओं में कमी आ गयी जिससे कि यात्रा करके तीर्थयात्री लौटकर वापस आ जाते थे।

उपनिवेशिक भारत के रेलवे कभी—कभी तीर्थयात्रियों को विशेषकर बड़े—बड़े मेलों में अरुचिकर दशाओं में ले जाते थे जब यात्रियों के लिए डिब्बे उपलब्ध नहीं होते थे तब तीर्थयात्री मालगाड़ी के गंदे डिब्बों में जिनमें बैठने के लिए सीट नहीं होती थी उनमें जाते थे, जिससे अनेक प्रकार असुविधाएँ उत्पन्न हो जाती थी। ग्रेट इण्डियन पेनिसुलर रेलवे में ऐसे डिब्बे समानों और घोड़े इत्यादि को ले जाने के लिए बने होते थे जिसे वे तीर्थयात्रियों के ले जाने के लिए स्वीकृत दिये थे।²¹ जनवरी 1873 में यानि रेलवे युग के प्रारम्भ में एक अंग्रेज डाक्टर ने यह विवरण दिया जिसे कि उसने देखा था जब उसकी गाड़ी इलाहाबाद के समीप रुक गयी और तमाम तीर्थयात्रियों को रेलवे वहाँ से ले गयी।

कैरियो (Certeao) ने रेल यात्रा का हवाला देते हुए बताया कि — रेल यात्रा एक बंदी के समान है जिसके अंतर्गत गतिहीन यात्री गतिहीन चीजों को फिसलते हुए देखता है।²² वास्तव में बंद डिब्बों में जिसमें खिड़कियाँ भी नहीं होती थीं का परिदृश्य बिल्कुल छिपा हुआ और बंदी के समान था। इस तरह से बंद डिब्बों में यात्रा पर ध्यान न देते हुए रेलवे का यह बोगी एक ऐसा अलग और स्वतंत्र आदेश है जिसके अनुसार यात्री तकनीकी अनुशासन के अनुसार कार्य करता है।²³ ये डिब्बे जो समान ढोने वाले थे सदैव एक अस्थायी स्थान था जिसका नाम उपयुक्त रूप से रेलवे का अंतिम सीरा (Terminal) दिया गया। वही बढ़ते हुए तीर्थयात्रा ने छूट की बीमारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का कार्य किया। विशेष रूप में हैजा का फैलना था। जब महामारियों के भय की घोषणा होती थी तो उस वक्त सरकारी नियंत्रण बहुत कठोर रूप में लागू होता था। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत रूप से अनुचित हस्तक्षेप की तरह लगती थी।²⁴ जैसे कि एक या दो दिन की तीर्थ यात्रा जो इलाहाबाद या पुरी के लिए होती थी जो तीर्थयात्री मालगाड़ी के डिब्बों में यात्रा करने वाले थे उनकी नियमित जॉच—पड़ताल की जाती थी, उन्हें गाड़ी को शौच

क्रिया के लिये रोकना पड़ता था और सम्भवतः जबरन रोग निवारक टीके लगाये जाते थे। दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि औपनिवेशिक भारत के रेलवे पूँजीवाद की उपस्थिति की ओर बढ़ रहा था जब रेलों का विस्तार हुआ और बाजार की शक्ति गहरी हुयी जिससे समानों की सेवायें और उनकी सीमा में बहुत अधिक बढ़ोत्तरी हुयी।²⁵ परन्तु क्या रेलवे ने तीर्थयात्रा का भी वस्तुकरण कर दिया, क्या यात्रा किसी पवित्र स्थान के लिए एक धर्मनिरपेक्ष संतुष्टि बन गया²⁶ अथवा प्रोत्साहन का प्रचारक बन गया और उपभोक्ता वस्तुओं की कमी होने लगी। (जैसे किसी एक दिन की यात्रा के लिए) अथवा अपने आध्यात्मिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति के मुकाबले में वही तीर्थयात्रियों के यातायात की गिनती करना, रेलवे मार्ग के भविष्य का निर्धारण जैसा बन गया। यह तरीका रेलवे युग के भूमिका स्वरूप था क्योंकि रेलवे मार्गों के प्रवर्तकों की यह आशा थी कि रेलवे के आगमन से तीर्थयात्रियों की संख्या बढ़ जायेगी।²⁷ इस प्रकार एक सर्वेक्षक द्वारा ग्रेट इण्डियन पेनिसुलर का पुनर्योजन करने का प्रस्ताव रखा (जो कि 1849 तक स्वीकृति नहीं दी गयी) यह प्रस्ताव 1846 में पश्चिमी भारत में रखा गया और उसने यात्रियों के सम्बन्ध में आँकड़ों को इकट्ठा किया और सर्वेक्षक ने तीर्थयात्रियों से यह पूछा कि 92 मील की यात्रा जो कि वे बैलगाड़ी अथवा टट्टू से 10 दिन में करते हैं यदि वह यात्रा रेलवे द्वारा केवल 4 घण्टे में पूरी हो जाय तो वे कितना किराया अदा कर सकते हैं।

तीर्थयात्रियों का उत्तर था कि – चूँकि मौजूदा किराया जो बैलगाड़ी एवं टट्टू से 6 से 8 रुपये तक है वे प्रसन्नतापूर्वक 5 रुपया रेलवे का किराया अदा करेंगे और चूँकि यह सवारी वाहन (रेलवे) विशेष रूप से वृद्ध लोगों को भी यात्रा के काबिल बना देगी।²⁸ इस प्रकार अब वृद्ध पुरुष और महिलायें भी रेलवे से यात्रा करने लगी और रेलवे को उन्होंने धन्यवाद दिया क्योंकि रेलवे बड़े अनुपात में सेवायें प्रदान करते थे और इस तरह से यह एक महत्वपूर्ण युग था जिसमें कि महिलायें भी तीर्थयात्रा में शामिल होने लगी। बाद में रेलवे ने शहर के मध्यवर्ग के शक्तिशाली उपभोक्ताओं को महत्व दिया क्योंकि वे बने बनाये वस्तुओं को एक दिशा प्रदान कर रहे थे जिनके लिए तीर्थयात्रा छुट्टियों के अवसर पर होता था।

इस प्रकार स्पष्ट है संयुक्त प्रान्त में रेलवे ने तीर्थस्थलों पर तीर्थयात्रियों का बहाव तेज किया। भूगोलवेत्ताओं के शब्दों में यात्रा के प्रसार का तरीका बदल गया, तीर्थयात्रियों का यातायात बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ गया और तीर्थयात्रा का प्रचलन विशाल रूप में स्त्रियों और पुरुषों द्वारा तथा हर क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में लोगों को यात्रा करने के लिए प्रेरित ही नहीं किया वरन् रेलवे ने यह सम्भव बना दिया कि बहुत बड़ी संख्या में लोग यात्रा करें विशेष रूप से इलाहाबाद, बनारस में रेलवे ने तीर्थयात्रा का व्यापारीकरण कर दिया परन्तु उसने परिवर्तनों को नहीं बदला।²⁹ रेलवे ने बहुधा संचनात्मक ढंग से कार्य किया। रेलवे ने सुविधा प्रदान की और रेलवे ने जो पहले बहुत मुश्किल कार्य था उसे सीमित रूप से आसान बना दिया जिससे अन्य परिवर्तन में भी तेजी आ गयी।

सन्दर्भ सूची :

1. Huddleston, G. History of East Indian Railway, Calcutta, 1906 PP. 115-116.
2. Ghose, S.C. A Monograph on indian railway Rates, Calcuta, 1914.
3. Report to the Sec. of State for indian Counc. on Rly in india for 1863-64, Parl. Pap. (H.C.), 1864 XLII, (3354), P. 6
4. Ibid.
5. Fin. (Rly) Des to 26 Sept. 1855, No. 26 Rly. Des. Beng. Ind. Vol. 11, PP. 135-136.
6. Robert G. Varady - modern Agents of Chang- P. 257.

7. Although there may have been Exceptions, I am Persuaded that headmen were Present in most cases where the 'day-labour' system was in use.
8. For Most Workers, the Wages were at best, a little more than those required for subsistence and this State of affairs become more pronounced in the later decades after the initial wage increases of the late 1850s and the Early 1860s.
9. IOL & R, p/3457, P.W.D., General Progs; July 1889, No. 224.
10. Based on EIR Agency Minutes 1875 (held at Rail Transport Museum (RTM) in New Delhi, which give detailed staff and wage bill breakdowns.
11. Dudley and Morris 'Selected Railway Statistics'.
12. RADR 1881/2 CPP 1882 XLI x 139; also see O & R Annual Administration Report 1874-1875.
13. The Illustrated London News, 19 September 1863, P. 224.
14. As they were repeatedly throughout the world. See for example some of the illustrations and contributions in Merritt Ros Smith and Leo Mart (eds.) *Dose Technology Drive History? the Dilemma of technological Determinism* (Cambridge : the MIT Press, 1994).
15. Material in this Paragraph Comes from D.P. Dubely. 'Kumgh Mela: Origin and Historicity of india's Greatest Pilgrimage fair', in trends' in the Geography of Pilgrimage. P. 133 Hsns Mattson, the story of an Emigrant (D.D. Merrill Company 1891) P. 1940.
16. The levels of Sacred Plases are those Established in Bhardwaj, Hindu Places of Pilgrimate in India.
17. Young Bazar India, P. 136.
18. Bayly, from Ritual to Cermony, P. 170.
19. Report of the Pilgrim Committee Bombay, 1916; P. 3.
20. Michel De Certeav, *Everyday Life*, PP. 111-14.
21. Transportation in an indian good's wagon was not a port of de certeav's every day Experience - or Special Experience.
22. Lura Bear, 'Traveling Modernity' PP 111-19 discusses some of the controls to which railway travellers were subjected at the time of 1897, Plague Scare.
23. Surveyed in Jonh M. Hurd. 'Railway's in the Cambridge Economic History of India, Vol 2: C 1757-C. 1970 ed. Dharma Kumar (Combridge: Combridge University Press, 1983) pp. 731-61.
24. Of course, Pilgrim or not, to buy a railway ticket is to purchase a commodity the commodity a railway Provides is transportation from Point X Point, a commodity whose use-value is consumed in the Value is consumed in the very act of its production. I obviously do not refer to the commodification of Pilgrimage in this sense.
25. John Bourne, *Railways in india: with an Introduction: Illustative of the practicability of rendering avilable existing work in diminution of the cost of such undertakings, whereby their profits may be greatly increased*, 2nd ed. (London: Jonh William and Company, 1848), P. 21. Bourne was interested primirly in the East Indian Railway.
26. W. Walker to John Chapman, 4 February 1848 OIOC Mss. Eur. E 234/86. Walker Claimed he convinced the Pilgrims of the impending reality of the new form of transportation by igniting some Lucifer Matches and Snapping a few Percussion cape leading the Pilgrims to Exclaim the British 'Could make any thing'.
27. Indeed, to understand better just how complex a series of changes were involved in the commercialization red Van Der Veer, Gods on Earth.

“उत्तर-वैदिक कालीन सामाजिक जीवन”

डॉ० विमलेश कुमार सिंह यादव

एसोसिएट प्रोफेसर – संस्कृत विभाग, भवन्स मेहता स्ना०महा० भरवारी, कौशाम्बी, उ०प्र०

वह काल जो ऋग्वैदिककालीन ज्ञान-विज्ञान के आधार पर विकसित हुआ उत्तर-वैदिक काल के नाम से जाना जाता है। ऋग्वैदिक काल में आर्य सामाजिक रूप से अस्थित प्रकृति के थे परन्तु उत्तर वैदिक काल में आर्यों के सामाजिक जीवन में अधिक स्थिरता आ गयी थी। परम्परागत कार्य-व्यवहार में परिवर्तन उत्तर-वैदिक कालीन समाज की मुख्य विशेषता थी, समाज में नये वर्गों और व्यवसायों की उत्पत्ति होने लगी तथा वर्ण गुण-कर्म के स्थान पर प्रायः जन्म पर आधारित होकर पैतृकता की ओर अग्रसर होने लगी।

उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक प्रतिष्ठित और स्थिर हो गयी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – ये चारों वर्ण कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित हो गये। ब्राह्मण वर्ण के स्थिर हो जाने पर इसके अनेक वर्ग बन गये, जैसे साधारण पुरोहित, राजपुरोहित, राजमंत्री, शिक्षक, उपदेशक, आचार्य, ऋषि आदि। व्यापार, कृषि तथा अन्य उद्योगों के विस्तार से वैश्यों में भी बहुत से उपविभाग एक दूसरे से अलग होते चले गये। हीन व्यवसाय करने वाले अनेक वर्ग उत्पन्न हो गये। शूद्रों की संख्या बढ़ जाने से पारिवारिक दास या नौकर, मजदूर आदि नये-नये वर्ग बनते गये। क्षत्रिय वर्ण के लिए “राजन्य” शब्द का प्रयोग प्रचलित था। इस वर्ण के भी कई उपविभाग हो गये, जैसे – शुद्ध राजवंश, राजपुरुष, शासक, सैनिक आदि। प्रत्येक वर्ण की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीतों (जनेऊ) की स्थिति बनी। ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनके अग्निहोत्र करने के काल भी भिन्न-भिन्न थे। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी। उन्हें पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवता-स्वरूप समझा जाने लगा। पर सामाजिक प्रभुता और प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सम्भवतः प्रतिस्पर्धा भी चल पड़ी। जातियाँ पहले से भी भारतीय समाज में विद्यमान थीं और अब अनेक नई जातियाँ तथा उपजातियाँ उत्पन्न हो गयी। आर्यों ने श्रेणीबद्ध जातियों का संगठन कर विभिन्न वंशजों एवं हर स्तर की सभ्यता वाले लोगों को हिन्दू समाज का अंग बनने का अवसर दिया तथा आर्य संस्कृति की परिधि विस्तृत की।

इस युग में आश्रम—व्यवस्था का विकास हो गया। आश्रम—व्यवस्था में जीवन के चार भाग किये गये — ब्राह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास। मनुष्य की औसत आयु 100 वर्ष मानकर उसे 25—25 वर्ष के चार भागों में बांटा गया। प्रथम 25 वर्ष ब्राह्मचर्याश्रम के थे जिनमें गुरुकुल में रह कर वेदाध्ययन एवं मर्यादित जीवन व्यतीत करना होता था। द्वितीय 25 वर्ष गृहस्थाश्रम के थे जिसमें विवाह कर पारिवारिक जीवन बिताना होता था। तृतीय 25 वर्ष वानप्रस्थ आश्रम के थे जिसमें वन में ईश्वरोपासना करनी पड़ती थी। चौथे आश्रम में व्यक्ति संसार से पूरी तरह विरक्त होकर सन्यासी बनकर जंगल में रहता था। आश्रम—व्यवस्था का आयोजन अवश्य था, परन्तु अनिवार्यतः यह सब पर लागू नहीं होती थी। आश्रम—व्यवस्था वास्तव में मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक सिद्धान्त का पहला शास्त्रीय प्रयास था। जब विद्यार्थी गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए जाता था तो उसका उपनयन संस्कार होता था। उपनयन संस्कार के लिए अलग—अलग समय निर्धारित था।

उत्तर—वैदिक काल में सामाजिक संस्थाओं में रूढ़िवादिता आने लग गई थी, लेकिन समाज में गतिशीलता विद्यमान थी। सवर्ण विवाह प्रचलित होते हुए भी अन्तर्जातीय विवाह सम्भव थे। अन्तर्जातीय विवाहों के लिए कुछ प्रतिबन्ध थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों में विवाह हो सकते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय निम्न जातियों की लड़कियों के साथ यदि विवाह कर लेते थे तो ध्यान नहीं दिया जाता था, किन्तु वैश्य और शूद्रों को ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करने की छूट नहीं थी। व्यवसायों का परिवर्तन भी होता था। अविवाहित जीवन में उदाहरण मिलते हैं, लेकिन साधारणतया अविवाहित रहने की प्रथा नहीं थी। अविवाहित पुरुष यज्ञ नहीं कर सकते थे। बिना स्त्री के पुरुष को स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं थी। यज्ञादि के लिए पुत्र आवश्यक था और पुत्र की प्राप्ति विवाह का एक प्रमुख उद्देश्य माना जाता था। सामान्य रूप से एक पत्नी प्रथा ही प्रचलित थी, लेकिन बहु—विवाह भी होते थे। अधिकतर धनी और राजकीय वर्ग के लोग ही बहु—विवाह करते थे। एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा सामान्यतया प्रचलित नहीं थी। पुनर्विवाह सम्भव था, पर सम्भवतः पुत्र प्राप्ति के लिए ही विधवा को पुनर्विवाह की आज्ञा मिली हुई थी। सती—प्रथा का प्रचलन नहीं था। परदा—प्रथा भी नहीं थी। बाल—विवाह होने लगे थे और कन्या के जन्म को ऋग्वेद काल की तुलना में अधिक अशुभ तथा कष्टप्रद माना जाने लगा था। पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण हो चला था।

उत्तर—वैदिक काल में खान—पान मुख्यतः वही था जो ऋग्वेद काल में था। लोग रंग—बिरुंगे कपड़े पहनने के शैकीन थे। सिर पर पगड़ी पहनने की प्रथा चल पड़ी थी। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों तथा त्योहारों के समय तरह—तरह के वस्त्र पहने जाते थे। रेशमी और ऊनी

वस्त्र अधिक अच्छे माने जाते थे। आभूषणों में शंखों, मोतियों, मणियों आदि का प्रयोग होता था। आभूषण मुख्यतः वही थे जो ऋग्वेद काल में प्रचलन में थे।

उत्तर-वैदिक काल के आर्य भी आमोद-प्रमोद प्रिय थे। शिकार, घुड़दौड़, रथ दौड़, चौपड़ आदि मनोरंजन के लोकप्रिय साधन थे। पासे अथवा चौपड़ का खेल कभी-कभी जुंए का रूप धारण कर लेता था। नृत्य और संगीत के प्रति सारे समाज में काफी आकर्षण था। नाचना-गाना स्त्रियों और पुरुषों दोनों को ही बड़ा प्रिय था। सामगान लोकप्रिय था। सामाजिक उत्सवों पर संवादक अपने वाद्य यंत्रों पर गीत गाते थे। वीणा, शंख, मृदंग, आदि प्रमुख वाद्य यंत्र थे। नाटकों का भी चलन था।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक कालीन समाज में जो स्थितियाँ थीं, उत्तर वैदिक काल में वे सामाजिक स्थितियाँ परिवर्तन की ओर उन्मुख थीं। परम्परायें परिवर्तनशीलता की ओर अग्रसर थीं तथा लोगों का सामाजिक जीवन सदाचार प्रधान होता जा रहा था। लोग एक स्वस्थ सामाजिक चिन्तन की ओर उन्मुख थे तथा राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व के आधार पर सम्पूर्ण समाज की सत्ता विद्यमान थी।

हिन्दी एकाँकी का जनक – डॉ. रामकुमार वर्मा

डॉ.जोण पणिकर.वी

असि. प्रोफेसर, हिंदी, सेन्ट ग्रिगोरियोस कॉलेज, कोट्टारक्करा।

एकाँकी नाटक के क्षेत्र में डॉ.रामकुमार वर्मा का प्रारंभिक उदय उस समय हुआ जब हिंदी एकाँकी का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। इसके पूर्व जो प्रयास इस क्षेत्र में किए गए उन पर बंगला, संस्कृत एवं अंग्रेजी शैली का बहुत ही प्रभाव पड़ा था। डॉ.रामकुमार वर्मा वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी एकाँकी के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। हिंदी एकाँकी को मौलिक रूप में उपस्थित करने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह अकेला व्यक्तित्व है – डॉ.रामकुमार वर्मा।

डॉ.रामकुमार वर्मा को हिंदी संसार एकाँकी का जनक मानता है। उन्होंने एक साक्षात्कार में इसके बारे में बताया है – ‘मैं अपने साहित्यिक मित्रों के प्रति आदर से शीश झुकता हूँ जो मुझे हिंदी एकाँकी का जनक मानते हैं।’¹ मैंने हिंदी एकाँकी की विषयगत जितनी भी विधाएँ हो सकती हैं, सब लिखी हैं। पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि विषयों पर मैंने एकाँकियों की रचना की है। मैंने आचार्य भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर विस्तृत विचार करके एकाँकियों की नाना विधाओं की रचना की है। मैंने जिज्ञासा एवं कौतुहल की ओर विशेष ध्यान दिया है।

डॉ.वर्मा का विचार और चरित्र की उद्भावना में मौलिकता है। यह मानना होगा कि टेकनिक को उन्होंने सुस्थिर रूप दिया है। उन्होंने आधुनिक ढंग के एकाँकी लिखने की नई पथ-प्रदर्शक के रूप में डाली। अतः यह कहना उचित होगा कि हिंदी साहित्य में एकाँकी नाटक लिखनेवाले सर्वप्रथम लेखक डॉ.रामकुमार वर्मा ही हैं।

डॉ.वर्मा पाश्चात्य शिल्प से प्रभावित आधुनिक एकाँकी-कला के आरंभकर्ता हैं। परन्तु इनका जीवन दर्शन, इनकी विचार धारा, इनकी समस्याएँ, इनके तर्क आदि भारतीय हैं और इनको आधार बनाकर ही उन्होंने एकाँकियों का निर्माण किया है। उन्होंने मनोविज्ञान तथा संघर्ष को जोड़कर जीवन के महान सत्य को जितनी कुशलता के साथ अभिव्यक्त किया है उतना अन्य कोई एकाँकीकार इनसे पहले नहीं कर सका। आपका रचना-शिल्प इतना मौलिक एवं महत्वपूर्ण है कि उसमें स्वाभाविकता, यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिकता को अंकित करनेवाली शैली के स्पष्ट दर्शन हुए हैं। यही कारण है कि डॉ.रामकुमार वर्मा एकाँकी के आरंभकर्ता, प्रवर्तक हैं, पथ-प्रदर्शक हैं और किसी सीमा तक जन्मदाता भी हैं।

डॉ.रामकुमार वर्मा के एकाँकियों पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है किन्तु विषय और शिल्प में वे मौलिकता भी बनाए रखते हैं। उनके एकाँकी लेखन की शुरुआत में बंगला, संस्कृत तथा

अंग्रेजी का प्रभाव था। प्रसाद के “एक घूँट” पर भी इन भाषाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। “एक घूँट” आधुनिक एकांकी से दूर है। एकांकी मात्र एक अंक का होने के कारण ही है अन्यथा उसमें लंबे स्वागत, समस्या, कथानक आदि एकांकी की भाँति नहीं है। इसलिए वर्माजी के आरंभिक एकांकी न केवल प्रयोगात्मक दृष्टि से वरन नींव की दृष्टि से महत्वपूर्ण ठहरते हैं। डॉ.वर्माजी पश्चिमी प्रभाव को स्वाभाविकता एवं आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करते हैं। उनके एकांकियों की कथावस्तु हमारे आसपास के वातावरण से भी गयी होती और उसमें आदर्श की यथोचित स्थापना भी मिलती है। उनके प्रायः सभी एकांकियों की कथा यथार्थ पर आधारित है तथा उसमें एकांकीकार का उद्देश्य रूपी आदर्श भी साथ साथ चलता यह आदर्श एकांकी के आरंभ में भी एकांकीकार के मस्तिष्क में तय होता है। इस प्रकार आदर्शवादी विचारधारा का प्रचार करना डॉ.वर्मा के व्यक्तित्व का एक अंग है।

डॉ.वर्मा का पहला एकांकी नाटक बादल की मृत्यु है जो सन् 1930 में में प्रकाशित हुआ था। बाद में यह एकांकी पृथ्वीराज की आँखें में संकलित है। यह बेलजियम के प्रसिद्ध कवि और नाटककार मेहरलिक के नाटकों के आधार पर लिखा गया एक फैंटसी है। इसमें कोई कथानक नहीं, किसी तरह की नाटकीयता नहीं, कवित्व की प्रधानता है। यह युगान्तकारी एकांकी के बाद वे पश्चिमी विचारधारा और शिल्प के अपनी मौलिक प्रतिभा का समन्वय कर अनेक एकांकी लिखे और हिंदी एकांकी साहित्य में नवयुग का निर्माण किया। रंगमंच के अभाव में हिंदी में नाटक केवल पढ़ने की चीज़ बनकर रह गयी थी परन्तु डॉ.वर्मा की यह सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके लगभग सभी एकांकी अभिनेय हैं और कई बार मंच पर अभिनीत और आकाशवाणी पर प्रसारित हो चुके हैं। उन्होंने एकांकी नाटक में रंगमंच तथा अभिनेयता को बहुत अधिक प्रमुखता दी है। उन्होंने स्वयं एक पत्रिका में लिखा है – “रंगमंच की भारी असुविधाओं से मैं ने संघर्ष किया अतः जब किसी नाटक की कल्पना मेरे हृदय में आते हैं। रंगमंच मेरे मानस पटल पर पहले ही आ खड़ा होता और पात्रों की अथवा कथावस्तु की माँग करता है। यह होता है कि मशीन के पुर्जों की भाँति मेरी कथा अथवा पात्र अपने आप यथा स्थान आ सिमटते हैं। प्रेम में जुड़े हुए चित्र की तरह मेरे नाटक की कल्पना पर उतर होती है।”²

डॉ.वर्मा के पास रचनात्मक क्षमता के साथ ही कवि हृदय तथा समीक्षात्मक दृष्टि भी है। इस कारण वे अपने एकांकियों को समझने-परखने में भी सक्षम है। एकांकी का सैद्धान्तिक विवेचन और समय-समय पर की गयी टिप्पणियों द्वारा उन्होंने रंगमंचीय विकास और एकांकी के शिल्पगत विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। अपने पहले ही एकांकी संग्रह – “पृथ्वीराज की आँखें”- में उन्होंने नाटक और एकांकी में भेद समझाते हुए भूमिका लिखी है। इस तरह का विवेचन का कार्य उन्हीं के द्वारा आरंभ हुआ। सामाजिक एकांकी के आतिरिक्त उनके ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषयों पर लिखे गए एकांकियों की थी एकांकी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐतिहासिक एकांकियों की परंपरा डॉ.रामकुमार वर्मा से ही आरंभ होती है।

डॉ.रामकुमार वर्मा ने अभी तक लगभग 114 एकांकी नाटक लिखे हैं जिसमें से कुछ स्वतंत्र रूप से और कुछ विविध संकलनों में प्रसारित हो चुके हैं। इन सब एकांकियों का नाम बताना कठिन कार्य है फिर भी इनकी कुछ संकलनों का नाम यहाँ विवेच्य है – ये 114 एकांकियाँ 25 संकलनों में संग्रहित हैं – इसमें पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्रा, ध्रुवतारिका, श्रेष्ठ एकांकी, कौमुदी महोत्सव, दीपदान, समाज के स्वर, इतिहास के स्वर, अमृत की खोज, ललित एकांकी आदि प्रमुख हैं। “इतिहास के स्वर” उनका अंतिम एकांकी संग्रह है जिसमें पच्चीस एकांकी संकलित किए गए हैं। वे सभी ऐतिहासिक एकांकी हैं जिसमें 600 पूर्व से लेकर 1945ई तक की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं, परिस्थितियों एवं पात्रों को आधार बनाया गया है। वर्माजी के ऐतिहासिक एकांकियों के बारे में डॉ.द्वारिका प्रसाद सक्सेना के शब्दों में, - डॉ.वर्मा के ये एकांकी नाटकें एकांकी – कला के ज्योति स्तंभ हैं, क्योंकि वर्माजी की कला मुख्य रूप से ऐतिहासिक एकांकियों में ही सफलता के शिखर पर पहुँची है और इनमें ही उनके नाट्य शिल्प का प्रौढ़ एवं प्रगल्भ रूप विद्यमान है।³ उपर्युक्त एकांकी – संग्रहों में चारुमित्रा, कौमुदी महोत्सव, दीपदान, रात का रहस्य, रेश्मी टाई, रूप की बीमारी, एक तोले अफीम की कीमत, अंधकार, ध्रुवतारिका आदि उनके श्रेष्ठ एकांकी नाटक माने जाते हैं। पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्रा, कौमुदी महोत्सव, ध्रुवतारिका, रजतरश्मि आदि उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक एकांकी हैं।

डॉ.वर्माजी ने भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों से प्रभावित होकर ऐतिहासिक नाटक अधिक लिखे हैं। उन्होंने “दीपदान” की भूमिका में इसके बारे में बताये हैं – राष्ट्र की संस्कृति में मेरा विश्वास है जिसका विकास करने में हमारे ऐतिहासिक महापुरुषों का विशेष हाथ रहा है। हमारे ऐतिहासिक तथ्य निरूपण से हमारे वर्तमान जीवन को एक नैतिक धरातल मिलता है।⁴ दीपदान में नाटककार ने चितौड़ की नारियों का अपनी मातृभूमि के लिए अपूर्व बलिदान को चित्रित किया है।

“ रात का रहस्य” में डॉ.वर्मा जी ने उस ऐतिहासिक परंपरा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है जिसमें पुत्र पिता को मारकर अथवा बन्दी बनाकर स्वतः गद्दी पर बैठ जाता है। “रश्मी टाई” में आज की राजनीति व्यवस्था पर तीखा विरोध किया गया है। आज की राजनीति में सिद्धान्त कुछ और तथा व्यवहार कुछ और है, इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इस एकांकी में मिलती है। “ध्रुवतारिका” में वर्माजी ने जातीय सांस्कृतिक चेतना की उर्वर मातृभूमि चितौड़ की एक ऐतिहासिक घटना को उज्ज्वल आलोक के दीप्तमान स्तंभ के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। “अन्धकार” एक पौराणिक एकांकी है। स्वर्ग की कल्पना पर लिखा गया यह एकांकी पाप-पुण्य आदि प्रश्नों को उभारता है। तथा एक तथ्य सामने यह आता है कि वासना के बिना प्रेम संभव नहीं है। इस एकांकी का प्रमुख पात्र मैनका, माया प्रजापति आदि हैं।

“ पृथ्वीराज की आँखें” में वर्माजी के पात्रों की स्थिति और उनके द्वन्द्व को समझाने की कोशिश की है। इसमें मनोवैज्ञानिक अलझन वाले पात्रों की स्थिति दिखायी गयी। वे पात्रों के कहीं अन्दर तक

बैठकर उसका चित्रण करते हैं। इससे न केवल पात्रों के चरित्र में स्वाभाविकता आ गयी है बल्कि साहित्यिक अभिनयात्मक दृष्टि से भी उन्होंने अपने एकांकियों के साथ न्यास किया है। “कौमुदी महोत्सव” में उन्होंने चन्द्रगुप्त का चित्रण ठीक तरह से नहीं किया। उसका वास्तविक चित्रण उभर नहीं पाया है। इस एकांकी की भूमिका में वर्माजी ने इसकी क्षमा प्रार्थना की है। “चारुमित्रा” ऐतिहासिक एकांकी का संबन्ध सम्राट अशोक के जीवन से है। इस में बताया गया कि अशोक के परिवर्तन का कारण चारुमित्रा का बलिदान था। इसी प्रकार पाञ्चजन्य, सप्तकिरण, नाना फडनावीस आदि एकांकी भी ऐतिहासिक विषयों पर लिखे गए अच्छे एकांकी हैं। आप के सभी पात्र शिक्षित एवं सुसंस्कृत वर्ग के हैं जिनमें जीवन के महान नैतिक आदर्श के साथ साथ भावुकता, बौद्धिकता एवं मानवीयता का अपूर्व समन्वय है।

एकांकी कला से वे इतने एकाकार हो गए कि संपूर्ण नाटक का क्षेत्र भी प्रायः उपेक्षित रह गया। वैसे उनके अनेक एकांकी संपूर्ण नाटक की सीमा को छूते हैं। उनके एकांकियों में यथार्थ का अंकन है तो कल्पना का रंग भी है। काव्य भी है, रंगमंच की विशेषताओं का प्रतिभलन भी है। अंत में कहा जा सकता है कि डॉ.रामकुमार वर्मा ने विविध विधाओं में लिखा है किन्तु उनकी कीर्ति एकांकियों के कारण ही स्थापित हुई है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. रामकुमार वर्मा की साहित्य साधना – डॉ.चन्द्रिका प्रसाद शर्मा, पृ.143
2. साहित्य सन्देश – पत्रिका – जुलाई-अगस्त 1956
3. हिंदी के प्रतिनिधि कांकीकार – डॉ.द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृ.5
4. दीपदान की भूमिका, रामकुमार वर्मा

समाज के पथ प्रदर्शक तुलसीदास

डॉ० सुषमा कुमारी

मगध विश्वविद्यालय बोधगया, गया

समन्वयकारी महाकवि तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब तत्कालीन, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सभी क्षेत्र विषमता और वैमनस्यता का अनल प्रज्वलित था, ऐसी विकट परिस्थिति में महाकवि तुलसी ने पूरी मुस्तैदी से समाज में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया और जन-मन को आंदोलित कर पूरे भारत में अपनी अमिट छाप छोड़ी। अपनी काव्य रचनाओं खासकर 'रामचरितमानस' को अपने युग की पीड़ा और परिस्थितियों का दिग्दर्शन करनेवाला आईना बनाकर समाज के सामने प्रस्तुत किया। जिसके परिणाम स्वरूप देश के चिंतकों मनीषियों ने महाकवि को हाथों हाथ उठा लिया।

तत्कालीन भक्त कवियों ने निश्चित रूप से सारे भारत में भावनात्मक एकता एवं शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया था, उन कवियों में महाकवि तुलसीदास सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिन्होंने समाज में समन्वय स्थापित करने हेतु 'रामचरितमानस' जैसा अद्भुत, प्रेरणादायक, लोकमंगलकारी ग्रंथ की रचना कर भारतीय समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति को पतन के गर्त में जाने से बचा लिया। आज भी जीवन की प्रत्येक परिस्थिति और समस्या का समाधान करने में तुलसीदास का काव्य अपने अमर संदेश और मर्यादापूर्ण व्यवस्था के द्वारा अत्यंत सहायक सिद्ध होता है। इसलिए यह समाज तुलसी का सदा ऋणी रहेगा उन्होंने विषम परिस्थितियों में भारतीय समाज, धर्म, संस्कृति, आचार, व्यवहार और लोकनीति रक्षा हेतु अनुपम काव्य प्रदान किया। यह आगे भी समाज के विकास पथ को प्रकाश स्तंभ के रूप में आलोकित करता रहेगा। तुलसी के आविर्भावकाल की सामाजिक, राजनैतिक, तथा धार्मिक स्थितियाँ भी बड़ी विषम और पतनमुख समाज की परिचायक थी। प्रखर साहित्यकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है— "जिस युग में इनका जन्म हुआ था, उस युग के समाज के सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी प्रकार मग्न थे, जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोगग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की संपत्ति नष्ट हो गई या स्त्री मर गई, संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा, वही चट सन्यासी हो गया। सारा देश नाना प्रकार के साधुओं से भर गया था। नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुँचे हुए महात्मा हो गए थे उनमें आत्मविश्वास का संचार हो गया था, पर जैसा कि साधारण हुआ करता है, शिक्षा और संस्कृति के अभाव में यही आत्मविश्वास दुर्वह गर्व का रूप धारण कर गया था। अध्यात्मिक साधना से दूर पड़े हुए ये

गर्वमूढ़ पंडितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा कर रहे थे। परम्परा से सुविधा-भोग करने वाली जातियाँ इससे चिढ़ा करती थी। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पंडितों और ज्ञानियों का समाज के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं था। सारा देश विश्रंखल, विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। एक ऐसे आदमी की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और विभ्रष्ट टुकड़ों में योग्य स्थापित करे।

भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ भी कम विकट नहीं थी। यह पतन के तट पर पहुंच चुकी थी। विनाश का भूत प्रकट दिखलाई पड़ रहा था। सारे भारत पर मुगलों का साम्राज्य स्थापित हो चुका था। संस्कृति का सूर्य अस्त हो चुका था। भारत की वीरता की तलवार टूट चुकी थी। मुगलों का ऐश्वर्य और वैभव का विभक्त रूप दिखलाई पड़ रहा था। अत्याचारों का चक्र तेजी से घूम रहा था, आह और कराह की चित्कार गगन तक गुंज रही थी, आदर्शहीन धर्म के नाम पर अज्ञानी लोग पाखंडत्य कर रहे थे, कनपटे साधु, अलख जगाने में व्यस्त थे। वैष्णव, वैश्य आदि धार्मिक संप्रदाय पारस्परिक संघर्ष और निन्दा में उलझे हुए थे। तुलसी से पूर्व जात-पात, सम्प्रदायवाद, उच्च-नीच का भेदभाव तथा बुराइयों को मिटाने की कोशिश संत कबीर ने भी की थी मगर वाणी के तीखेपन के कारण संतुष्ट होने के बजाय लोग क्षुब्ध हो जाते थे। ऐसे विकट समय में आदर्श विहीन, पथ भ्रष्ट और निराशा में डूबे समाज को किसी ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो सभ्यता, संस्कृति और मानव मूल्यों की रक्षा कर सके।

तुलसीदास समन्वयकारी, लोकनायक, युग परिवर्तनकारी विचारों के कारण सर्वत्र परिचित हो चुके थे। हिंदी ही नहीं वरन् विश्व साहित्य के विद्वान भी इस सत्य को स्वीकार कर चुके थे। लोकनायक के बारे में अपना बहुमूल्य विचार प्रस्तुत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं— “भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय समाज में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, तुलसीदास जी भी समन्वयकारी थे।” इस कथन से तुलसीदास के समन्वयकारी और लोकनायक होने का प्रमाण सिद्ध होता है। जो व्यक्ति युग की परिस्थितियों का समुचित अध्ययन करके पथ भ्रष्ट और आदर्शमुक्त जनता का मार्गदर्शन कर सके तथा स्थापित विध्वंसक परंपराओं के विरोध में समन्वित मार्ग निकाल सके वही व्यक्ति लोकनायक कहलाता है। तुलसीदास इस कसौटी पर खड़े उतरते हैं।

तुलसीदास ने राम की शक्ति और साहस के समन्वित रूप की स्थापना करके अत्याचारी विदेशी तथा विधर्मी शासकों से उत्पीड़ित जनता में जीवन के प्रति विश्वास जगाया, राम के अनीति-अत्याचार विरोधी रूप को हृदय में धारण करके भारतीय जनता धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अत्याचारों का विरोध करने की शक्ति जुटा पाई। उन्होंने अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध वानर, भालू को संगठित करके प्रबल शक्तिशाली रावण को परास्त किया। इस प्रकार

तुलसीदास ने विषम परिस्थितियों में भारतीय जनता को विश्वसनीय नेता के रूप में अपने काव्यत्व का वरदान परोसा ऐसी विशेषता केवल तुलसीदास में ही दिखलाई पड़ती है। तुलसीदास ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श स्थापित करने का सफल प्रयास किया उनका 'रामचरितमानस' एक अनूठा आदर्श, व्यवहारों को इंगित करनेवाला महान ग्रन्थ है। विश्व-साहित्य में इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय दूसरा ग्रन्थ नहीं मिल सकता, जिसे साधारण किसान, मजदूर, बच्चे, महिलाएं से लेकर बड़े-बड़े राजा, नेता और विद्वान अपने अपने स्तर और दृष्टिकोण से पढ़ते सुनते हैं तथा जीवन के अनेक प्रसंगों और अवसरों पर जिसके उदाहरण देकर उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय का अंतर स्पष्ट करते हैं। इसी महान और अमर ग्रंथ में तुलसीदास ने विभिन्न आदर्शों की स्थापना की है। यह आदर्श विश्व के सभी देशों, समाजों और कालखंडों को समान रूप से प्रभावित करते हैं। मानव समाज इन आदर्शों की ओर उन्मुख होकर ही सच्ची शान्ति और सुख को प्राप्त कर सकता है।

तुलसीदास ने रामराज की रूपरेखा अपने मानस में प्रस्तुत की है, उसी रूप रेखा को महात्मा गांधी ने भी भारतीय समाज के लिए उपयुक्त बताया और अपना ने की घोषणा की गोस्वामी जी ने राजा और राज्य व्यवस्था कैसी हो, कैसे और कौन कार्य करे, उसका रूप और उद्देश्य क्या हो, यह सारी बातें उत्तरकांड में रामराज्य वर्णन में यत्र-तत्र प्रसंगानुसार अभिव्यक्त किया है। तुलसी के राम राजतंत्र के होते हुए भी प्रजातांत्रिक प्रणाली से शासन करते हैं। तुलसीदास ने राजा को प्रजा के प्रति उत्तरदायी होने का बीज मंत्र दिया है तथा जनता के विकास के लिए काम करने की आवश्यकता बतलाई है ताकि जनता समृद्ध और सुखी हो, राजा आदर्श मानवीय गुणों से संपन्न हो।

तुलसीदास जी के काव्यों के अनुसार राम-राज्यकाल में प्रजा का आर्थिक-स्तर अत्यन्त उच्च तथा उदात्त भावनाओं पर आधारित था, जिसमें प्रजा के कर प्रदान करने की तो बात ही नहीं थी, अपितु सदाचरण-सम्पन्न राजा के सद्व्यवहारों के कारण अपना सर्वस्व तक होम करने को सदैव लालायित रहती थी। राम-राज्य में आर्थिक-असंतुलन का अभाव था, घर-घर की आर्थिक-स्थिति अत्यन्त-सम्पन्न तथा सौजन्य पूर्ण थी -

नहि दरिद्र कोड दुखी न दीना।
नहिं कोड अबुध न लच्छन होना।
सब निर्दभ धर्मरत पुनी, नर अरु नारि चतुर सब गुनी।
सब गुनग्य पण्डित सबग्यानी, सब कृत्य नहिं कपट सयानी।
राम-राजकर सुख सम्पदा, बरानि न सकइ फनीस सारदा।
सब उदार सब पर उपकारी, विप्र चरन सेवक नर-नारी।

तुलसीदास ने व्यक्ति, परिवार और समाज के लिए भी आदर्श आचार-विचार और व्यवहार का स्पष्ट निर्देश दिया है। व्यवहारिक धर्म का पालन करने से ही सुख शान्ति और आनंद की प्राप्ति हो सकती है। डॉ० श्याम सुंदर दास ने तुलसी की विशेषता बताते हुए कहा है-

“तुलसीदास ने जन-जन को ऐसे सरल व्यवहारिक धर्म का मार्ग दिखलाया जिसपर वे अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी सुगमता से चल सकते हैं। इसलिए आज भी हिंदू-जाति के स्मृति पटल पर तुलसी अमिट रूप से अंकित हो गये हैं” तुलसी व्यक्तिवाद के विरुद्ध लोकवाद के पोषक थे। यह लोगवाद भी मर्यादा के साथ ग्रह्य है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर थे, उसकी स्वच्छंदता और निरंकुशता को वे सदा अंकुश में रखना चाहते थे। व्यक्तिवादी व्यवहार उचित है, जिससे दूसरों के न्याय पूर्ण हितों पर आघात ना लगे। नारियों के बारे में भी मर्यादित स्वतंत्रता को ही तुलसी ने उचित समझा है। उन्होंने कौशल्या, पार्वती, सीता इत्यादि नारियों की विशेषता बतलाते हुए उन्हें नारी समाज का आदर्श माना है।

मनुष्य-मनुष्य का कोई ऐसा संबंध नहीं जिसका आदर्श तुलसी ने प्रस्तुत नहीं किया हो। व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य आदि की मर्यादा व्यवस्था तुलसी ने भारतीय संस्कृति के अनुसार की है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रधान गुण है त्याग और उत्सर्ग। उन्होंने व्यक्ति को परिवार के लिए, परिवार को समाज के लिए तथा समाज को विश्व के लिए उत्सर्ग करने की बात की है। यही मानव धर्म है। यही उत्सर्ग भाव तुलसी ने सर्वत्र स्थापित किया है। दशरथ अपनी सत्य प्रतिज्ञा के लिए जीवन का उत्सर्ग करते हैं, राम पितृ-भक्ति के लिए राज्य का त्याग करते हैं, भरत अपने धर्म के पालन के लिए माता को नकारते हैं, लक्ष्मण और सीता मर्यादा की रक्षा के लिए वन के कष्ट को झेलते हैं, तुलसी का अद्वितीय व्यक्तित्व, सर्वगुण संपन्न था जो आज के युग में भी उतना ही प्रसांगिक है जितना उनके युग में। तुलसी के व्यक्तित्व एवं कवित्व की मोहकता में कभी कमी नहीं आयी। भारत की सभी भाषाओं एवं लोक भाषाओं में तुलसी साहित्य के अनुवाद भरे पूरे दिखलाई पड़ते हैं। विदेशी भाषा एवं साहित्य भी तुलसी साहित्य और तुलसी के व्यक्तित्व के कायल हैं।

तुलसीदास जी का सृजन मानव कल्याण का पथ प्रदर्शक है। सामाजिक संरचना को उन्होंने जिस तरह प्रस्तुत किया है, उसमें प्रेम, समर्पण, त्याग, वात्सल्य, ममत्व का समंन्य है। तुलसी का सृजन जीवन का दर्शन और विज्ञान है। गोस्वामी तुलसीदास समाज के पथ प्रदर्शक हैं। हिंदू धर्म को बचाए रखने में संत गोस्वामी तुलसीदास को सबसे बड़ा श्रेय जाता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जी के निर्मल यश का लेखन एवं गायन गोस्वामी तुलसीदास ने किया। भगवान राम जी के स्थापित मानवीय मूल्यों में करुणा, दया सहानुभूति थी। उन्होंने माता-पिता की सेवा का सर्वोत्तम आदर्श स्थापित किया।

ऋषिकल्प गोस्वामी जी के ग्रंथरत्नों में निहित रसमूलक साहित्य साधना, विलक्षण काव्य प्रतिभा, उदात्ततम काव्यदर्श, आभ्यान्तरिक वृत्तियों की मनोवैज्ञानिक परक भावानुगामिनी भाषा, कलात्मक संयम, कला की लोकोन्मुक्ता समन्यवादी दृष्टि, लोकमंगल की साधनापरक व्यवस्था, विश्वजननी करुणा, आचार प्राण सर्वसुलभ उपासना पद्धति, लोकहृदय की सच्ची पहचान, रामराज्य का सामाजिक आदर्श, जड़-चेतन में सामंजस्य, सामाजिक संसक्ति लोकोपकार की

निष्ठा, वैश्विक मानव धर्म की प्रतिष्ठा आदि के कल्यान्त तक उनकी कृतियाँ मानव के विकास पथ में आलोक पुंज प्रदान करती रहेंगी। इस संबंध में आधुनिक युग के लब्धप्रतिष्ठ कवि शहरिऔध जी की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

बन राम रसायन की रासिका रसना रासिकों की भाई सफाला ।
अवगाहन मानस में करके जन—मानस का मल सारा टाला ।
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला ।
कविता करके तुलसी ने लसे कविता लसी पा तुलसी की कला ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. "तुलसीदास", अमरनाथ शुक्ला, विद्या प्रकाशन मंदिर ए पी 10, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032
2. "तुलसीदास", कमल शुक्ला, सीमांत प्रकाशन—22 खूचा रुहेला खाँ, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
3. "संत और संसार" , शारदा मिश्र, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद
4. "सोरो का संत" , स्वर्गीय रामकृष्ण शर्मा, आर्य बुक डिपो, दिल्ली
5. "गुसाई तुलसीदास" , संरु हरिजोशी एवं हीरालाल शुक्ल (कहानी संग्रह) विश्वभारती प्रकाशन नागपुर
6. "गोस्वामी तुलसीदास", रामजी तिवारी, पृष्ठ संख्या 140

हिन्दी ग़ज़ल परम्परा में बिहार के ग़ज़लकारों का अवदान

डॉ० जियाउर रहमान जाफरी

हाईस्कूल माफी + 2, वाया- अस्थावां, जिला- नालंदा, बिहार

हिन्दी कविता में हिन्दी ग़ज़ल अपनी जिस समृद्धि की तरफ है, वहाँ अब इसे न किसी बैसाखी की जरूरत है और न किसी पहचान की। हिन्दी ग़ज़ल पाठकों के द्वारा जहाँ सराही जा रही है, वहाँ आलोचकों के द्वारा स्वीकारी भी जा रही है। हिन्दी ग़ज़ल की परम्परा कबीर या उसके भी आगे अमीर खुसरो से शुरू होती है। इस बात को स्वीकारते हुए डॉक्टर रोहिताश्व अस्थाना ने भी लिखा है- 'हिन्दी खड़ी बोली के जन्मदाता अमीर खुसरो की रचना में भी हिन्दी ग़ज़ल के तत्व से विद्यमान हैं।' यह अलग बात है कि भारतेन्दु युग और छायावादी युग में आकर हिन्दी ग़ज़ल जानी और पहचानी जाने लगी। भारतेन्दु ने जहाँ रिसा के उपनाम से ग़ज़लें लिखी वही बेला में निराला की कई ग़ज़लें मौजूद हैं। हिन्दी ग़ज़ल को पहचान दिलाने में शमशेर का भी अवदान कम नहीं था स्वयं दुष्यन्त ने अपने शेरों पर शमशेर का प्रभाव माना है। यह अलग बात है कि अगर लिपि हटा दी जाए तो शमशेर की ग़ज़ल उर्दू शायरी का ही अनुसरण करती है। ज्ञानप्रकाश विवेक ने भी स्वीकारा है- 'शमशेर बहादुर सिंह ठेठ उर्दू मुहावरे में ग़ज़ल कहते हैं।'¹

ऐसा नहीं है कि शमशेर इसे नहीं स्वीकारते। वह तो कहते हैं कि मैं हिन्दी और उर्दू का दोआब हूँ। वस्तव में हिन्दी ग़ज़ल को सबसे बड़ी देन दुष्यन्त की शायरी है। आज ग़ज़ल जहाँ पहुँची है उसे यहाँ तक लाने में दुष्यन्त का बड़ा अवदान है। उर्दू ग़ज़ल की पुरानी विधा ग़ज़ल को दुष्यन्त ने हिन्दी के नए साये में ढाला, और उनकी ग़ज़ल इतनी लोकप्रिय हुई कि हर शेर का सत्ता की परेशानी बढ़ जाती थी। यह त्रासदी दिनकर के साथ भी हुई थी पर दिनकर अंग्रेजी के खिलाफ लिख रहे थे, और दुष्यन्त भारतीय सत्ता भोगों के खिलाफ ग़ज़ल जिसे प्रेम काव्य समझा जाता था दुष्यन्त ने उसे आमजन के प्रेम से जोड़ दिया। इस सन्दर्भ में उनके कुछ शेर देखे जा सकते हैं-

पक गई है आदतें बातों से सर होगी नहीं
कोई हंगामा करो ऐसे गुज़र होगी नहीं³

× × ×

इस रास्ते के नाम करो एक शाम और
या इसमें रोशनी का करो इंतजाम और

× × ×

हर सड़क हर गली हर नगर हर गाँव में
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।⁴

हिन्दी के ग़ज़लकारों में आपातकाल पर इस मजबूती से शायरी करने वाले दुष्यन्त अकेले रचनाकार हैं। डॉक्टर विनीता गुप्ता मानती हैं कि उन्होंने हिन्दी ग़ज़ल को व्यवस्था विरोधी तेवर

दिए हैं।⁵ वहीं डॉ० संतोष कुमार तिवारी का मानना है कि दुष्यन्त में नई राह गढ़ने की कामना है।⁶

इसमें कोई दो राय नहीं है कि दुष्यन्त ने गज़ल का वह लहजा अख्तियार किया जिसका रूप उससे पहले किसी भी शायरी में नहीं मिलता था। दुष्यन्त ने शायरी को जो जमीन दी आज उस पर लगा हुआ वट वृक्ष व्यापक स्तर पर फैल चुका है। आज हिन्दी गज़ल कविता की प्रमुख विधा के तौर पर पहचानी जा रही है। हिन्दी के कई रचनाकार पूरी जिम्मेवारी से गज़लें लिख रहे हैं। आज गज़ल का एक माहौल बना हुआ है। आज की गज़ल आलोचना के केन्द्र में भी है विनय मिश्र और जहीर कुरैशी के गज़ल साहित्य पर आलोचनात्मक किताबें मौजूद हैं। उर्मिलेश और विज्ञान व्रत के गज़ल साहित्य पर भी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। विश्वविद्यालयों में शोध हो रहे हैं, जो गज़ल की लोकप्रियता को दिखलाती है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से भी हिन्दी गज़ल किसी अन्य भाषाओं की गज़ल से पीछे नहीं है। उर्दू के पास बशीरबंद्र, निदा फाजली, मुनव्वर राना, परवीन शाकिर, मंज़र भोपाली, और राहत इंदौरी की परंपरा है तो हिन्दी गज़ल के पास भी विनय मिश्र, विज्ञान व्रत, उर्मिलेश, जहीर कुरैशी या कुंवर बेचैन जैसे शायर हैं। हिन्दी गज़ल की इस परम्परा को बिहार के रचनाकारों ने भी समृद्ध किया है। हिन्दी गद्य साहित्य में भी बिहार के अवदान को नकारा नहीं जा सकता है जहाँ दिनकर अपनी उर्वशी, कुरुक्षेत्र और संस्कृति के चार अध्याय के लिए जाने जाते हैं तो रेणु और शिवपूजन सहाय से हिन्दी की आंचलिक कहानी की शुरुआत मानी जाती है। हिन्दी में न केनवाद की शुरुआत भी यहीं से हुई। जानकीवल्लभ शास्त्री की गिनती छायावादोत्तर काल के कवियों में प्रमुखता से की जाती है। उन्होंने गज़लें भी लिखी हैं, लेकिन उनकी कविताएँ अधिक सशक्त हैं।

बिहार में लगभग दो दर्जन से अधिक लोग हिन्दी में आज शायरी कर रहे हैं। उर्दू में तो गज़लें लिखी ही जा रही है यहाँ की बोली जाने वाली भाषाएँ मैथिली, मगही, अंगिका और भोजपुरी में भी गज़लें पाबंदी से प्रकाशित हो रही हैं। बिहार के हिन्दी गज़लकारों में सबसे प्रमुख नाम मुंगेर के अनिरुद्ध सिन्हा का है। उनकी गज़ल की किताबें तो हैं ही, उन्होंने गज़ल के आलोचक के तौर पर भी अपनी खास पहचान बनाई है। समकालीन हिन्दी गज़ल जहाँ उनकी आलोचना की महत्वपूर्ण किताब है, वहीं तपिश गज़ल संग्रह की चर्चा हिन्दी पट्टी में सबसे ज्यादा है। मुंगेर के अन्य गज़लकारों में सियाराम प्रहरी, अशोक आलोक, रखां हाशमी, और अंजनी कुमार सुमन के पास भी गज़ल वाला लबो लहजा है। विकास की किताब उछालो यू नहीं पत्थर ने हिन्दी गज़ल की मजबूती में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। इस सन्दर्भ में कुछ शेर देखे जा सकते हैं—

तेरा ख्याल अगर दम बदम नहीं होता
हमारी फिक्र का मौसम यह कम नहीं होता। —अनिरुद्ध सिन्हा
अपने हिस्से का आशियां छूकर
हम न जायेंगे यह जहाँ छूकर? —विकास
वापस उनके माथा ठनक जाता है
दिल का दर्पण अचानक भड़क जाता है। —छंदराज
दिल के आगे दिमाग आया है
ओ मोहब्बत में दाग आया है। —रखां हाशमी
यश शासकों की सलाह है साहब
प्यार करना गुनाह है साहब। —अंजनी कुमार सुमन

इसी मुंगेर से कटकर बना जिला बेगूसराय भी साहित्य की उर्वर भूमि रही है। यह दिनकर, रामशरण शर्मा, वचनदेव कुमार, कुमुद विद्यालंकार और फजलुर्रहमान हाशमी की जन्मभूमि है। यहाँ की साहित्यिक परम्परा का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यहाँ के एक दर्जन से अधिक साहित्यकारों को साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में भी जहाँ शिवनंदन सिंह ने एक खास पहचान बनाई है, वहीं फजलुर रहमान हाशमी की व्यंग्य प्रधान ग़ज़लों के चाहने वाले बहुत लोग थे। मेरी नींद तुम्हारे सपने फजलुर रहमान हाशमी की ग़ज़लों का संग्रह है। जिनके बारे में प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० भगवती शरण मिश्र कहते हैं हिन्दी के समकालीन ग़ज़लकारों में से किसी की भी ग़ज़ल से इनकी ग़ज़लों की आसानी से तुलना की जा सकती है।⁸ श्री हाशमी के कुछ शेर भी देखे जा सकते हैं—

साया भी तो हट जाता है हर रात को देखो
जब आप मेरे पास तो दूजा नहीं होता

× × ×
गम में जो लोग मुस्कुरा ना सके
जिंदगी के करीब आ ना सके।

इसी शहर के ए आर आजाद ने माँ एक ग़ज़ल और बेटी एक ग़ज़ल की रचना की। जो एक ही छंद पर लिखी जाने वाली हिन्दी ग़ज़ल परम्परा की पहली पुस्तक है। इस सन्दर्भ में बेगूसराय के शायरों में अशांत भोला सिंह, रामा मौसम रूपम झा, मनोज कुमार णा, और रंजन कुमार णा की शायरी भी हमें आश्चर्य करती है। अशांत भोला सिंह की ग़ज़लें और मुक्तक उनकी प्रसिद्धि का आधार है। उन्होंने छोटीबहर की ग़ज़लें भी बड़ी बेबाकी से लिखी है जैसे उनका ये शेर—

मेरे जैसा बनकर देख
जुर्म के आगे तन कर देख।

इस पंक्ति के लेखक की भी ग़ज़ल के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनका नाम खुले दरीचे की खुशबू और खुशबू छू कर आई है। इस लेखक आलोचना की एक किताब ग़ज़ल लेखन परंपर और हिन्दी ग़ज़ल का विकास भी हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में पसंद की गई है। बेगूसराय के प्रभात कुमार प्रभाकर कई आलोचनात्मक पुस्तकों के साथ निरंतर ग़ज़ल भी लिख रहे हैं। उन्होंने चमन चमन के फूल के नाम से हिन्दी ग़ज़ल और कविताओं का संपादन भी किया है उनके अंशआर में समाज के बदलने की चिंता साफ दिखाई देती है जैसे उनका ये शेर—

समाज की अजीब है तस्वीर यारों
इसमें क्या ढूँढते हो तकदीर यारों। —प्रभात कुमार प्रभाकर

यहीं के राहुल शिवाय ने भी कविता और ग़ज़ल के क्षेत्र में बड़ा काम किया है। फ़ैसल सरोजवी भी अच्छी ग़ज़लें रच रहे हैं।

बिहार में जो लोग हिन्दी में ग़ज़ल पूरी जिम्मेवारी से लिख रहे हैं और जिनमें ग़ज़लियत और ग़ज़ल का मुहावरा और लबो लहजा भी है उनमें अमान ज़खीरवी और कैलाश झा किंकर का नाम बड़ा महत्वपूर्ण है। कुछ माह पहले ही किंकर कोरोना के शिकार हो गए। जिन्दगी के कई रंग उनकी ग़ज़लों का संग्रह है। वह कौशिकी के संपादक के तौर पर भी जाने जाते हैं। परिंदों का सफर अमान ज़खीरवी की हिन्दी ग़ज़लों का संग्रह है। आप बाल साहित्य और दोहे के भी मर्मज्ञ हैं लेकिन हिन्दी ग़ज़ल में भी उन्होंने अपनी लेखनी की है उनके एक—दो शेर देखे जा सकते हैं—

सफर में ऐसे लोगों को कभी खतरा नहीं होता
जब माँ की हर बताई सवधानी याद रहेंगे।
अंधेरे में निकलती मुँह छुपाकर
गरीबी रातरानी हो गई है।⁹ –अमान जखीरवी

जाहिर है गज़ल ने अपने पुराने लिबास उतार लिए हैं और नए लिबास में प्रेमालाप ही नहीं सामाजिक चिंता भी है। जैसा कि डॉक्टर प्रभात कुमार प्रभाकर ने भी कहा है समकालीन हिन्दी गज़ल माशूका के जुल्फ में अटकी हुई नहीं है।¹⁰ बिहार के गज़ल लेखन में ए0आर0 आजाद की बोलती गज़लें अपनी अहमियत रखती है। छन्द की बंदिश उनकी रचनाओं की बड़ी विशेषता है। बिहार के हिन्दी गज़लकारों पर दो महत्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हैं एक अनिरुद्ध सिन्हा की बिहार के प्रतिनिधि गज़लकार, और दूसरे विकास की शीघ्र प्रकाशित पुस्तक बिहार की गज़लें यह दोनों पुस्तकें बिहार में हिन्दी गज़ल लेखन को मजबूती से रखती हैं। हिन्दी गज़ल की परम्परा में बिहार के अनेक शायर पाबंदी से गज़ल लिख रहे हैं और उनकी हिन्दी गज़लें हिन्दी कविता में शामिल की जा रही है। नचिकेता हिन्दी गीत परम्परा के अग्रणी रचनाकार हैं। आईना दरका हुआ उनके रचनाओं का संकलन है। आलोचना के स्तर पर भी उनकी किताब अष्टछाप बेहद चर्चित रही है। इस किताब में उन्होंने हिन्दी के समकालीन आठ गज़लकारों का जायजा लिया है। नचिकेता का मानना है कि हिन्दी में गज़ल अमानवीय राजसत्ता के खिलाफ है इसमें असंतोष, असहमति और विरोध की अभिव्यक्ति है।¹¹

यह आक्रोश असहमति आक्रोश और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। ये मुखालफत और असहमति बिहार के गज़लकारों में भी देखने को मिलती है। इस संदर्भ में बिहार के कुछ अग्रणी शायरों के शेर देखे जा सकते हैं—

यह धूप छाँव की आदत बदली नहीं सकती
तेरे इशारों पे हर चीज चल नहीं सकती।¹² –अनिरुद्ध सिन्हा
हमारी छत पर जल अटका बहुत था
हमें इस बात का खटका बहुत था। 'आरती कुमारी
वो अपनी खामियों को ढाँकता है
गिरेबाँ में हमारी झाँकता है। –घनश्याम
दिल ही दिल में उल्फत होना मुश्किल है
और मुकम्मल चाहत होना मुश्किल है। –दीनानाथ सुमित्र
अगर ये सख्त सफर है धुआँ घना होगा
कहीं कोई तो मेरी राह देखता होगा। –ध्रुव गुप्त
बज़ाहिर हम संवरते जा रहे हैं
मगर एहसास मर के जा रहे हैं। –प्रेम किरण
कभी तो अपने ख्यालों में बसाया होता
जरा दरिया को समंदर से मिलाया होता। –रामा मौसम
दिल को मासूम सा बचपना चाहिए
इससे बढ़कर न कुछ सोचना चाहिए। –डॉ० भावना
बीच भंवर में बोल रही है
बिटिया बाजू ढोल रही है। –मंजुला उपाध्याय मंजुल
कुछ उन्हें बिन कहीं रह गए
फैसले फासले रह गए। –रंजन कुमार णा

मैं तुम्हारी महफिलों में बस हवा भर कर रहा
रात भर का साथ था बस मैं दिया बनकर रहा। —राहुल शिवाय
आंगन का हर कोना कोना बेबस है
अरे के अंदर घर का रिश्ता बेबस है। —शिवनारायण
जब तेरी यादों का मौसम बोलता है
आह की भी शक्ल में गम बोलता है। —सागर आनंद
मुकम्मल काफिला टूटा पड़ा है
सफर में था नया टूटा पड़ा है। —विकास
नए जज्बात गिरते हौसलों में बो रहे हैं
है छोटी आँख फिर भी लाख सपने ढो रहे हैं। —अंजनी कुमार सुमन
वक्त कहता है कि अब घर से निकला जाए
पर जरूरत है कि थमने ही नहीं देती है। —जियाउर रहमान जाफरी
तू बसी तो लगा काजल है आँखों में
तू गई तो लबालब जल है आँखों में। —ए0आर0 आज़ाद
हर खुशी से दूर हैं हम
तरक्की के नासूर हैं हम। —फैसल सरोजवी

इन सबके अतिरिक्त भी बिहार के कई ऐसे शायर हैं। जिनसे हिन्दी गज़ल को बल मिला है। जाहिर है जब हिन्दी गज़ल की बात चलेगी तो उसमें बिहार के गज़लकारों की नुमाइंदगी को खारिज नहीं किया जा सकेगा। कुंवर नारायण मानते हैं क बिहार में हिन्दी के सबसे ज्यादा सजग पाठक हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कविता के इस पाठकों की मन गज़ल में अधिक बसता है क्योंकि गज़ल अपनी स्वाभाविकता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता के कारण हर दिल के अंदर मौजूद है।

संदर्भ :

1. हिन्दी गज़ल उद्भव और विकास रोहिताश्व अस्थाना, पृ0 40
2. हिन्दी गज़ल की विकास यात्रा, ज्ञानप्रकाश विवेक, पृ0 63
3. साए में धूप, दुष्यन्त कुमार, पृ0 51
4. वही, पृ0 30
5. हिन्दी गज़ल की विकास यात्रा, विनीता गुप्ता, पृ0 265
6. नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर, डॉ0 संतोष कुमार तिवारी, पृ0 248
7. सामयिक परिवेश, जुलाई 2020, अंक 17
8. मेरी नींद तुम्हारे सपने, फजलुर रहमान हाशमी, भूमिका से
9. परिंदों का सफर, अमर जखीरवी, पृ0 17
10. चमक चमन के फूल, संपादक प्रभात कुमार प्रभाकर, पृ0 11
11. अष्टछाप, संपादक— नचिकेता, 57
12. बिहार की गज़लें, संपादक विकास, पृ0 10

संस्कृत वाङ्मय में विज्ञापन-तत्त्व

डॉ० गङ्गेश 'गुञ्जन'

ग्राम+पोस्ट- केयाल, थाना- करपी, जिला- अरवल (बिहार) पिन- 804419

वेद से लेकर आज तक प्रणीत ग्रन्थों को संस्कृत वाङ्मय अपने आप में समाविष्ट करता है। ऐसे व्यापक फलक पर निबन्ध खड़ा करना चुनौतीपूर्ण है। फिर अपने ज्ञान की भी इयत्ता स्मरणीय है। ऐसी स्थिति भाँपकर एक हृदयबन्दी को चुम्बित करना ही श्रेयसकर होगा।

आज का युग विज्ञान का युग है। वैसे विज्ञान शब्द बहुल अर्थक है। इसीलिए तो राजनीति-विज्ञान, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान, समाज विज्ञान प्रभृति शब्द भी हमारे सामने हैं। भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान के संदर्भ में जो विज्ञान शब्द हैं या फिर अध्यात्म विज्ञान शब्द है, तो ये सारे शब्द एक अर्थ में नहीं हैं। अमरकोष में आया है- प्रवीणे निपुणाभिज्ञ विज्ञ निष्णात शिक्षिता। वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि। वामन शिवराम आप्टे के कोश में 'विज्ञानम्' शब्द के अर्थ हैं- ज्ञान, बुद्धिमत्ता, प्रज्ञा, समझ, आत्मा के पाँच कोशों में पहला विज्ञानमय कोश, विवेचन, कुशलता, प्रवीणता, परमात्मा-विषयक ज्ञान, व्यवसाय, नियोजन आदि-आदि। The Oxford compendium of English में विज्ञान (English) शब्द का अर्थ है- Branch of knowledge involving systematized observation, experiment and induction.

प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त प्रायः समग्र सम्मिश्र अर्थों को लेकर चलने का संकल्प है। लेकिन, इस संकल्प से शीर्षकाबद्ध निबन्ध नाना प्रकार की दिशाओं में चलकर विपथगामी हो जाएगा। अतः, विज्ञान का एक अर्थ विशिष्ट ज्ञान है। पारिभाषिक अर्थ में विज्ञान का प्रयोग ज्ञान के उन तमाम क्षेत्रों के लिए होता है जिनके सिद्धान्तों और नियमों का परीक्षण प्रयोगशाला में पूर्वग्रह मुक्त होकर व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। विज्ञान का सबसे बड़ा आधार है कार्य-कारण की नित्यता। रसायन-विज्ञान या भौतिक विज्ञान इसी पारिभाषिक अर्थ में विज्ञान है, किन्तु राजनीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान तो विशिष्ट ज्ञान रखने वाला, शास्त्रीय ज्ञान रखने वाला विज्ञान है। विज्ञान के भावतत्त्व को, सम्बन्धतत्त्व को वैज्ञानिक तत्त्व कहते हैं। संस्कृत वाङ्मय में विज्ञान के सम्बन्ध-तत्त्व को ही रेखांकित करने का प्रमुख कार्य प्रस्तुत निबन्ध का वेध्य विषय है।

'नासदीय सूक्त' में आया है- "तम आसीत्तमसा..." प्रारम्भ में शून्य (तम) था। श्रीमद्भागवत भी इसी सुर में सुर मिलाता है- "यद् तद् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम्। भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः।" अर्थात् वह स्वरूप साक्षात् परब्रह्म है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, शून्य के समान ही है। परन्तु वह शून्य नहीं है, परम सत्य है। भक्तजन उसी वस्तु को भगवान् वासुदेव इस नाम से वर्णन करते हैं।

शून्य से ही सृष्टि की हेतुमद्भवता बनती है। और, हेतुमद्भाव स्वरूप अशेष रूप वासुदेव है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय का ग्यारहवाँ श्लोकार्थ है- (ब्रह्मा की स्तुति वासुदेव के प्रति)- हे मेरे स्वामी! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूपी आवरणों से घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड मेरा शरीर है और आपके एक-एक रोम के छिद्र में

ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते पड़ते रहते हैं जैसे झरोखे की जाली में से आने वाली सूर्य की किरणों में रज के छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं।²

यहाँ महत्त्व, अहंकार और पंचतत्त्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) की चर्चा आयी है। महाशून्य में गुण-संक्षेप से महत्त्व के बाद अहंकार और अहंकार के बाद पंचतत्त्व की उत्पत्ति होती है। हरिवंशपुराण यहाँ अवलोक्य है— संक्षोभ कहीं Big Bang तो नहीं है।

अहङ्कारस्तु महतस्तस्माद् भूतानि जज्ञिरे।³

× × ×
वायुराकाश संभवः⁴

× × ×

आज्यसंघर्षणोद्भूत पावकं चाज्यसंभवम्।⁵

अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि और इसी क्रम में जल की उत्पत्ति होती है—

आत्मतेजोद्भवाः पुण्या आपोऽमृतरसोपमाः।⁶

आज का विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का दो-एक अनुपात-मिलन जल का निर्माण करता है। जिसे रसायन की भाषा H₂O कहते हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन की ज्वलनशीलता निश्चय ही जल है अर्थात् अग्नि से जल।

जल से पृथ्वी का बनना और उससे खनिजों और चट्टानों का बनना कहा गया है—

द्रवं यत् सलिलं तस्य धनं यत् पृथिवी भवत्।⁷

महाद्वीपीय प्रवाह का सिद्धान्त सन् 1912 ई0 में ऋतु वैज्ञानिक अल्फ्रेड वेगनर ने दिया था। इसकी पड़ताल के क्रम में संस्कृत वाङ्मय का ऋण कहीं न कहीं से उस पर चढ़ता प्रतीत होता है। सबसे हैरानी तब होती है, जब हम बिग बैंग सिद्धान्त (The Principle of Big Bang) की ओर दृष्टि प्रक्षेप करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार महाविस्फोट के कारणभूत स्वरूप ही महत् पिण्ड विकीर्ण होकर टुकड़ों में बँट गये जिनसे तारादिग्रह-उपग्रह उद्भूत हुए। हरिवंश पुराण का यह श्लोक इस संदर्भ में तौलने लायक है—

हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा प्रतिवत्सरम्।

तदण्डमकरोद् द्वैयं दिवं भुवमथापि च।।⁸

अर्थात् उसमें सालभर (प्रतिवत्सर) रहकर उस अण्डे को (तत् अण्डम्) को दो टुकड़े कर दिये जिनमें एक टुकड़े से पृथ्वी तथा दूसरे से देवलोक (दिवम्) का निर्माण किया। यहाँ स्पष्ट संकेत है कि एक उद्भासित भाग है अपर अनुद्भासित।

आधुनातन एरा (Era) डार्विन के विकासवाद-सिद्धान्त को पाकर झूमता है। इस सिद्धान्त का मानना है कि मानव वानर का विकसित रूप है। हमारा मानना है कि मानव का विघटित रूप वानर है, क्योंकि हम जानते हैं कि अनुपयोगी अंग या तो विकृति को या नष्ट हो जाते हैं या विवृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। अनुपयोगी अंगों की विकृति, भंगुरता, वा विवृद्धि की दिशा सुनिश्चित-सी नहीं है। थोड़े समय के लिए हम मान लें कि अनुपयोग से विकृति संभव होती है, तो मानव का विकृत रूप वानर सिद्ध होगा। इसीलिए रामायण में जटायु मनु से मानव की उत्पत्ति बतलाते हैं और सत्रह प्रजापतियों का आख्यान प्रस्तुत करते हैं जिनमें सत्रहवें कश्यप प्रजापति हैं। कश्यप ने मैथुनी सृष्टि का क्रम बनाए रखने के लिए दक्ष की पुत्री मनु से मानव को पैदा किया। जीव-विज्ञान के अनुसार क्रोमोजोन (जीन) के मिलन से नव जीवन का प्रारंभ मान्य है। नर और मादा के जीन से ही जीव जन्म लेता है। अतः, जीन का सिद्धान्त विकासवाद के आड़े आता है।

जर्मनी विज्ञानिकी अल्फ्रेड वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त है। इन्होंने पृथ्वी की उत्पत्ति बतलाने के क्रम में बड़ी रोचक बात निर्देशित की है। महाद्वीप करोड़ों वर्ष पूर्व मात्र एक थलपिण्ड थे। उसके चारों ओर जल ही जल था। थलपिण्ड को महाशय वेगनर ने पेंजिया कहा है और चतुर्दिक् परिव्याप्त जलक्षेत्र को 'पेंथालासा' की संज्ञा दी है। आश्चर्य होता है कि हमारे पुराणकार इसी तथ्य को भिन्न भाषा की भंगिमा से इस प्रकार कहते हैं— शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनामं सुरेशम्.....श्रीनारायण पद्मनाम हैं। वेगनर ने पेंजिया को गोलाकार रूप में चित्रित किया है जो कमल सदृशवत् ही दृष्टिगोचर हो सकता है। नारायण शब्द को यदि हम नोटिस में लें, तो 'नार' जल को कहते हैं और 'अयन' आश्रय का बोधक है। एकमात्र 'नारायण' शब्द जल की परिव्याप्ति का द्योतक है। सीमा—निफै पर प्रज्वलित रक्ताभ थक्का स्वरूप थलपिण्ड गोया जल पर पद्म तैर रहा है। यह बिम्ब हमें चकित करता है। हरिवंशपुराण का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

हुताशनं ज्वलितशिखोज्ज्वलत्प्रभम् ।
सुगन्धिनं शरदमलाकं तेजसम् ।
विराजते कमलमुदारवर्चसं
महात्मनस्तनुरुह चारुदर्शनम् ।⁹

अर्थात् भगवान् नारायण ने अपने नाभि—देश से एक स्वर्णमय कमल उत्पन्न किया। उस कमल की प्रभा प्रज्वलित अग्निशिखा तथा शरत्कालीन सूर्य के सदृश प्रकाशपूर्ण थी। उसकी सुगन्धि बड़ी ही मनोहारी थी। उसमें धूल—गर्द का नामोनिशान नहीं था। फलतः नारायण के नाभिकमल की मनोहरता की सीमा नहीं थी।

इस श्लोक में 'कमलमुदारवर्चसम्' और 'हुताशनं ज्वलित शिखोज्ज्वलत्प्रभम्' को ध्यान में रखकर सोचने पर पेंजिया शब्द की भावभूमि स्पष्ट होती है। वेगनर ने अपने सिद्धान्त (महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त) को स्पष्ट करते हुए कहा है कि महाद्वीपीय खण्ड कार्बोनिफेरस नामक भूतत्त्व युगतक सकल पिण्ड के रूप में विद्यमान थे। उस समय अफ्रीका के दक्षिणी छोर नेटाल के ही निकट दक्षिणी ध्रुव था। और, इसी विस्तृत भूखण्ड को वेगनर ने पेंजिया कहा है। भूवैज्ञानिकों का मानना है कि सम्पूर्ण पृथ्वी तीन परतों का ही एक गोला है। केन्द्र में निफै नामक गर्म और तरल पदार्थ है। इसके ऊपर वाले हिस्से को सीमा कहते हैं और सबसे ऊपर वाले हिस्से वाली परत की संज्ञा सियाल है। वेगनर महाशय के अनुसार पेंजिया सियाल से निर्मित एक संगठित बृहत् पिण्ड था। पेंजिया के अतिरिक्त जो जगह जल—प्लावित थी, उसे ही सागर कहते हैं। इसी सागर को वेगनर महोदय ने 'पेंथलासा' की संज्ञा दी है। पुराणकार कहता है कि पद्म (कमल) के चारों ओर जो जलराशि है, वह कुश स्थित एकार्णव की जलराशि है—

पद्मस्यान्ते कुशं यत्तदेकार्णवजलं महत् ।
प्रोक्तास्ते दिक्षु संघाताश्चत्वारो जलसागराः ।¹⁰

जब 'चत्वारी जलसागराः' कहा जाता है तब भिन्न भाषा—भंगिमा से उसे ही 'पेंथालासा' कहा जाता है। भगवान् वाराह की कथा से हम सभी अभिज्ञ हैं। उन्होंने जलमग्न पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर उठा लिया था—

स्वद्रंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।¹¹

अर्थात् फिर वे (वाराह भगवान्) जल में डूबी हुई पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर लेकर रसातल से ऊपर आये।

गुरुत्वाकर्षण के बावजूद पेंजिया अर्थात् थलपिण्ड कई बार जल से ऊपर उठ आया था। वेगनर महाशय द्वारा उपस्थापित तथ्य से कितना सटीक तालमेल बैठता है। आश्चर्य होता है।

वेगलर महोदय मानते हैं कि सभी महाद्वीप प्रवाहित होकर विस्थापित हुए हैं। देवीभागवतपुराण में वर्णन है कि पृथ्वी सप्तद्वीपवती है— सप्तद्वीपा भूमौ विभागशः।¹²

अब हम थोड़े शब्दों में भारतीय संस्कृति में आए कुछ देवताओं की चर्चा करना चाहेंगे, जहाँ स्पष्टतः विज्ञान—तत्त्व की हमें उपलब्धि होती है।

गणपति गणेश की अग्रपूजा का विधान हमारे यहाँ है। यह क्यों? आपको पता ही होगा कि 1992 ई0 में टाइटेनिक (Titanic) नामक एक अत्यन्त उत्कृष्ट जहाज का निर्माण किया गया था। उसके विज्ञापन में यह गर्वोक्ति पूर्ण दावा किया गया था— "Titanic is designed to be unsinkable." लेकिन, उसका हश्र क्या हुआ, यह आपसबों को मालूम है। एक हिमखण्ड ने उसमें विघ्न डाला और वह सहसा डूब गया और 1517 यात्री मारे गये थे। यह निर्माताओं का मात्र अहंकार ठहरा। अतः, हमारे मनीषियों ने एक दिव्य सत्ता जो विघ्न निवारक है, उसकी अग्रपूजा का विधान किया। 'गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्' में उसे प्रत्यक्ष ब्रह्म घोषित किया गया है—

त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।

ऋग्वेद की स्पष्ट घोषणा है—

न ऋते त्वत् क्रियते किं चनारे।

अर्थात् हे गणपते! ब्रह्मन्! तुम्हारे बिना कोई कर्म प्रारम्भ नहीं किया जा सकता।

आद्य पूज्य गणपति देव की मुखाकृति में शीश प्रत्यारोपण का विज्ञान चौंकानेवाला है। वर्तमान वैज्ञानिक इस प्रत्यारोपण के प्रति नकारात्मक रुख नहीं रखते। The curious lives of human cadavers नामक पुस्तक स्पष्टतः बताती है कि 1908 में गूथरी नामक एक सर्जन एक जीवित कुत्ते की गर्दन के साथ एक अन्य कुत्ते का शीश जोड़ने में सफल हो गये थे। यह बात दिगर है कि वह कुत्ता कुछ ही दिन जीवित रहा। अतः, प्रत्यारोपण का यह विज्ञान आज के वैज्ञानिकों को उकसाने वाला अवश्यमेव है।

भगवान् शिव का स्वरूप तो पूर्णतः वैज्ञानिक है। भाल पर चन्द्रमा, गले में व्याल, हाथों में डमरू—त्रिशूल, इस पर त्रिनेत्र। बाह्य दृष्टि से सब अटपटा। किन्तु, गौर करें, तो यह सर्वोत्कृष्ट अर्थवत्ता का द्योतक है। हरिवंशपुराण कहता है कि यह विश्व भावमय है। पाप—पुण्य भावों की ही सृष्टियाँ हैं— "भावमयं विश्वं पुण्यपापं च भावतः।"

त्रिविध ताप देने से ही भूतभावन भगवान् शिव त्रिशूलधारी कहे जाते हैं—

शूलत्रयं संवितरन् दुरात्मने

त्रिशूलधारिन् नियमेन शोभसे।

दुरात्मा को वह आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शूल—पीड़ा देता है। इसी से वह त्रिशूलधारी है और अन्य कथंचित कोई तथ्य नहीं।

व्याल द्विजिह्व होता है। चुगलखोर (backbiter) भी द्विजिह्व होता है। किन्तु, शिव की कृपालुता देखिए वह उसे भी अपने गले का हार बना लेता है। पिता अपने बुरे लड़के को भी अपने में लिपटाए रहता है। व्यालहारी होने की यही वैज्ञानिकता उद्भासित होती है।

भाल पर चन्द्रमा अर्थात् मस्तिष्क से सदैव सकारात्मक अमृतमयी ऊर्जा प्रवाहित होती रहे, यही अर्थ—गांभीर्य, यही उदात्त वैज्ञानिकता।

भगवान् शिव के लिए वेद में 'त्र्यम्बक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। षड्विंश ब्राह्मण में 'त्र्यम्बकं यजामहे' की व्याख्या के अवसर पर कहा है— 'स्त्री अम्बा स्वसा यस्य अर्थात् ईश्वर शिवजी स्त्री—पुरुष दो रूपों में हैं, जैसे भाई—बहन होते हैं। सायणाचार्य ने 'पृषोदरादि' के सहारे 'स्त्री' शब्द के सकार का लोप किया है। वेद में त्र्यम्बक शब्द का अर्थ 'त्रिनेत्र' नहीं, बल्कि उमा सहाय शिव है।

भगवान् शिव को वृषभारूढ कहा गया है। 'वृष' का अर्थ धर्म है। धर्म के पाँच नाम अमरकोष में बताये गये हैं— स्याद्धर्ममस्त्रियाँ पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः।

तात्पर्य कि भगवान् शिव को जब वृषभारूढ कहा जाता है तब सीधा अर्थ है वह धर्मारूढ है। वह धर्मात्माओं के हृदय में निवास करने वाला है।

आज 'अष्टाध्यायी' संस्कृत-व्याकरण सर्वादृत, सर्वमान्य, सर्वप्रतिष्ठित है। इसकी रचना की वैज्ञानिकता से किसी को इनकार नहीं। यह सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से विनिर्मित है। कहा जाता है कि प्रयाग में अक्षयवट के नीचे पाणिनि कृच्छ्र तपश्चर्यारत थे। ठीक उसी समय भगवान् शूलपाणि सिद्धों का संघ लिए उनके सामने प्रकट हुए और उन्होंने आनन्दातिरेक से ताण्डव करते हुए चौदह बार डमरू-निनाद किया—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शो शिवसूत्रजालम्।।

शिव सूत्रों में वर्णों का विन्यास जिसे वर्णसमाम्नाय कहते हैं— इस अद्भुत वैज्ञानिक एवं अपूर्व कौशल से किया गया है कि उनके जोड़ने से अण, इण् आदि-आदि प्रत्याहार बन जाते हैं जो सारे व्याकरण शास्त्र की मूल भित्ति हैं। नन्दिकेश्वर ने अपनी 'काशिका वृत्ति' में इन शिव-सूत्रों की इस प्रकार व्याख्या की है कि मानो इनकी रचना शैवागम तथा शाक्तागम के दिव्यरहस्य का उद्घाटन करने के उद्देश्य से हुई है। उन्होंने प्रथम सूत्र अ इ उ ण् की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की है—

अकरोब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।

चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः।।

'अ' निर्गुण ब्रह्म का वाचक है और 'उ' सगुण ब्रह्म का। अब 'अ' अर्थात् निर्गुण ब्रह्म 'इ' अर्थात् माया (चिच्छक्ति) के साथ सम्पर्क में आता है, तब वह 'उ' अर्थात् सगुण ब्रह्म हो जाता है। तन्त्रों में भी इसी प्रकार का सिद्धान्त वर्णित है— शिवशक्त्यात्मकं विश्वम्। वर्णों की दिव्य शक्ति को पहले पहल तान्त्रिकों ने ही स्वीकारा हो, यह बात नहीं। वैदिक काल में भी यह बात सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर ली गयी थी। यही कारण है कि व्रणव (ऊँकार) को वेदों ने साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप माना है और उपनिषदों में भी परब्रह्म के लिङ्ग रूप में शब्द ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया गया है—

परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः।¹³

अब यदि जीवनचर्या-विज्ञान की चर्चा करें तो भारतीयों में उसकी स्पष्ट छाप मिलती है। प्रातः— उत्थान-विज्ञान, वस्त्रधारण-विज्ञान, पूजा-विज्ञान, भोजन-विज्ञान, रात्रिचर्चा-विज्ञान, गर्भाधान-संस्कार-विज्ञान से लेकर षोडशसंस्कार विज्ञान तक सर्वत्र विज्ञान ही विज्ञान दीखता है।

सर्वप्रथम प्रातः उत्थान विज्ञान की चर्चा करें। कोई भी व्यक्ति प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में उठकर इस अकाट्य सत्य का अनुभव कर सकता है कि प्रातःकाल वायुमण्डल शरीर, इन्द्रिय और मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाला तथा स्वास्थ्यप्रद होता है। इसका कारण स्पष्ट है कि रात्रि में तारागणों तथा चन्द्रमा के शीतल प्रकाश के संयोग से वातावरण शीतल होने के साथ प्राणप्रद वायु ऑक्सीजन की मात्रा अन्य समय की अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिए आयुर्वेद ग्रंथ में उल्लेखित है—

वर्ण कीर्त्ति मर्ति लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।

ब्राह्ममुहूर्ते सञ्जाग्रच्छियं व पङ्कजं यथा।

शौच-विज्ञान के अन्तर्गत मुख्य बातें हैं कि मल त्याग के पूर्व एक ग्लास जल जरूर पीना चाहिए, इससे मल-त्याग सुगमतापूर्वक हो जाता है। कफ-प्रधान व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे हानि हो सकती है। मल-त्याग के समय कानों तथा सिर में कपड़ा बाँधने से रक्तप्रवाह तथा वायु की गति अधोमुखी होने से मल-त्याग में पर्याप्त सहायता मिलती है और इसके साथ शरीर का उत्तम तथा पवित्र अंग की अपवित्र मल के परमाणुओं से रक्षा हो जाती है। दूसरी बात कि सूर्य के सम्मुख होकर मल-मूत्र त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि मूत्र से सूर्य की किरणों टकराकर मुख आदि अंगों पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ने पर चकत्ते हो सकते हैं। इसीलिए मनुस्मृतिकार का आदेश है-

वाय्वग्नि विप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥¹⁴

× × ×
मूत्रोच्चारसमुत्सर्ग दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखौ रात्रौ संध्योश्च तथा दिवा ॥¹⁵

आयुर्वेद कहता है-

शिरः प्रावृत्य कर्णौ च मुक्तकच्छशिखोऽपि च ।

शहरी संस्कृति में ऐसा संभव नहीं होता। इसीलिए स्यात् मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि रात अथवा दिन में बादल छा जाए, अथवा दिशा-विदिशा का ज्ञान न रह जाए अथवा प्राणों का भय उपस्थित हो जाए, तो इच्छापूर्वक जिधर चाहें उधर मुख करके मल त्याग करें-

छायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथा सुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥¹⁶

इसी प्रकार जीवन-चर्या विज्ञान की चर्चा करते हुए भोजन-विज्ञान की भी चर्चा अपेक्षित है। भोजन का लक्ष्य शरीर विकास के साथ निःश्रेयस् की प्राप्ति भी हमारे यहाँ मान्य है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है-

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवाः ।
स्मृतिः स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥¹⁷

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि भोजन सबको अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रिय होता है, जो तीन प्रकार का होता है-

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥¹⁸

सात्त्विक आहार स्वभाव से मन को प्रिय होता है जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला होता है-

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीतिविवर्धना ॥¹⁹

राजस आहार कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक होने के कारण दुःख, चिन्ता और रोगों को बढ़ाने वाला होता है-

कट्वम्ल लवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोककामयप्रदाः ॥²⁰

तामस आहार उसे कहते हैं जो अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र हो, ऐसा आहार तामस पुरुषों को प्रिय होता है।

इस प्रकार आहार के गुण दोष विवेचन से उसकी वैज्ञानिकता स्वतः सिद्ध है। गीता की आहार-दृष्टि विश्व-दृष्टि है बशर्ते निःश्रेयस् की प्राप्ति लक्ष्य हो।

षोडश संस्कारों में सभी की नहीं, अपितु विस्तार भय से गर्भाधान संस्कार, नामकरण-संस्कार, विवाह-संस्कार की चर्चा करके लेखनी विराम लेना चाहेगी।

गर्भाधान संस्कार से बीज (वीर्य) तथा गर्भाशय-सम्बन्धी दोष का मार्जन होता है। यही इसका फल है। काम भगवान की अनमोल विभूति है। भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि।

संतानोत्पत्ति लक्ष्य करके काम का सेवन करने से संतान वीर्यवती होती है। अतः, शास्त्रों में स्त्री-समागम के समय स्वस्थ मन को अहमियत है। स्वेच्छा चारिता सदैव संतापकारिणी है और अनेकानेक रोगों की जन्मदात्री है। इसलिए शुभ मुहूर्त तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। फलतः, गर्भाधान संस्कार का औचित्य असंदिग्ध है।

नामकरण संस्कार के पीछे गुण और उपयोगिता को ध्यान में रखा गया है। नाम का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ते देखा गया है। इसीलिए पुरुष और स्त्रियों के नाम में अन्तर रखने का विधान है। स्त्री नाम में मसृणता हो, इसलिए कहा गया है—

अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्।²¹

ब्राह्म आदि उत्तम विवाहों से उत्पन्न पुत्र पितरों को तारने वाला होता है। इसलिए विवाह-संस्कार में हमारे यहाँ विज्ञान-सम्मत विचार किया गया है। विवाह का फल संभोग-सुख नहीं है। उसका लक्ष्य महत्तर है। आधुनिक प्रथा में इसके प्रति नकारात्मक और राजनीति से प्रेरित दृष्टि नजर आती है। फलतः समाज में कई प्रकार की बुराइयाँ आती जा रही हैं। 'सखे! सप्तपदा भव' की भावना नहीं रहने से पति-पत्नी के बीच नानाविध तनाव उभरते जा रहे हैं। इनके शमन के लिए भारतीय संस्कृति में शास्त्रानुमोदित आचरण अत्यावश्यक है। जीवन का रथ सुचारु रूप से पूरे जीवन-काल में दौड़ता रहे, इसके लिए निहायत जरूरी है कि हम विवाह-संस्कार के विज्ञान को बखूबी समझे और अनुकरण करें।

अन्त में, संस्कृत-वाङ्मय में विज्ञान-तत्त्व विषय में उपराम लें, हम कहना चाहेंगे कि संस्कृत वाङ्मय अपनी समृद्धि से सारे संसार के लिए गौरवपूर्ण प्रकाश-स्तंभ है। यहाँ उसे सर्वविध वांछाएँ पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष अभ्युपलब्ध होगा जिसके तले वह हर्षित-पुलकित ही नहीं, वरन् विमापूर्ण ज्ञान-गंगा से उर्वरा ऊर्जा भी प्राप्त करेगा।

संदर्भ :

1. श्रीमद्भागवत, 9.9.49
2. क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू-संवेष्टिताण्डघटसप्त वितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधा विगणिताण्ड पराणुचर्या- वाताध्वरोम विवरस्य च ते महित्वम्।।
3. 1.1.31
4. 3.11.09
5. 3.11.10
6. 3.11.9
7. हरिवंशपुराण- 3.16.31
8. वही, 1.1.38
9. 3.11.17
10. 3.12.14

11. श्रीमद्भागवत— 3.13.31
12. श्रीमहादेवीभागवत— 5.4.15
13. प्रश्नोपनिषद् – पञ्चम प्रश्न— 2
14. मनुस्मृति— 4.48
15. मनुस्मृति— 4.50
16. मनुस्मृति— 4.51
17. छान्दोग्योपनिषद्— 7.28.2
18. गीता— 17.7
19. गीता— 17.8
20. गीता— 17.9
21. पाठगृहसू— 1.17.3

कौमी एकता के प्रथम सूत्रधार : कबीर

डॉ० रवि कुमार

यूजीसी नेट, पी०एच०डी०, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

वर्तमान साम्प्रदायिक संकीर्णता के विषम वातावरण में संत-साहित्य की उपादेयता बहुत है। संतों में शिरोमणि कबीर दास भारतीय धर्म निरपेक्षता के आधार पुरुष हैं। संत कबीर एक सफल साधक प्रभावशाली उपदेशक, महान नेता और युग-दृष्टा थे। उनका समस्त काव्य विचारों की भव्यता और हृदय की तन्मयता तथा औदार्य से परिपूर्ण है। उन्होंने कविता के सहारे अपने विचारों को भारतीय धर्म निरपेक्षता के आधार को युग-युगान्तर के लिए अमरता प्रदान की। कबीर ने धर्म को मानव धर्म के रूप में देखा था। सत्य के समर्थक कबीर हृदय में विचार-सागर और वाणी में अभूतपूर्व शक्ति लेकर अवतरित हुए थे। उन्होंने लोक-कल्याण कामना से प्रेरित होकर स्वानुभूति के सहारे काव्य-रचना की। वे पाठशाला या मकतब की देहरी से दूर जीवन के विद्यालय में मसि कागद छुयो नहि की दशा में जीकर सत्य, ईश्वर, विश्वास, प्रेम, अहिंसा, धर्म-निरपेक्षता और सहानुभूति का पाठ पढ़ाकर अनुभूति मूलक ज्ञान का प्रसार कर रहे थे। कबीर ने समाज में फैले हुए मिथ्याचारों और कुत्सित भावनाओं की धज्जियाँ उड़ा दीं। स्वकीय भोगी हुई वेदनाओं को आक्रोश से भरकर समाज में फैले हुए ढोंग और ढकोसलों, कुत्सित विचारधाराओं के प्रति दो टूक शब्दों में जो बातें कहीं उससे समाज की आँखे फटी की फटी रह गयीं और साधारण जनता उनकी वाणियों से चेतना प्राप्त कर उनकी अनुगामिनी बनने को बाध्य हो उठी।

देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान वैयक्तिक जीवन के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न संत कबीर ने किया। उन्होंने बाँह उठाकर बलपूर्वक कहा—

कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ।

जो घर जारे आपना, चले हमारे साथ।¹

धार्मिक आडम्बरों और विषमताओं का उन्होंने खुलकर विरोध किया। बाह्याडम्बरों का त्याग तथा सदाचारी सत्य जीवन उनके पथ का सम्बल था वह धर्म निरपेक्षता के प्रबल समर्थक थे।

आज से लगभग छः सौ साल पूर्व संत कबीर ने साम्प्रदायिकता की जिस समस्या की ओर ध्यान दिलाता था, वह आज भी प्रसुप्त ज्वालामुखी की भाँति भयंकर बनकर देश के वातावरण के विदग्ध करती रहती है। देश का यह बड़ा दुर्भाग्य है कि यहाँ जाति, धर्म, भाषागत, ईर्ष्या, द्वेष, बैर-विरोध की भावना समय-असमय भयंकर ज्वालामुखी के रूप में भड़क उठती है। दस बीस हताहत होते हैं, लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। भय, त्रास और अशांति का प्रकोप होता है। विकास की गति अवरूद्ध हो जाती है।

कबीर हिन्दू-मुसलमान में, जाति-जाति में शारीरिक दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते। भेद केवल विचारों और भावों का है। इन विचारों और भावों के भेद को बल धार्मिक कट्टरता और

साम्प्रदायिकता से मिलता है। हृदय की चरमानुभूति की दशा में राम और रहीम में कोई अंतर नहीं। अन्तर केवल उन माध्यमों में है जिनके द्वारा वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए कबीर साहब ने उन माध्यमों—पूजा—नमाज, व्रत, रोजा आदि का विरोध किया। अल्लाह, भगवान, कृष्ण, करीम, खुदा, राम आदि जन—प्रचलित ईश्वर वाचक सब शब्दों का अपनी वाणियों में प्रयोग करके सबका ईश्वर एक है, यह दिखाने का प्रयत्न किया—

कहै कबीर मैं हरि गुन गाऊँ,
हिन्दू तुरक दोउ समझाऊँ।
हिन्दू तुरक का करता एकै,
ता गति लखी न जाई।¹

समाज में एकरूपता तभी संभव है जबकि जाति, वर्ण, वर्ग, भेद न्यून से न्यून हो। संतों ने मंदिर—मस्जिद, जाति—पाँति के भेद में विश्वास नहीं रखा। सदाचार ही संतों के लिए महत्वपूर्ण है। कबीर ने समाज में व्याप्त बाह्याडम्बरों का कड़ा विरोध किया और समाज में एकता, समानता और धर्म निरपेक्षता की भावनाओं का प्रचार—प्रसार किया। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले व्यर्थ के झगड़ों और हिन्दू—मुसलमानों की परस्पर विरोधी भावनाओं का खुलकर विरोध करते हुए कहा—

हिन्दू कहे मोहि राम पियारा, तुरक कहै रहमाना।

आपस में दोउ लरि लरि मुए, मरम न काहू जाना।।³

कबीर ने सामाजिक व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखण्ड, रीति—रिवाजों और मिथ्याचार के विरुद्ध जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी। संत कबीर ने हिन्दू तुरक का करता एकै और राम—रहीम सबनु में दीठा कहकर हिन्दू—मुसलमान के भेद को मिटाने तथा दोनों को समीप लाने का प्रयास किया। कबीर ने उनके व्यावहारिक उदाहरण समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर भजन—पूजन, नमाज, रोजा आदि साधनों की अनेकता और साध्य की एकता का महत्व प्रतिपादित करते हुए धर्म निरपेक्षता को आधार करते हुए कहा है—

पूरब दिशा हरी को बासा, पश्चिम अल्लाह मुकामा।

दिल में खोजि दिलहि मा खोजो, इहै करीमा रामा।।⁴

कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ एक और हिन्दुत्व निकल जाता था दूसरी ओर मुसलमान, जहाँ एक ओर ज्ञान भक्ति मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर योग मार्ग, जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों को देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए और मार्गों के गुण दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।⁵

कबीर के काल में जितना भयंकर हिन्दू—मुसलमान का भेद था, उतना ही भयंकर ब्राह्मण और शूद्र का भी भेदभाव था। भारतवर्ष में वर्णव्यवस्था, जाति—प्रथा और ऊँच—नीच की भावना प्राचीनकाल से चली आ रही है। हिन्दू विचारों में उदार लेकिन व्यवहार में कट्टर रहे, वसुधैव कुटुम्बकम् की दुहाई देकर भी आठ कनौजिया नौ चूल्हे बनाये रहने का व्यवहार रहा। ज्यों कला के पात में पात, त्यों हिन्दुन की जात में जात, का प्रचलन रहा। यह देश की बड़ी विडम्बना है

कि किसी जाति में जन्म लेने से कितने भी उच्च आचरण करने वाले व्यक्ति को केवल जन्म के कारण इतना नीच समझा जाये कि उनके छूने मात्र से छूत लगने और पापी बनने का भय हो। इस घातक प्रभाव को कबीर की आँखें बड़ी करुणा और क्षोभ से देख रही थीं। उन्होंने अहंकारी ब्राह्मण को फटकारा और हीनता की भावना से पराभूत शूद्र को झकझोर कर जगाते हुए कहा—

काहे को कीजै पांडे छोट विचारा।

छोट ही से उपजा सब संसारा।।

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।

तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।।⁵

संत प्रवर सद्गुरु कबीर की विवेकधारा के समक्ष तात्कालिक सम्पूर्ण ज्ञान दंभी समाज निरुत्साहित सा जान पड़ता है। उन्होंने सबकी उत्पत्ति को समान बताते हुए उसमें ईश्वरीय सत्ता कराते हुए कहा है—

एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक जोति थे सब जग उतपना, को ब्राह्मन् को सूदा।।⁶

तथा उच्च स्वर से उद्घोषित किया—

ऊँचे कुल का जनमियाँ, करनी ऊँच न होय।

सुवरन कलस सुरा भरा, साधू निन्दा सोय।।⁷

पहले वर्ण व्यवस्था केवल कामों का बँटवारा थी। वर्ण को लेकर आपस में छूआछूत और ऊँच—नीच का भाव न था। जबसे वर्ण व्यवस्था उत्तरोत्तर कठोर होती गयी और मोटा काम करने के प्रति तथा कथित उच्च वर्ण वालों के मन में घृणा पनपती गयी। तब से मोटा काम करने वालों के प्रति अछूत होने की भावना बढ़ती गयी। मोटा काम करने वाले कर्मकारों के कर्मफलों का समाज ने भरपूर उपयोग किया, लाभ उठाया, पर इन मोटे कामों के करने वालों को अछूत समझा, हेय माना। कपड़ा, ठाठ से पहनकर कपास पैदा करने वाले किसान, रूई धुनने वाले धुना, कपड़ा बुनने वाले कोली या जुलाहा, रंगने वाले रंगरेज, सीने वाले सूजी या दर्जी, धोने वाले, धोबी सभी तो निम्न जाति जन्मा है अछूत हैं। सब्जी उगाने वाले, फल—फूल उगाने वाले, तेल तैयार करने वाले, बर्तन बनाने वाले, सफाई करने वाले, चमड़े का काम करने वाले, मकान बनाने वाले सभी निम्न जन्मा अछूत हैं। कर्मकार जिनके परिश्रम से समाज सुखी है, उन्हीं को हमने घृणा की दृष्टि से देखा। संत कबीर ने इन त्रुटियों को परखकर कर्मकारों की पक्षधरता की। कबीर ने कर्मकार ज्ञानियों की विशाल वाहिनी की सुत्रापात किया। जिनमें सदन कसाई, धन्ना जाट, नानक खत्री, दादू धुनियाँ, रैदास, चरनदास, पीपा, सेन, गुलाल साहब आदि निर्गुणियाँ संतों की धारा ही चल पड़ी। इन निर्गुणियाँ संतों ने अपने हाथों से अपना काम करके जीविकोपार्जन को ही श्रेष्ठ समझा। मन से वैरागी होते हुए भी उन्होंने किसी मठ—मंदिर का सहारा लेकर जीवन यापन नहीं किया। वे समाज के कंधों पर बोझा कभी नहीं बने। कपड़ा बुनने, मजदूरी करने और जूते गाँठने में भी उन्होंने बुरा नहीं माना। ईमानदारी के साथ किसी भी कार्य को करना ही उन्होंने श्रेष्ठ बताया। कबीर साहब ने कहा—

कोई धंधा कीजै। चौखो काज करीजै।।⁸

कर्मा के प्रति निष्ठा एवं सामंजस्य बिठाकर कबीर ने सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति आदर और प्रेम-भाव के साथ ही व्यक्ति, समाज एवं देश में धर्म निरपेक्षता की स्रोतास्विनी प्रवाहित की। हम सभी मानव हैं और मूलतः एक हैं। मानव की केवल एक ही जाति है और परिश्रम ही उन्नति का पथ है। प्रेम ही महान धर्म है यह महामंत्र सदगुरु कबीर साहब ने समाज में फूँका। उन्होंने तत्कालीन उपेक्षित समाज, शोषित दलित जनमानस के दुःख को अपने काव्य का आलम्बन बनाया। उन्होंने प्रगतिशीलता परिवर्तन, परिवर्द्धन, विकास रिनेसाँ ही उपस्थित कर दिया। समाज में जाति-पाँति की पूछताछ अधिक होने के कारण ही उन्होंने झुँझलाकर कहा—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजियो ग्यान।

मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान।⁹

संत कबीर के इस प्रयत्न से दो स्वतः संभव लाभ हुए। एक—अभिजात वर्ग का अहंकार दमित हुआ, दूसरे पतित समाज में सांस्कृतिक चेतना और क्रांति उपस्थित हुई। जिससे धार्मिक एकता का सूत्रपात हुआ। कबीर साहब ने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस संक्रामक युग में दृढ़ता के साथ मनुष्य—मनुष्य के बीच समानता की घोषणा करके एकता और भातृत्व भावना का प्रसार किया।

कबीर कभी किसी धर्म विशेष से बँधकर नहीं रहे। वे प्रेम का ढाई आखर पढ़ाकर मानव को मानव के सन्निकट लाना चाहते हैं। सच्चे मानव धर्म का प्रसार करना चाहते हैं।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में आय का मुख्य साधन कृषि ही रहा है। यहाँ की अर्थिक विषमता का एक मुख्य कारण भूमि का असमान वितरण भी रहा है। जागीरदार और बड़े किसानों के पास अधिक भूमि रही और छोटे किसान तथा मजदूर भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों पर ही गुजारा करने को मजबूर रहे। बड़े किसान छोटे किसानों को हड़पने में मत्स्य न्याय चलाते रहे। भूमि वितरण की इस असमान पद्धति और उससे उत्पन्न समस्याओं की ओर आज के कुछ सच्चे समाज सेवकों का ध्यान गया। सौभाग्य से वे भी संत ही थे—संत बिनोवा भावे। इस दुर्दशा की ओर आज से लगभग छः सौ साल पहले संत कबीर का ध्यान गया। उन्होंने सशक्त शब्दों में कहा कि भूमि का वितरण व्यक्तियों की संख्या और आवश्यकता के आधार पर होना चाहिए— जेते जिब तेजी भुइ दीजै।

इस प्रकार समस्त अभावों के मध्य जीवन व्यतीत करने वाले कबीर ने कार्ल मार्क्स से लगभग चार सौ साल पहले भारतवर्ष में समानता और समाजवाद के भावों की बुनियाद डालने का स्तुत्य प्रयत्न किया। जहाँ सभी धर्मावलम्बियों के पास समान साधन तथा भूमि होती तो धर्म निरपेक्षता और एकता की भावना को पर्याप्त बल मिलता। कबीर का समाजवाद वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत था। जिसमें ईश्वर में आस्था, शांति, सत्य, धर्म निरपेक्षता और सरलता का रसामृत भरा हुआ था। उनके द्वारा बताये गये कुछ आदर्श आज भारत में ही नहीं अपितु विश्व में भी अपनाये जा रहे हैं। कबीर साहब ने व्यावहारिक योग साधना पर बल दिया। आज योगा विश्व प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार संत कबीर दास के द्वारा स्थापित किये गये एकता, समता धर्म निरपेक्षता के आधार पर देश के भव्य भवन का निर्माण कार्य अब होने लगा है। डॉक्टर अम्बेडकर ने छूत-अछूत के भेद-भाव को मिटाकर सबको समान स्थान दिलाने का प्रयत्न किया था। हम देखते हैं कि देश में छूत-अछूत की भावना का ह्रास हुआ है। समाज में अब

स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना उतनी नहीं रहीं। संत विनोवा भावे ने भूमिहीन कृषकों को भू-वितरण कराने के लिए भू-दान यज्ञ चलाया था। उनका यह मिशन

अधूरा ही रहा। महात्मा गाँधी ने धर्म निरपेक्षता और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया। लेकिन यह एकता कायम न हो सकी। बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि यह फूट देश को बर्बाद कर रही है। बुद्धिजीवियों का परम कर्तव्य है कि एकता, समानता, धर्म निरपेक्षता और भातृत्व भावना का समाज में अधिकाधिक प्रचार-प्रसार करें।

आज मानवीय मूल्य एवं विश्व मान्यताएँ परवर्तित हो रही हैं। देश से देश की दूरियाँ कम होती जा रही हैं और विश्व के सभी मानव एक दूसरे के अति समीप आते जा रहे हैं। आज दिल से दिल की दूरियाँ समाप्त कर मानव-धर्म अपनाने और समस्त विश्व को एक परिवार के रूप में लाने की आवश्यकता है।

कबीर साहब महान हैं। उनकी विचारधारा महान हैं। महानता से सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर कबीर साहब ईर्ष्या, द्वेष, निजत्व, परत्व, छूत-अछूत, ऊँच-नीच की संकीर्ण भावनाओं से दूर होकर भारतीय धर्म निरपेक्षता के प्रतीक बनकर उच्चादर्श तक पहुँच जाते हैं। साम्प्रदायिक सद्भाव के स्वरूप बन जाते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्।।¹⁰

इसलिए वे शांत भाव से कहते हैं—

कबिरा खड़ा बाजार में, सबकी माँगे खैर।

ना काहू सों दोसती, ना काहू से बैर।।¹¹

सन्दर्भ :

1. बीजक पृष्ठ 388
2. माता प्रसाद, कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ 90
3. श्याय सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ 110
4. जयदेव सिंह, कबीर वाणी, पीयूष पृष्ठ 133
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर पृष्ठ 77-78
6. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ 125
7. हिंदी के प्राचीन कवि-द्वारिका प्रसाद सक्सेना, पृष्ठ-85
8. कबीर बीजक पृष्ठ-353
9. डॉ पारसनाथ तिवारी, कबीर वाणी संग्रह पृष्ठ 55
10. वृहदारण्यक उपनिषद्
11. माता प्रसाद, कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ 65

INDIA'S FOREIGN TRADE DURING PRE-REFORM PERIOD

ARVIND KUMAR

C/O-Raghunath Prasad Yadav, Vill-Hirapur, Post-Hardi, Dist-Muzaffarpur,
Pincode-843122, State-Bihar

In order to analyse the regional direction of India foreign trade, it would be appropriate to classify the world into four broad groups viz., Organisation of Economic Cooperation and Development (OECD), OPEC, East Europe and Other LDCs. OECD countries consisting of European Union, North America comprising of Canada and USA, and Australia, Japan and some other countries. Further, the whole period is classified into 1960-61 to 1970-71; 1970-71 to 1980-81, 1980-81 to 1985-86, and 1985-86 to 1990-91.

“In the context of modern world, no country can be politically and economically independent, even within the framework of international interdependence, unless it is highly industrialized and has developed its power resources to the almost. Nor can it achieve as maintain high standards of living and liquidate poverty without the aid of modern technology in almost every sphere of life. An industrially backward country will continually upset the world equilibrium and encourage the aggressive tendencies of more developed countries. to others.”

“This objective for the country as a whole was the attainment as far as possible, of national self sufficiency international trade was certainly not excluded, but we were anxious to avoid being drawn with the whirlpool of economic imperialism.”

Later the First five-year plan went further: “Control and regulation of exports and imports, and in the case of certain selected commodities state trading, are necessary not only from the point of view of utilizing to the best advantage the limited foreign exchange resources available but also for securing an allocation of the productive resource of the country in line with the targets defined in the plan.”

It is this kind of thought which guided the economic policies of the country for about four decade. The predominantly inward-oriented and protectionist policies pursued since independence have limited strongly the role of international trade in the Indian

economy. As a result the export orientation of the industrial sector tended to decline in the course of time. This development is contrary to the worldwide trend in the period following the second world war of increasing internationalisation of industrial production and a further integration of national economies into the world markets.

Many of the developing countries have made numerous attempts to liberalize the trade regime and stimulate non-traditional exports, but many such attempts failed or enjoyed only short-lived successes. Trade policy is part of a much wider range of instruments that governments use to intervene in markets and to redirect the allocation of resources, and consequently, the export performance of countries depends upon the combined effect of the government policies as well as on the effect of all types of market distortions and the long term investment strategies of companies. Moreover, a reorientation of production does not simply occur in response to a change in price signals but require additional and long-term measures to strengthen the competitiveness of industry in the international market. Only a few developing countries have managed to penetrate world market with a range of industrial products that have been either produced or assembled by domestic companies. In the course of time the Indian government has applied a wide arsenal of incentives and regulations to stimulate domestic companies to export and to attract foreign companies to export processing zones (EPZs). Nevertheless, the country had failed to exploit fully the growth opportunities in the international market.

Before analysing the main characteristics of India's trade regime, the role of trade in India's economy and India's role in world trade may be discussed briefly. It is found that the export orientation of India and particularly of manufacturing sector (non-traditional sector) is still very limited notwithstanding many attempts that have been made to stimulate exports of manufactures. Also, it is found that India's competitiveness in world markets of manufactures is constantly declining and that the countries export industries are not able to compete successfully with other developing countries.

DIRECTION OF EXPORTS

Destination of Exports during 1960-70

During this period, the share of OECD in India's total exports declined from 66.2 percent to 50.07 percent. Among OECD countries, the European Union (EU)

experienced major decline in their share in India exports. The share of EU in India's total exports declined from 36.14 percent in 1960-61 to 18.96 percent in 1970-71. Most of the countries in EU more or less maintained their share but United Kingdom (UK) suffered a major fall in her share from 26.95 percent to 11.07 percent in India's export during this period. Besides, the share of North American countries also declined from 18.69 percent in 1960-61 to 15.3 percent in 1970-71. In contrast to these countries, Japan experienced rise in her share in India's exports during the same period from 5.45 percent in 1961-61 to 13.28 percent in 1970-71.

This was the period, which experienced rapid change in environment in the world economy. There was also growing political interference in economic activities particularly in shaping international economic relations. For example, India engaged in bilateral trade relations with erstwhile USSR. This has caused a major spurt in India export to erstwhile USSR. The share of erstwhile USSR in India's total exports increased from 4.5 percent to 13.7 percent in 1970-71. This led to increase in share of East Europe in India's exports from 7.01 percent in 1960-61 to 21.3 percent in 1970-71.

Direction of Exports during 1970-71 to 1980-81

During this period, so far as direction of exports is concerned exports didn't experience any substantial change as compared to the decade of the 1960s. During this period the share of East Europe, OPEC and LDCs of Asia continued to increase whereas the share of India's exports to OECD countries dropped from 50.07 percent in 1970-71 to 46.58 percent in 1980-81, as is shown in table no.3.2. On account of changing economic environment and growing importance of political factors like trade relations with Russia, rising oil price and consequent economic boom in Middle East Countries and the growth of Newly Industrialized Economics in Asia the direction of India's exports continued to follow the same trend as that followed in 1960s. Further, the uncompetitive nature of Indian products in comparison to products of other countries particularly that NIEs, has also caused changes in composition of India's exports.

Since 1970-71, though the share of OECD declined from 50.07 percent to 46.58 percent 1980-81, there was change in pattern of share of different country groups within the OECD during this period. For example, this share of EU increased from 18.36 percent to 21.56 percent during this period as against the decline in their share in 1960s. Further within the EU countries UK suffered decline in her share in India's exports from 11.07

percent in 1970-71 to 5.89 percent in 1980-81 whereas the share of most of the other member countries of EU experienced slight increase in their share during the same period as is shown in the table. The decline in share of OECD in India's exports attributed to the decline in the share of North America, particularly of Canada and USA, from 15.3 percent to 12.01 percent and the decline in the share of other OECD like Australia and Japan from 15.23 percent to 10.55 percent. The decline in the share of individual countries in India's export was significant of Japan from 13.28 percent to 8.9 percent, of UK from 11.07 percent to 5.9 percent during this period.

Due to rise in oil price and the consequent economic boom in oil exporting countries, there was substantial rise in demand in these countries from India's exportable. As a result the share of OPEC in India's exports increased by more than 4 percent point from 6.45 percent to 11.1 percent.

The agreement of trade relation between India and erstwhile Soviet Union led to substantial rise in latter's share in India's exports by about 5 percent point from 13.67 percent in 1970-71 to 18.27 percent in 1980-81. Despite this the share of East Europe could increase only marginally due to decline in the share of other East European countries during the period.

Except some of LDCs of Asia whose share in India's exports increased during the period under consideration, the share of other LDCs of Africa and Latin America and others declined during this period. As a result the share of other LDCs declined marginally from 19.86 percent in 1970-71 to 19.16 percent in 1980-81.

Direction of Exports during 1980-81 to 1990-91

The direction of India's exports during the 1980s took a complete U-turn. The share of OECD, which had been continuously declining since 1960-61, rose during the period under consideration. Their share increased from 46.6 percent in 1980-81 to 50.8 percent in 1985-86 and further to 53.54 percent in 1990-91.

Since the 1980s, the strained relation between India and USA of Post Bangladesh War seemed to have been melting gradually in expectation of good economic opportunities for both the markets in the form of big Indian market for USA and import of technology from USA. Such opportunity improved the trade relation between the two countries as is reflected in from of growing share of USA in India's export increased from 11.07percent in 1980-81 to 18.12percent in 1985-86.

Another country, which experienced rises in her share in India's export was Japan. The share of Japan increased from 8.91percent to 10.7percent during the same period. The increase in share of these countries led to increase the share of OECD countries in total exports from India despite the decline in the share of EU countries in first half of the 1980s. The share of OECD, which was continuously declining since 1960-61, rose from 46.6percent in 1980-81 to 50.8percent in 1985-86. The share of EU declined from 21.6percent to 17.7percent during the same period. Moreover, among EU countries, the share of almost every country declined.

With the decline in oil prices in early 1980s and the consequent slowdown in economic activities in Middle East and increasing supply of cheap products from NIE to the region led to the decline in the share of these countries in India's export. The share of these countries in total exports of India declined from 11.1percent in 1980-81 to 7.66percent in 1985-86.

The share of East Europe in India's exports remained almost constant at around 21percent during the period, of which share of German Democratic Republic (GDR), Romania, Russia increased only marginally. The share of GDR increased from 0.73percent to 0.87percent share of Romania increased from 0.86percent to 0.9percent and share of Russia increased from 18.27percent to 18.41percent.

The share of LDCs in India's total exports continued to decline in first half the 1980s from 19.2percent to 13.4percent during the period. Among these countries the share of Asian LDCs declined from 13.4percent to 10.6percent, the share of African LDCs decline from 5.2percent to 2.65percent and the share of North America and Caribbean LDCs declined from 0.54percent to 0.17percent during the period. However the other countries recorded a substantial increase in their share in Indian total exports from 1.01percent in 1980-81 to 7.08percent in 1985-86.

During 1985-86 to 1990-91 again there was change in the direction of exports from India. The share of OECD and the other LDCs increased while that of OPEC and East Europe declined. A further analysis of data shows that there was significant increase in the share of EU in India's total exports. The share of EU in India's exports increased by about 10 percent point from 17.7 percent in 1985-86 to 27.5 percent in 1990-91. This was only because there are in the other of EU by such significant proportion the share of OECD increased from 50.8 percent to 53.5 percent during this period.

Table- 1.1:Direction of Exports(Rs. Crore)
(Percentage Share in Parentheses)

Countries/ Region	1960-61	1970-71	1980-81	1985-86	1990-91
I. OECD of which	425 (66.1)	769 (50.1)	3126 (46.6)	5532 (50.8)	17428 (53.5)
a) EU of which	232 (36.2)	282 (18.4)	1447 (21.6)	1929 (17.7)	8951 (27.5)
i) Belgium	5 (0.8)	20 (1.3)	145 (2.2)	225 (2.1)	1259 (3.9)
ii) France	9 (1.4)	18 (1.2)	147 (2.2)	203 (1.9)	766 (2.4)
iii) Germany	20 (3.1)	32 (2.1)	385 (5.7)	513 (4.7)	2549 ^a (7.8) ^a
iv) Netherland	9 (1.3)	14 (0.9)	152 (2.3)	158 (1.5)	644 (2.0)
v) U.K.	173 (26.9)	170 (11.1)	395 (5.9)	524 (4.8)	2128 (6.5)
b) North America	120 (18.7)	235 (15.3)	806 (12.0)	2106 (19.3)	5077 (15.6)
i) Canada	18 (2.7)	28 (1.8)	62 (0.9)	132 (1.2)	281 (0.9)
ii) U.S.A.	103 (16.0)	207 (13.3)	743 (11.1)	1974 (18.1)	4797 (14.7)
c) Other OECD	65 (10)	234 (15.2)	708 (10.6)	1304 (12.0)	3401 (10.4)
i) Australia	22 (3.5)	25 (1.6)	92 (1.4)	123 (1.1)	321 (1.0)

ii) Japan	35 (5.5)	204 (13.3)	598 (8.9)	1164 (10.7)	3039 (9.3)
II OPEC of which	26 (4.1)	99 (6.4)	745 (11.1)	835 (7.7)	1831 (5.6)
i) Iran	5 (0.8)	27 (1.7)	123 (1.8)	95 (0.9)	141 (0.4)
ii) Iraq	3 (0.5)	10 (0.6)	52 (0.8)	34 (0.3)	44 (0.1)
iii) Kuwait	3 (0.5)	16 (1.0)	97 (1.4)	121 (1.1)	74 (0.2)
iv) Saudi Arabia	3 (0.5)	15 (0.9)	165 (2.5)	221 (2.0)	419 (1.3)
III Eastern Europe of which	45 (7.0)	323 (21.0)	1486 (22.1)	2294 (21.1)	5819 (17.9)
i) G.D.R.*	3 (0.5)	25 (1.6)	49 (0.7)	95 (0.9)	- (-)
ii) Romania	1 (0.2)	14 (0.9)	58 (0.9)	98 (0.9)	96 (0.3)
iii) Russia**	29 (4.5)	210 (13.7)	1226 (18.3)	2006 (18.4)	5255 (16.1)
IV Other LDCs	95 (14.8)	305 (19.8)	1286 (19.2)	1463 (13.4)	5465 (16.8)
i) Africa	40 (6.31)	129 (8.4)	350 (5.2)	289 (2.7)	668 (2.1)
ii) Asia	45 (6.9)	166 (10.8)	900 (13.4)	1156 (10.6)	4665 (14.3)
iii) Latin America and Caribbean	10 (1.6)	10 (0.7)	36 (0.5)	18 (0.2)	132 (0.4)

V Others	51 (8.0)	40 (2.6)	68 (1.0)	771 (7.1)	2010 (6.2)
Total	642 (100)	1535 (100)	6711 (100)	10895 (100)	32553 (100)

a Figure for unified Germany* Included under F.R.G. with reunification of Germany**
Refers to former USSR

Source: Economic Survey, 1995-96

Among the EU countries, most significant rise in the share of India's exports was that Germany and of U.K. The share of U.K. in India's total exports rises from 4.7 percent to 7.8 percent and that of UK increased from 4.8 percent to 6.54 percent during 1985-86 to 1990-91. The share of other member countries like Belgium increased from 2.07 percent to 3.87 percent, and the share of France increased from 1.86 percent to 2.35 percent during the period under consideration.

However the share of North American countries which rise in the first half of the 1980s, declined in the second half of the 1980s. The major fall in the share of India's exports was that USA. The share of USA declined from 18.12 percent in 1985-86 to 14.74 percent in 1990-91. This decline in the share of USA led to drop in the share of North America from 19.33 percent in 1985-86 to 15.6 percent in 1990-91. The share of Canada declined from 1.2 percent to 0.86 percent during the same period. There was also decline in the share of Japan in India's total exports from 10.68 percent to 9.34 percent during. The decline in the share of OPEC continued in the second half of 1980s. The share of OPEC declined from 7.66 percent to 5.6 percent during the period.

The share of East Europe countries declined from 21.06 percent to 17.9 percent during the period. The share GDR that was around 1% in the 1985-86 becomes Zero in 1990-91. The country which experienced decline in her share in India's exports for the first time since 1960-61 was Russia whose share declined from 18.4% in 1985-86 to 16.1% in 1990-91 with the disintegration of Soviet Union into the Common Wealth of Independent States (CIS), trade relations with these countries are undergoing change towards continuous decline in the subsequent period.

Summary

- To sum up the performance of India's foreign trade for the entire period spanning over forty years i.e. from 1950-51 to 1990-91, we find that, The export growth then picked up once again. The steps taken in 1985 to liberalise and unshackle the economy by delicensing a few industries led to rapid growth in India's exports during 1986-87 to 1990-91. During this period export grew at the rate of 27.6 percent in rupee terms and 14.5 percent in dollar terms and 12.5 percent in volume terms.
- India's exports performance since 1970 has been distinctly better than it was in the preceding decades at the same time, it is clear that this performance is simply not enough when considered in relation to needs of the economy and indeed poor when placed in the international context. The countries lagging far behind India in 1950 had overtaken it by 1990. The relative share of India in world exports which was as high as four per cent in 1950 had gone down to around 0.5 per cent in 1990. It is a matter of some debate between economists as to whether it is domestic economic policies in general and trade policies in particular that exercise the main influence on export performance or the foreign constraints, i.e. external factors that play a prime role.
- Among the domestic factors that have created and accentuated sluggishness and very slow growth of exports, mention may be made of relatively high level of prices in comparison to world price, appreciation of REER, low rate of growth in real sector inadequate infrastructure facilities, delay in delivery of consignments, etc.
- Growth of world trade, change in commodity prices in international market, and level of economic activity in the trading partner's countries are some of external factors that affected India's exports.
- The pattern of our imports over the years reflects the kind of economic growth that has taken place over the period in the country. It shows that,
 - There is rapid growth of capital goods and raw materials necessitated by the rapid growth of industrialization. This led to increase in its share from 20 percent in 1950-51 to 24 percent in 1990-91.
 - Measures to stimulate export and the consequent liberalization of imports led the rise in imports of raw materials from 35 percent in 1950-51 to above seventy percent in 1990-91.

- Increase in production of food grains and other consumer goods and protectionist policy adopted to protect domestic industry cause decline in imports of food grains and other consumer goods in the country. As a result the share of food and live animal declined from 19 percent in 1960-61 to below 1 percent in 1990-91.

Since 1950-51, there has been continuous change in the pattern of exports of India.

- The relative importance of agriculture and allied products in India's total exports kept on declining and that of manufacturing sectors has continuously risen. The share of ore and minerals initially rose and then declined.

- For example, the share of agricultural and allied product declined from 37 percent in 1950-51 to 31.7 percent in 1970-71 then to 30.65 percent in 1980-81. In the 1980s, the relative importance declined even more rapidly and reached 27.7 percent in 1985-86 and further down to 19.4 percent in 1990-91.

- On the other hand, manufacturing sector, after decreasing the share in early 1950s, had continuously increased its share in India's total exports. The rise in its share was more pronounced in the 1980s, with the implementation of trade liberalization and export promotion measures. The share of manufacturing sector increased from 45.3 percent in 1960-61 to 50.3 percent in 1970-71 and further to 55.8 percent in 1980-81. In 1985-86 the manufacturing sector contributed to 58.5 percent and then jumped to about 73 percent in 1990-91.

- The share of ores and minerals though rose in the 1970s and reached about 14 percent in 1980-81 from 9.4 percent in 1970-71, but after that went on declining and reached to 7.2 percent in 1985-86 and further down to 4.6 percent in 1990-91.

- The share of mineral fuels and lubricants including coal initially was very low at 1.1 in 1960-61. Its share decreased to 0.8 percent in 1970-71 and further to 0.4 percent in 1980-81. However, since then, the share of mineral fuel and lubricants rise to 6.8 percent in 1985-86 and though declined but as compared to 1960s and 1970s, was still high at a level of 2.9 percent in 1990-91.

Direction

Taking an overall view, it can be stated that, by eighties, India developed more spatially dispersed Pattern of foreign trade.

- Its excessive dependence on Western Europe and American countries witnessed a gradual decline in the 1960s and the 1970s and there was shift in favour of East

European Socialist countries particularly erstwhile Soviet Union and towards OPEC. For example, the share of Western Europe and North America together constituted about 54 percent of India's exports in 1960-61, which declined to 33.6 percent in 1970-71 and further down to 33.6 percent in 1980-81. While the share of East Europe increased from 7.01 percent respectively in 1960-61 to 21.03 percent in 1970-71. However in 1980-81, the share of exports continued to rise even in the 1980s and reached 22.14 percent in 1980-81.

- Another significant development that had taken place in the direction of India's foreign trade had been growing importance of LDCs of Asia like Korea, China, Indonesia, Malaysia, Thailand, Hong Kong etc. Their share in India's exports accounted for 7.01 percent in 1960-61 that increased to 13.4 percent in 1980-81.

In the 1980s, once again the situation started changing and started going towards the earlier condition. The Share of Western European and the North American countries in India's exports started rising and reached to 43 percent in 1990-91, while

NOTES AND REFERENCES

¹ Nehru, Jawaharlal, "The Discovery of India", New York: John Day, 1946, p.413.

² Ibid. p.403.

³ Planning Commission, 1950, p.42.

a Figure for unified Germany* Included under F.R.G. with reunification of Germany**
Refers to former USSR

Source: Economic Survey, 1995-96

समकालीन हिन्दी कविता और स्त्री जीवन

चन्द्र भूषण रजक

J.R.F./Net, हिन्दी विभाग, पटना वि.वि., पटना

स्त्री अस्मिता और मानवीय गरिमा को स्थापित करने में समकालीनता का विशेष योगदान है, जिसके प्रयोगों, अनुसंधानों एवं नवीन वैचारिक दृष्टिकोणों के फलस्वरूप सर्वप्रथम स्त्री ने सदियों से चली आ रही असूर्यम्पश्या की छवि से मुक्ति पाई है। समकालीनता अर्थात् वह वैचारिक चेतना है जो समय की गति को प्रभावित करती है बाहर के क्षेत्र में एक समान विचारधाराएँ, परिवर्तन एवं परिवेश का निर्माण करती हैं इन प्रक्रियाओं ने स्त्री के पारंपरिक जीवन और दर्शन का पुनर्निर्माण किया जो स्वागतयोग्य है किंतु सूक्ष्मता से निरीक्षण और स्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो जो परिवर्तन अन्य वादों की ही भांति स्वीकार, गुरुतर संघर्षों एवं वैचारिक क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त हुए वे समाज परिवर्तन और मुक्ति के रूप में आज की स्त्री में प्रायः अनेकों दबाव भी स्थापित करते हैं स्त्री के जीवन में अपना दबाव बनाने वाले “पुरुषों के बनाए नियम खत्म नहीं हुए इतना अवश्य हुआ है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने समय की माँग के अनुसार पुराने मिथकों की जगह नए मिथक गढ़े हैं”¹

भारतीय स्त्री की पारंपरिक छवि में परिवर्तन और सुधार का श्रेय अधिकांशतः पाश्चात्य स्त्रीवादी आंदोलन मीडिया व प्रेस विज्ञप्तियों को जाता है। उसी प्रकार आज उसके जीवन की जटिलता और कदम पर तनाव एवं दबावों को झलने की प्रतिक्रिया भी उसी का परिणाम है। स्त्री और दुनिया के विस्तार योग्यता एवं कार्यक्षमता के साथ उनसे संबंधित अपराध और हिंसा, बलात्कार, अपहरण की घटनाएँ भी बढ़ी हैं दूसरी ओर विज्ञापनों एवं फिल्मों में बढ़ती अश्लीलता, हर वाद के साथ स्त्री छवि एवं सेक्सुअलिटी का प्रयोग उसकी अस्मिता के साथ खिलवाड़ भी उसी प्रकार बढ़े हैं। उपभोक्तावादी एवं बाजारवादी संस्कृति ने स्त्री को बाजार की एक वस्तु बना दिया है राजनीतिक विश्लेषण माइकल वासुदोवस्की के अनुसार “विज्ञान की सोच के मुताबिक लिंग समता केवल आधुनिकता और बाजारीकरण प्रक्रिया के माध्यम से स्त्रियों को समर्थ बनाकर ही पाई जा सकती है।”²

आधुनिक बाजारवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति, मीडिया एवं आधुनिक जीवन शैली ने स्त्री एवं उसके आसपास के वातावरण को दबाव एवं कार्य मुक्त बनाया है। दैहिकता से संदर्भित यौनिकता जो स्त्री को शोषित करने एवं उस पर अधिकार जमाने का सबसे बड़ा पितृसत्ता का अस्त्र था जो उसे हर कदम पर निर्बल बनाता है। आज नए रूपों में उसके वजूद के आसपास छाया हुआ है। आज की संस्कृति भी स्त्री को मात्र एक देह के रूप में मानती एवं उसका आंकलन भी करती है। अंतर सिर्फ इतना है कि आज समर्थ और शक्ति सम्पन्न स्त्री भी जान बूझकर इन दैहिक उपयोग का शिकार है।

रीतिकालीन कवियों की भांति ही आज की “उपभोक्तावादी स्थिति मात्र उसे एक वस्तु मानती है। अतः वह खुद भी अपनी देह को वस्तु से ही आंकती है उसे सजाती संवारती है यहाँ

तक कि बचपन से वृद्धावस्था तक वह दूसरों की नजर में ही स्वयं को तौलने की इतनी आदी हो जाती है कि देह ही उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाता है।³ जैसा कि आज के परिदृश्य में दृष्टव्य है आज की समकालीनी स्त्री देह के उपयोग का भौतिक बाजारवादी विकृत सिद्धांतों के रास्ते पर चलकर ही यश और पैसा कमा रही है।

स्त्री के लिए शिक्षा के नए द्वार खोलकर समकालीन समय में उसके ज्ञानविस्तार एवं अस्मिता को कायम किया। वह आत्मनिर्भरता प्राप्त कर आत्मसम्मान का भी भागीदार हुई। तत्पश्चात् उसने अपनी अस्मिता की जड़ को भी टटोला। समकालीन शिक्षित स्त्री अपनी जैविक एवं ऐतिहासिक यथार्थ से अनजान नहीं है। वह सभी यथार्थों से परिचित है वह जानती है कि सामंती विचारों के बोझ तले दबा पुरुष उसका मित्र व सहयोगी नहीं हो सकता। क्योंकि उसे मात्र परंपराओं ने एक शासक बनना ही सिखाया है वह कहती है—

“आई हूँ जड़ों से एक मांसभक्षी पौधे की

दोस्ती प्रेम वगैरह थी वहां

बाँझ अनभूतियाँ”⁴

आज की स्त्री दो विपरीत धाराओं में चल रही है एक ओर वह पुरुषप्रधान सामाजिक सोच अपनी जगह बनाने के लिए शिक्षा और रोजगार प्राप्त करने के लक्ष्य की ओर अग्रसर है। वह घर नौकरी और बच्चों की तिहरी जिम्मेदारी भी उठा रही है। इस प्रयास में उसे हरकदम पर घर के भीतर और बाहर समझौते करने पड़ते हैं। घर के भीतर परिवार को बचाए रखने के लिए अपने आस्तित्व एवं आत्मसम्मान को झुठलाना पड़ता है। आज स्त्री घर से बाहर निकली ही है कि पितृसत्ता के पालक संयुक्त परिवार बचाओं! का नारा लगाने लगे जिस संयुक्त परिवार का अस्तित्व ही स्त्री के व्यक्तित्व की शर्त पर स्थापित था। वह सच है कि संयुक्त परिवारों के विघटन ने ही स्त्री के व्यक्तित्व विकास का मौका दिया और उन्हें आत्मनिर्भरता प्रदान की इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप “आज जब वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हुईं, घर की आर्थिक नैया की खेवनहार हुईं तो टकराव की स्थिति निर्मित हुई।”⁵ आज की शिक्षित स्त्री के लिए अपने सम्मान एवं अस्मिता को झुठलाना अत्यंत हानि और दुष्कर है।

समकालीन दौर में स्त्री का पुरुष से समानता एवं सहयोग की अपेक्षा करना कोई अतिशयोक्ति या समय प्रतिकूल नहीं बल्कि स्वाभाविक है एवं सयम की उपज है। क्योंकि नौकरी की जिम्मेदारियों से त्रस्त बाहर अनेक प्रकार के शोषणों से घिरी स्त्री को घर आकर पति के रूप में एक मित्र सहयोगी की जरूरत महसूस होती है किंतु आज भी उपभोक्तावादी दबावों से त्रस्त पति ने उसे नौकरी करने की इजाजत तो दी, किंतु सहयोग एवं मित्रता के संदर्भ में वह आज भी सामंती विचारों का परिचायक है। दूसरी ओर घर के बाहर आधुनिक सक्षम एवं शिक्षित स्त्री जिस किसी दफ्तर में काम करती है उसे वहां आज भी दो प्रकार की परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है पहली कार्य से उत्पन्न जिम्मेदारियां और दूसरी स्त्री होने के कारण जैविकीय स्थिति से उत्पन्न परेशानियां। उसकी योग्यता एवं सक्षमता को शारीरिक दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति में समकालीन संस्कृति बढ़ोत्तरी ही कर रही है। अधिकारी वर्ग द्वारा अधीनस्थ महिला कर्मचारी के यौन एवं मानसिक उत्पीड़न के मामले अधिकांश प्रकाश में आते रहते हैं “जिसका अंतर्भूत कारण समाज या पारंपरिक मनोविज्ञान है जो सशक्त औरत को रूतबा तो, दे सकता है पर सम्मान समानता या न्याय नहीं, उसे देवी मान सकता है पर साथी व मित्र नहीं”⁶ समय के साथ स्त्री के

जीवन में नई जिम्मेदारियां आईं किंतु पारंपरिक कर्तव्यों में कोई कमी नहीं रही आज भी जिस घर में स्त्री व पुरुष दोनों ही समान रूप से समान पद पर या स्त्री किसी बड़े पद पर कार्यरत है, वहां भी घर व मातृत्व की जिम्मेदारियां स्त्री की हैं। पुरुष उनसे दूर व अनजान है। आवश्यक घरेलू कार्यों, बच्चों की बीमारी, पढ़ाई या अन्य स्थितियों पर स्त्री अवकाश लेती है, नौकरी या पदोन्नति भी छोड़ती है, जो उसके विकास को प्रभावित करते हैं। जो एक शिक्षित आत्मसम्मान की आदी स्त्री को तनावग्रस्त करते हैं, जो कि समकालीन परिस्थितियों की उपज है।

“किसी ने नहीं देखी रेखाएँ
आज भी नहीं देखता कोई
उस खरोचों को जो रोज व रोज डाली जा रही है
तन मन पर”⁷

आज स्त्री के जीवन पर आए आधुनिक दबावों के पीछे सभ्यता के विकास औद्योगिक एवं तकनीकी क्रांति का हाथ है। जिसने सभ्यता के विकास को जटिल भी बनाया है। इस मशीनीयुग में विचारों और भावनाओं को कहीं अवकाश ही नहीं है। मशीनीकरण ने इंसान को रिश्तों से परे नितांत अकेला कर दिया है कविता सिंह उपभोक्तावादी संस्कृति की ओर इशारा करती कहती है—

“हम रिश्तों की जगह चीजों को रखते हैं
चीजें पहले तो घर लेती हैं
फिर मौका पाकर अकेला कर देती हैं”⁸

इसी मशीनी, तकनीकी विकास ने ही कन्या भ्रूण हत्या दहेज हत्याएं, इलेक्ट्रॉनिक मिडिया के माध्यम से स्त्री देह का प्रदर्शन एवं व्यापार, आदि को बढ़ावा दिया है। विकास के आयामों को आज के समकालीन दौर ने विनाश का हथियार बनाया है। जिसका सर्वाधिक प्रयोग स्त्री जीवन और विकास को प्रभावि करता है। एमनोसेन्टेसिस जो भ्रूण की विकास की जांच के लिए अविश्रुत हुआ था आज उनका प्रयोग स्त्री जाति के विनाश के लिए किया जाता है” गर्भ में कन्या है यह जानकर गर्भपात कराने की प्रवृत्ति, इसी सोच से पैदा हुई। इस दृष्टि से वैज्ञानिक उन्नति नारी जाति के लिए अभिशाप बनने लगी है”⁹ किंतु इस संदर्भ में उन शिक्षित स्त्रियों का नजरिया भी स्पष्ट है जो प्रतिरोध भी कर सकती है किंतु भ्रूण हत्याएं करवाती वह अत्यंत आश्चर्यजनक एवं निदानीय है।

इसके साथ ही दहेज हत्याएं जिसकी मूल में पुरुषप्रधान समाज की नारी के प्रति तुच्छ एवं उसको हीन समझने की सोच ही प्रमुख है, जिनके कारण उनकी संख्याओं में निरंतर वृद्धि हो रही है। दहेज की बढ़ती मांगों को मशीनी विकास ने और बढ़ाया है दहेज के कारण ही प्रमुखतः दंपति कन्या शिशु को जन्म ही नहीं देना चाहते न ही परिवार में उसके जन्म का स्वागत होता। एक उत्तरांचल की लोकगीत के अनुसार—स्त्री कन्या शिशु को जन्म देने के पीछे अपने दर्द व्यक्त करती है—

बेटी तुम्हारे जनम भइल अंधेरी रात
सास ननद घर दियना बुझावै
प्रभु जी चले रिसियाय।
जेहि दिन बेटी तुम्हार व्याह भए
भइली धरम केरि रात

सास ननद मिलि आरती उतारें
प्रभु देवे कन्यादान'¹⁰

बेटी के जनम को बुरा और अशुभ मानने वाली परंपरा आज के युग में भी कन्यादान करके पुण्य लूटना चाहती है। विवाह के लिए पूर्व की अपेक्षा स्त्री की योग्यताओं में समकालीन दबाव बढ़े हैं। आज वैवाहित विज्ञापनों में लड़की के लिए सुंदर, स्मार्ट, शिक्षित, सुसंस्कृत, कामकाजी और साथ ही घरेलू सुशील जैसे विशेषणों का प्रयोग कर उससे इस सभी योग्यताओं को पूरा करने की अपेक्षा की जाती है जिनके पूरा न होने पर ही वधू हत्या जैसे मामले प्रकाश में आते हैं इनके पीछे समकालीन एक और कारण है वह है स्त्री की चेतना अर्थात् उसके भीतर मानवीय गरिमा का बोध। यह गरिमा ही उसे आज समाज के सामने हर स्थिति में स्वयं को हीन मानने की परंपरा को बाधित करती है वह अपने अलग वजूद बनाने के लिए वह जो प्रयास करती है वह पुरुष व्यवस्था की आंखों में खटकता है जो उसके अंत का प्रमुख कारण भी है।

स्त्री जन्म से लेकर मृत्यु तक, परंपरा से लेकर आधुनिकता तक में सुंदरता की शिकार है। सुंदरता वह मनोग्रथि है जो अधिकतर उसकी अन्य योग्यताओं को पीछे करती है। यह बात विवाह के लिए उसकी अनिवार्य योग्यता के रूप में अनिवार्य है। आज कैरियर के क्षेत्र में भी योग्यता के साथ सुंदरता का पैमाना भी उतना ही मजबूत है। आज वर्तमान कई कैरियर जैसे एअर होस्टेज, कला के क्षेत्र में, विज्ञापन एवं पर्सनल सेक्रेटरी जैसे पदों में अप्रत्यक्ष रूप सुंदर स्त्री की सुंदरता का प्रयोग ही करते हैं।

ऐसी स्थितियों में जो स्त्री सुंदर नहीं है उसके मन में यह चाह जन्म लेती है जिसे आज भी अनेकों सौन्दर्य प्रसाधन बनाने वाली कंपनियों एवं कॉस्मेटिक सर्जरी के ब्यूटी क्लीनिक आदि बढ़ावा दे रहे हैं। सर्जरी द्वारा स्त्री शरीर का कायाकल्प हो रहा है "चेहरे और त्वचा के सौंदर्यीकरण की इस मुहिम की सबसे ज्यादा शिकार स्त्री है। उसे मानवीय अधिकार और सम्मान देने की जगह एक आकर्षक वस्तु में बदल दिया गया है"¹¹

समकालीन कॉस्मेटिक व्यापार करीब 13 करोड़ रुपये का मुनाफा कमा रहा है। पिछले कुछ वर्षों का अंतर महसूस किया जाय तो हमारे देश में ब्रह्मांड सुंदरी, विश्व सुंदरियों का अभ्युदय एक के बाद एक लगातार हुआ। सवाल यह उठता है कि गोरी चमड़ी वालों ने काले भारतीयों को सुंदर कब से मान लिया? विश्व सुंदरी प्रतियोगिता में जड़ बने बैठे पुरुषों में सभी गोरी चमड़ी वाले ही हैं। उन्हें भारतीय सुंदरियां कैसे आकर्षित कर सकी? किंतु असलियत यह है कि "सौंदर्य प्रतियोगिताओं में खिताब भारतीय सुंदरियों के लिए नहीं बल्कि बाजार के लिए दिया जा रहा है, जिससे यहां की स्त्रियों में सुंदर बनने की इच्छा और तीव्र हो। वह उसके मकड़जाल में और तीव्र फंसती जाकर चेतना विकसित करने की जगह शरीर को सजाने का कार्य करें।"¹²

सौंदर्य प्रतियोगिताओं की बढ़ती संख्या और भारतीय सुंदरियों के आकर्षण ने आम भारतीय स्त्री के मन में भी सुंदर बनने की चाह को एक अनिवार्य योग्यता के रूप में जगाया है। जिसके परिणामस्वरूप महानगरों में पाए जाने वाले ब्यूटी पार्लर आज कस्बों और गांवों तक अच्छा खासा व्यापार जमा चुके हैं। ब्यूटी पार्लर जाना अपने शरीरिक रख रखाव के प्रति संवेदनशील होना आज की स्त्री के लिए अन्य कार्यों की भांति अनिवार्य हो चुका है। फिल्मों और विज्ञापनों में कामकाजी स्त्री के साथ ही घरेलू स्त्री को भी जो चमत्कारी आकर्षक छवि दिखाई देती वह उसे समय के अनुसार दबावों को अपनाने के लिए विवश करती है। मीडिया, फिल्म, विज्ञापन एवं आधुनिक परिवेशों ने जिस प्रकार मानवीय गरिमा के स्थान पर अश्लीलता को आरोपित किया है,

वह नितांत चिंता का विषय है, जो निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। यह समकालीन स्त्री के संघर्ष को भी प्रभावित करता है जिस देह के शोषण की खातिर वह पुरुषतंत्र से लोहा ले रही थी, आत्मनिर्भरता प्राप्त कर उसे समाप्त करने की मुहिम चला रही थी, वह प्रयास निष्फल जान पड़ता है। विज्ञापनों ने स्त्री के संघर्षपूर्ण छवि को वस्तु रूप दे दिया है “विज्ञापन में नारी आकर्षक रूप, शरीर और साज सिंगार से लैस होकर इस तरह उपस्थित होती है कि बेची जाने वाली चीज से वही ज्यादा लुभावनी जान पड़ती है। उसी स्त्री के चलते वह चीज लोकप्रिय होती है। इससे व्यावसायिक लाभ अवश्य होता है लेकिन स्त्री बिकाऊचीज के नाम पर इस्तेमाल हो रही है उसका क्या होता है? इस देश की हर बिकाऊ चीज में स्त्री भी एक तरह का बिकाऊ माल है।”¹³

किंतु अपने इस वस्तुकरण में वह प्रचार और पैसा पाती है पर्दे पर दिखने की ललक से ही वह अपनी अस्मिता से खिलवाड़ करती है। आज ही नहीं इसके पहले भी या यूँ कहें सदैव पुरुष स्त्री के रूप में ग्राहक रहे हैं उसे माल की संज्ञा देते आए। वही आज का उपभोक्तावादी समय भी पूर्व की अपेक्षा अधिक सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से कर रहा है। वह विज्ञापन कि एवं अन्य मीडिया के साधनों के माध्यम से ऐसा वातावरण बनाने में सफल हुआ जिसमें स्त्री अपनी अस्मिता एवं संघर्ष को भूलकर रूप और यौवन के गलियारों में भटकती रहे।

आधुनिक समकालीन पाश्चात्य जगत से प्रभावित सांस्कृतिकता ने स्त्री शोषण के नए नए तरीके अपनाए हैं। आज महानगरों से लेकर बड़े नगरों में भी स्थापित डांसिंग क्लब, बियर बार, नाइट क्लब, लेट नाईट पार्टियों जिनका प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है, उसी का प्रतीक है। आज की आधुनिक स्त्री घर से बाहर निकल कर कमाने के लिए यद्यपि मजबूर है, किंतु ये स्थल जिनकी कार्य शैली किसी से छिपी नहीं, ऐसी स्थिति में स्त्री यदि अपने-आपको केवल मनोरंजन का साधन मानती है तब तो उसका चित्र बने रहना अच्छा ही है, अन्यथा उन्हें अपने-आपको बाधाओं के अनुरूप वीर कर्मण्य प्रमाणित करना होगा।¹⁴

इन आधुनिक शारीरिक तरीकों ने स्त्री के ऊपर समझौते का दबाव आरोपित किया है। जिसका शिकार अधिकांशतः आर्थिक कारणों से ग्रस्त स्त्री है। जिसके सामने अन्य कोई उपाय नहीं। अन्य स्थिति में महात्वाकांक्षा की उत्कंठा रखने वाली लड़की अनजाने ही यौन शोषण का शिकार होती है। 1993 से 1998 तक प्राप्त आंकड़ों के अनुसार “पश्चिम बंगाल से ले जाने वाली 7000 से अधिक जवान लड़कियां देशभर के वेश्यालयों में बेची गई हैं। यह रहस्योद्घाटन एक गैर-सरकारी संगठन सेन्टर फॉर कम्यूनिकेशन एण्ड डवलपमेंट के पश्चिमी बंगाल के 17 जिलों में किए गए सर्वेक्षण से निष्कर्ष रूप में किया लड़कियां विवाह या कैरियर का झांसा देकर ले जायी जाती है। जिसका खुलासा कभी-कभी गैर-सरकारी और एजेंसियां भी करती हैं, सरकार इन्हें अपना मूक समर्थक या यूँ कहें जीने-कमाने का मौका दिए हुए हैं।

दक्षिण पूर्ण एशिया में फैली वेश्यावृत्ति में पहली बार विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, संयुक्त राष्ट्र संघ ने और स्थानीय सरकारों ने मिलकर इनके खिलाफ मुहिम छेड़ी है जो एक सार्थक रूप में किंतु अपर्याप्त है। भारत में भारतीय तंत्र की लचकता से पिछले कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में बालिकाओं की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है।

स्त्री का यौन शोषण आज वेश्यालयों में ही नहीं बल्कि सभ्रांत लोगों के बीच कार्यालयों, संगठनों और परिवारों में भी हो रहा है। आज की स्त्री एक साथ अनेक दबावों से ग्रस्त है जो आधुनिक समकालीनता की उपज है। स्त्री होने के नाते वह जन्म से लेकर जीवन प्राप्ति के

अथक संघर्ष से जूझती हैं पढ़ाई लिखई में प्रथम रहकर भी वह वांछित सम्मान नहीं पा सकती जो पुरुष को यथेष्ट है। जब वह कार्य क्षेत्र में प्रवेश करती है तो अधिक दबावों के साथ शारीरिक अनुभवों से उत्पन्न मानसिक दबाव भी उसे झेलने और एक हद तक स्वीकार करने पड़ते हैं आज की स्त्री का पूरा जीवन तनाव समझौतों और दबावों से ग्रस्त है। इसी बीच उसमें अस्मिता का प्रश्न अत्यंत जटिल और विचारणी है कि जिससे तत्कालीन दबावों के बीच वह अपनी मानवीय अस्मिता गरिमा को कायम रख पाये।

“उसने अपने का एक बड़ा हिस्सा
किराए घर उठा रखा है
दुनिया दफतर दवा पानी
उसी आसरे पर चलता है
बाकी के हिस्से में कोई नहीं आता
उस हिस्से इस हिस्से के बीच
लेकिन बचा हुआ है अब तक”¹⁵

इस प्रकार समस्त दबावों को झेलते हुए भी आम स्त्रियों का एक वर्ग अपनी चेतना, अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रति जागरूक है एवं पथ से भटकी स्त्रियों को आगे बढ़ाने विकास करने एवं शोषण से मुक्ति का संदेश एवं प्रेरणा का दम उनके भीतर भर रहा है।

संदर्भ—सूची

1. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य – राजेन्द्र यादव पृ. 216
2. दुर्ग द्वार पर दस्तक – कात्यायनी
3. उपनिवेश में स्त्री – प्रभा खेतान
4. कहती हैं औरतें – अनामिका पृ. 271
5. औरत की पीड़ा – डॉ. रेणुका नैयर पृ. 74
6. कलम व कुदाल के बहाने – रमणिका गुप्ता, पृ. 458
7. आंकठ बंदना – वंदना कमरानी
8. अपने जैसा जीवन—सविता सिंह पृ. 14
9. औरत की पीड़ा – डॉ. रेणुका, नैयर पृ. 23
10. स्वागत है बेटी— विभा देवसरे पृ. 26
11. स्त्री परंपरा और आधुनिकता पृ. 29
12. अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य पृ. 220
13. औरत के हम में तसलीमा नसरीन पृ. 95
14. श्रृंखला की कड़िया पृ. 127
15. कहती हैं औरतें – अनामिका

लोकसाहित्य की अवधारणा एवं महत्व

डॉ० रेखा कुमारी

पूर्व शोध-छात्रा, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

लोकसाहित्य के उदय की पृष्ठभूमि :

मानव सभ्यता का आरंभ काल उसके अस्तित्व के संघर्ष का काल था। आजीविका की तलाश, प्रखर जिजीविषा और प्रकृति के साथ भय एवं प्रीति से उत्पन्न रागाद्वेष की प्रवृत्ति ने आरंभिक मानव को सोचने-विचारने एवं समूह में विचरण करने को प्रेरित किया। इसी के दौरान उनकी प्रकृति के प्रति जिज्ञासावृत्ति एवं जीविकोपार्जन और आत्मरक्षा के निमित्त उन्होंने अनेक आविष्कार किए, जिसने उनकी चेतनाशक्ति एवं कल्पनाशक्ति का विकास किया, जिससे पहली बार लोकसाहित्य का जन्म हुआ। प्रकृति के प्रति जिज्ञासावृत्ति एवं अनन्त आकाश ने परीकथाओं (रागवृत्ति के कारण) एवं पशुकथाओं, भूत-प्रेत कथा (भयवृत्ति के कारण) को जन्म दिया, वहीं सामूहिक आवश्यकताओं एवं सामूहिक निवास और विचरण ने उन्हें लोकनाट्य, लोकनृत्य एवं लोकगीत के लिए प्रेरित किया। वर्तमान में मनाये जानेवाले पर्व नागपंचमी, छठपूजा (सूर्योपासना), कुलदेवता की पूजा आदि के मूल में भी प्रकृति के प्रति रागाद्वेष की प्रवृत्ति ही है, जो आज भी प्रचलित है। इस प्रकार आदिम जीवन ही लोकसाहित्य की मूल आधारभूमि है। लोकसाहित्य के बारे में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ठीक ही कहा है—“जैसे कोई नदी किसी घोर अंधकारमयी गुफा में से बहकर आती हो और किसी को उसके उद्गम का पता न हो, ठीक यही दशा लोकगीतों (लोकसाहित्य) के बारे में विद्वान मनीषियों ने स्वीकारी है।”

लोकसाहित्य का अर्थ एवं परिभाषा :

लोकसाहित्य दो शब्दों से मिलकर बना है—लोक और साहित्य। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार “आधुनिक सभ्यता से दूर, अपनी सहज तथा प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान, तथाकथित असभ्य एवं अशिक्षित जनता को ‘लोक’ कहते हैं, जिनका जीवन-दर्शन और रहन-सहन प्राचीन परम्पराओं, विश्वासों तथा आस्थाओं द्वारा परिचालित एवं नियंत्रित होता है।”¹

इस प्रकार ‘लोक’ लोगों का ऐसा समूह होता है, जो नागरीय जीवन की भौतिक एवं कृत्रिम अवस्था से दूर सरल एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति के होते हैं और प्रकृति से अत्यधिक जुड़ाव रखते हैं। ये लोग जब अपने जीवन-दर्शन, अपने सुख-दुखात्मक भाव, हर्षोल्लास एवं विषाद, विश्वास, परंपरा आदि की अभिव्यक्ति अपने भाव एवं कल्पना की शक्ति के द्वारा विभिन्न कलाओं, यथा—लोकनाट्य, लोककथा, लोकनृत्य, एवं लोकगीत आदि के माध्यम से करते हैं, उसे लोक साहित्य कहते हैं। संक्षेप में लोकसाहित्य, ‘लोक’ का ऐसा साहित्य है जो लोक के लिए, लोक के द्वारा एवं लोक भाषा में रचित हो।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि ‘लोक’ का अर्थ ‘अशिक्षित जनता नहीं’ समझनी चाहिए क्योंकि ‘शिक्षा’ संस्कृत के ‘शिक्ष्’ धातु से बनी है, जिसका अर्थ है—‘सीखना या सिखाना’। इस प्रकार इन्हें ‘अशिक्षित’ समझना उतना ही गलत है, जितना निरक्षर को अशिक्षित का पर्याय

मानना। सर्वप्रथम हमें इन्हीं लोगों ने प्रकृति के बारे में सिखाया, बल्कि लोकसाहित्य ही हमारी प्रथम पाठशाला है, जिसका प्रयोग हम लिखित साहित्य में करते हैं। उदाहरणस्वरूप जायसी के 'पद्मावत्' के 'नागमति वियोग खंड' में हम जिस 'बारहमासा' का प्रयोग करते हैं, वह न जाने कब से लोकसाहित्य रूपी निर्मल धारा के अंग के रूप में बहती चली आ रही है। भोजपुरी लोकसाहित्यकार भिखारी ठाकुर ने अपने नाटक विदेसिया में 'बारहमासा' का प्रयोग किया है, जो करुण रस का अद्वितीय उदाहरण है—

“कोइलि के मीठी बोली, लागेला करेजे गोली,
पिया बिनु भावे ना चइतबा बटोहिया।
चढ़ी बइसाख जब, लगन पहुँची तब
जेठवा दबाई हमें हेठवा बटोहिया।”²

भारत में लोकसाहित्य की परम्परा प्राचीन काल से चलती आ रही है। लोकगीत जो कि लोकसाहित्य का एक अंग है, उसके बीज हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो समस्त संत साहित्य को लोक साहित्य की संज्ञा दे डाली।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि लोकसाहित्य 'लोक' के द्वारा रचित साहित्य है, इसका अर्थ यह नहीं है कि यह लोगों के समूह के द्वारा ही रचित हो, बल्कि इसका अर्थ यह है, कि लोकसाहित्य यदि एक व्यक्ति द्वारा रचा जाता है तब भी वह सामूहिक मनोभावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् "रचनाकार का वैयक्तिक अनुभूत तिरोहित रूप होकर लोकानुभूति के धरातल पर प्रतिष्ठित हो जात है।"³

अब तक साहित्य की संस्कृति तीन अवस्थाओं से गुजर चुकी है—

1. मौखिक साहित्य, जो श्रुति और स्मृति के सहारे जीवित रहता था।
2. लिपि के विकास के साथ 'लिखित साहित्य' का उदय हुआ। अर्थात् जो पढ़े—लिखे लोग होते थे, केवल वही उसे पढ़ सकते थे, जिससे वर्गभेद का जन्म हुआ।
3. प्रेस और प्रकाशन के साथ ही 'मुद्रित साहित्य' का उदय हुआ और साहित्य के क्षेत्र में लोकतंत्र का विकास हुआ।

इन तीनों प्रवृत्तियों में एक बुनियादी प्रवृत्ति कभी समाप्त नहीं हुई, वह है—मौखिक प्रवृत्ति, जो लोकसाहित्य की मुख्य विशेषता है। धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में—“लोकसाहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक—समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोक की युग—युगीन वाणी साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है।”⁴

इस प्रकार लोकसाहित्य की कई विशेषताएँ हैं—

1. यह प्रायः मौखिक होता है, परंतु लिपि के प्रयोग के बाद यह लिखित अवस्था में लिपिबद्ध होने लगा।
2. यह लोकमानस की भावाभिव्यक्ति का एक साधन है, जिसका रचयिता एक व्यक्ति भी हो सकता है।

3. यह शास्त्रों के नियम एवं अनुशासन से बंधा नहीं होता है। अतः इसका रचयिता स्वच्छंद रूप से सहजावस्था में स्वभाविक रचना करता है।
4. इसमें आदिम अवशेष की झलक मिलती है।
5. इसमें परम्पराओं, विश्वासों एवं रूढ़ियों का निर्वहन एक पीढ़ी से दुसरी पीढ़ी तक होती रहती है।

इस प्रकार लोकसाहित्य में हमारे सम्पूर्ण साहित्य का आधारभूत तत्व मौजूद है। आधुनिक साहित्य इस लोकसाहित्य से बहुत कुछ ग्रहण कर अपने-आपको व्यापक एवं समृद्ध बना सकता है, जरूरत है इसके संग्रहण, संरक्षण एवं लिपिबद्ध कर समृद्ध बनाने की। डॉ० उपाध्याय के शब्दों में—“लोकसाहित्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है। साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हँसती है, खेलती है, उन सबको लोकसाहित्य के अंतर्गत समझना चाहिए।”⁵ लोकसाहित्य का महत्व केवल ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से ही नहीं है, बल्कि इसका महत्व नैतिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से भी है। लोकसाहित्य की महत्ता के बारे में डॉ० उपाध्याय का कथन है—“इसमें जिस समाज का चित्रण किया है वह स्वस्थ, सदाचारी एवं धर्मभीरु है, जिस नीति की प्रतिष्ठा की गई है वह कल्याण मार्ग की ओर ले जाने वाली है, वह मंगलमय पथ की प्रदर्शिका है जिस धर्म का वर्णन किया गया है, यह संसार में शान्ति तथा प्रेम का आदेश देता है, जिस आर्थिक संगठन का उल्लेख हुआ है वह पीड़ित तथा दलित मानवता के शोषण के ऊपर अवलम्बित नहीं है, जिस राजनीति का दिग्दर्शन कराया गया है वह दलीय संघर्ष और विषाक्त वातावरण से कोसों दूर है।”⁶

सन्दर्भ—सूची :

1. लोकसाहित्य की भूमिका, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ०—22
2. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ०—38
3. लोकसाहित्य: सिद्धान्त और प्रयोग, डॉ० श्रीराम शर्मा, पृ०—281
4. धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग—1, पृ०—597
5. लोकसाहित्य की भूमिका, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ०—20
6. वही, पृ०—273

Understanding Health and Healthcare in Tribal Areas

Dr. Pallavi Agrawal

ICSSR Post Doctoral Fellow, Banaras Hindu University, Varanasi

Abstract:

Health is a prerequisite of human development and is an essential component for the well-being of the nation. Health is a function, not only for medical care, but also for the overall integrated development of socio-cultural, economic, educational, social and political. Importance of good health has been well recognized over time. But many times a section of our society suffer from ill health and do not have much access to health facilities in remote areas of our state. Ill health and illiteracy are few root causes of poverty in India. The problem of lower health status of tribal people is global. The tribes in India have distinct health problems, mainly governed by multidimensional factors such as habitat, difficult terrains, varied ecological niches, illiteracy, poverty, isolation, superstitions and deforestation. While the disease burden among tribal populations is high, health infrastructure in tribal areas is inadequate. There seems to be a vague consensus amongst policymakers that tribal communities have poor health and restricted access to healthcare, there are still no comprehensive policies that meet this need, and no reliable data about the state of tribal health. This paper outlines an attempt to study health of tribal peoples and their healthcare facilities.

Key words: Tribal Health, healthcare, health issues, tribal, policy

Introduction:

One hundred and four million tribal people, accounting for 8.6 percent of India's population, are heavily marginalised and discriminated. Not only are tribal communities socio-economically bothered by the mainstream Indian populace, they also face a host of structural inequalities, with access to healthcare being one of the biggest. While there seems to be a vague consensus amongst policymakers that tribal communities have poor health and restricted access to healthcare, there are still no comprehensive policies that meet this need, and no reliable data about the state of tribal health.

Tribal healthcare in India usually falls within the ambit of rural healthcare. The assumption that the problems and needs of tribal people are the same as that of rural populations is incorrect; the difference in terrain, environment, social systems and culture, all lead to tribal communities having their unique set of healthcare needs. To

address this, the Expert Committee on Tribal Health, headed by Dr Abhay Bang, was created. This led to the examination of how tribal people in India suffer from inequity in health, and how this gap can be bridged. Over four years, the committee studied the health issues, culture around health, and healthcare infrastructure present in tribal areas, and sought potential ways forward through a consultative process with researchers, representatives of tribal people, and other experts

Defining a Tribe:

The word “tribal” or Adivasi brings to our mind a picture of half-naked men and women, with arrows and spears in their hands, feathers in their heads, and speaking an unintelligible language. Anthropologists have been from the very beginning engaged in the study of tribes. When historians, sociologists, political theorist and others have to deal with tribes; they turn to anthropologists for expert opinion on what tribes are and how they are constituted. Dictionary of Anthropology describes tribes as a social group usually with a social area, dialect, cultural homogeneity and unifying social organisation. It may include several sub-groups such as Sibs or villages. The tribe ordinarily has a leader and may have a common ancestor, as well as a patron deity. The families or small communities making up the tribe are linked through economic, social, religious, family or blood ties.

In India, we mostly refer them as Adivasis/Girijans. Tribal communities are facing number of problems they are educationally backward, deals with many social & religious issues and faces poverty, exploitation, forced displacement, various health problems and many more. This paper focuses on various health issues and healthcare problems among tribes of India.

Defining Health:

The World Health Organization (WHO) defines health as “a state of complete physical, mental and social well-being and not merely the absence of disease and infirmity.” It is well recognized that health is not the exclusive domain of medical science because every culture, irrespective of its simplicity and complexity, has its own beliefs and practices concerning diseases. No culture works with a meaningless approach in its treatment of diseases. Every culture evolves its own system of medicine in order to treat diseases in its own way. Thus, treatment of disease may vary from group to group. To understand health and health related problems in a proper perspective, it is very important to consider the socio-cultural issues, economic dimensions and environmental aspects. This is more relevant in the context of tribal people, particularly living in the rural areas.

Understanding Health of Tribal Peoples:

The problem of lower health status of tribal people is global. Various studies revealed that health outcomes of tribal people are poorer on various health indicators compared to the rest of the population. The tribes in India have distinct health

problems, mainly governed by multidimensional factors such as habitat, difficult terrains, varied ecological niches, illiteracy, poverty, isolation, superstitions and deforestation. The tribal people in India have their own life styles, food habits, beliefs, traditions and socio-cultural activities. Health and nutritional problems of the vast tribal populations are varied because of bewildering diversity in their socio-economic, cultural and ecological settings.

Picture of Tribal Health:

In the health area, the key indicators among tribes remain very poor. For example, according to the National Family Health Survey 4 (NFHS-4) (2015-2016), the under-5 mortality among the tribal population was 57.2 per 1000 live births compared to 38.5 among others, and the infant mortality rate (IMR) 44.4 per 1000 live births versus others of 32.1^{5,6}. A child born to a ST family in India has 19 per cent higher risk of dying in the neonatal period and 45 per cent greater risk of dying in the post-neonatal period compared with other social classes

- **Life Expectancy:** The estimates published in the Lancet 2016, show that Life expectancy at birth for ST population in India is 63.9 years, as against 67 years for the general population. The reasons for shorter lifespan include gaps in various health and nutritional indicators, education level, poverty level, between ST and non-STs, traditional life styles, remoteness of habitations & dispersed population.
- **Maternal Health:** Maternal health indicators of the tribal women were below the national average. The situation is however far worst in remote inaccessible areas due to conflicts and lack of awareness on evidence-based medicine. As a result, large inequality in quality health services persisted. As per the NFHS-4 report, the likelihood of getting medical care from a doctor was three times lower for ST women than other women. Maternal malnutrition is quite common among the tribal women especially those who have many pregnancies too closely spaced. Child bearing imposes additional health needs and problems on women - physically, psychologically and socially. The chief causes of maternal mortality were found to be unhygienic and primitive practices for parturition.
- **Child Mortality:** Child mortality rate among the scheduled tribes is "almost double" than the national average and their infant mortality rate is also higher than others. Tribal Affairs Ministry has taken up the issue with the Health Ministry and advised it to undertake "focussed" immunisation drives in the tribal areas so that the child mortality rate among the STs, including PVTGs is reduced. Time trend analysis shows that the tribal IMR over the period of 26 years (1988-2014) has halved reduced from 90 to 44. This is certainly a major improvement. Other indicators such as child birth weight showed that highest percentage of children with low birth weight was found among the tribal population. Despite the high rates of infant and child mortality in tribal areas and the heavy burden of diseases,

full immunization coverage remains consistently low among the ST population across states, 56% as against 72% all other social groups.

- **Communicable and Non-Communicable Diseases:** Tribal population in India suffers from various disease burdens. Communicable diseases like malaria and tuberculosis is commonly widespread in tribal areas. Rapid urbanization, environmental distress and changing lifestyles haven resulted in non – communicable diseases like cancer, hypertension and diabetes. So far as health of tribal is concerned, one cannot ignore the mental health especially stress and addiction, which is causing huge damage to the personality and overall development of person.
 - **Communicable Diseases:** The risk of communicable disease increases when people consciously and unconsciously modify the environment and ecological aspect of their habitat. Communicable diseases prevalent among tribal population of India are malaria, diarrhoea, hepatitis, jaundice, tuberculosis, conjunctivitis, leprosy, skin infection, typhoid, cholera, HIV, sexually transmitted diseases etc. Due to poor diet and nutrition, they are more prone to these diseases due to their contagious nature. Lack of education and awareness also increases their risk to these diseases. Among communicable diseases, malaria continues to be a major health burden in tribal areas. Though tribal communities are just 8 percent of the population, they account for 30 percent of all malaria cases and 60 percent of *p falciparum* cases and 50 percent of total malaria mortality. “The goal of malaria elimination by 2030 can’t be met unless tribal health is prioritized as majority of malaria cases and fatalities are from tribal areas,” the report notes.
 - **Non – Communicable Diseases:** With increases urbanization and rapid development, the increase in non communicable diseases has reached disturbing proportion. Diabetes, hypertension, heart disease and cancers are often dubbed lifestyle diseases and seen largely as problems of city folks. Historically it has been believed that tribal populations do not suffer from non-communicable diseases like cancer, diabetes, hypertension and cardiovascular ailments, primarily due to their proximity to nature, healthy food habits and lack of stress. However, there is evidence of early epidemiologic transition in tribal areas and associated increase in the incidence of non-communicable diseases. The prevalence of cardiovascular diseases in tribal people is almost same as non-tribal people in seven out of ten states with significant tribal population.
- **Mental Health and Addiction:** Mental Health refers to a state of mind which is characterized by emotional well-being, relative freedom from anxiety and disabling symptoms, and a capacity to establish constructive relationships and cope with the ordinary demands and stresses of life. Mental stress is also visible among tribal communities. Displacement and migration due to environmental disasters, mining,

land acquisition and loss of livelihood are also taking a toll on mental health of tribal people. Alcohol and substance abuse (mainly tobacco) are often part of the culture and both genders and individuals from even young age groups use it. Alzheimer's disease, mental retardation, suicide, schizophrenia and substance abuse are some of the diseases that are prevalent.

- **Nutrition:** Undernourishment was observed in tribal/ rural areas or among those who were in transition from rural to urbanization. There is a drastic socio-cultural and economic shift among tribal populations from agriculture to daily wage earning especially in urban sector, adopting unhealthy diet which could have resulted in early appearance of obesity related health problems among this primitive tribal group. Tribal Children at early age are more prone to be under nourished due to the lack of the awareness among the parents, like importance of breast feeding, proper nutritious food intake, immunization, care during sickness, clean drinking water, sanitation practices etc. The assessment of nutritional status is paramount importance because it impels to identify malnutrition which is a potential cause and or an aggravation of morbidity and mortality.

State of Healthcare:

While the disease burden among tribal populations is high, health infrastructure in tribal areas is inadequate. There seems to be a vague consensus amongst policymakers that tribal communities have poor health and restricted access to healthcare, there are still no comprehensive policies that meet this need, and no reliable data about the state of tribal health. Tribal healthcare in India usually falls within the ambit of rural healthcare. The assumption that the problems and needs of tribal people are the same as that of rural populations is incorrect; the difference in terrain, environment, social systems and culture, all lead to tribal communities having their unique set of healthcare needs.

Mere availability of public health workforce cannot improve the health status in tribal areas, as access to services due to geographical difficulties is an additional barrier. Access to health services becomes more difficult in tribal areas as the roads are poor or nonexistent. There is a lack of public/private transport and ambulance services and, additionally, telephone network does not reach many areas reliably. Language/social barriers and the lack of access to money etc. add to access problems.

As per the present norms, tribal and hilly areas should have one Health Sub-centre (HSC) per 3000 population, one primary health centre (PHC) per 20,000 population, a community health centre (CHC) per 80,000 population. The shortfall of healthcare infrastructure across 18 states and 3 Union Territories is found to be 27% Health Sub-Centres (HSCs), 40% Primary Health Centres (PHCs), and 31% Community Health Centres (CHCs), lacking penetration of primary healthcare services. In India, across 10 states with sizable tribal population, the percentage surplus/deficit of healthcare providers in tribal areas is found to be +64% ANMs at HSCs and PHC, -

33% Allopathic doctors at PHC, and -84% specialists at CHC which depict the huge deficiency of specialist doctors and thus quality healthcare, lacking Human Resources for Health (HRH) in the existing primary healthcare system. This is the state of healthcare delivery system in tribal areas despite having more than 50% and 66% of tribal population being dependent on public health system.

Finally after 11 five year plans, Government of India recognised the need to view tribal people's health with a serious and special concern and constituted an Expert committee on Tribal Health jointly by Ministry of Health and Family Welfare and Ministry of Tribal Affairs in 2013.

Conclusion:

The nation is still not able to provide reliable healthcare in vulnerable tribal areas even after many years of independence. Tribal health is further compromised by social issues such as excessive consumption of alcohol and in some areas, tobacco consumption is rapidly increasing as well. The triad of lack of health infrastructure, roads, and extreme poverty has further compelled many to ignore their health problems. Thus, understanding the dynamics of poor tribal health is a challenge as well as a means of understanding the public health in the tribal context. It is clear that tribal health is in a state continuum. Efforts are being done by the various govt. and non-government organizations to deal with the issues of tribal health. Hosts of innovations are being applied for the development and making health care available to the most vulnerable population. Govt. is committed to bringing out positive changes. But the health issues and challenges of this population would be in a state of indolence until and unless people from the communities are not involved in the process of health care development. Tribal health care system especially their indigenous knowledge has to be explored and promoted at every level of health operation and execution.

References:

Executive Summary – Tribal Health Report, India. Available from: <http://tribalhealthreport.in/executive-summary/>

Government of India Ministry of Tribal Affairs. Annual Report 2017-18. Available from: <https://tribal.nic.in/writereaddata/AnnualReport/AR2017-18.pdf> .

Improving Health Services for Tribal Population – The World Bank. Available from: <https://www.worldbank.org/en/news/feature/2012/02/28/improving-health-services-for-tribal-populations>

Jacob I. Health and health seeking behaviour among tribal communities in India: A socio-cultural perspective. J Tribal Intellect Collect India. 2014;2:1–16. [[Google Scholar](#)]

Kumar MM, Pathak VK, Ruikar M. Tribal population in India: A public health challenge and road to future. *J Family Med Prim Care*. 2020;9(2):508-512. Published 2020 Feb 28. doi:10.4103/jfmprc.jfmprc_992_19

Mavalankar D. Doctors for Tribal Areas: Issues and Solutions. *Indian J Community Med*. 2016;41(3):172-176. doi:10.4103/0970-0218.183587

Narain J. Health of tribal populations in India: How long can we afford to neglect? *Indian J Med Res*. 2019;149:313. [[PMC free article](#)] [[PubMed](#)] [[Google Scholar](#)]

Negi DP, Singh MM. Tribal health in India: a need for a comprehensive health policy. *Int J Health Sci Res*. 2019; 9(3):299-305.

Verma, Manish & Shah, Alka. Health, Tradition, and Awareness: A Perspective on the Tribal Health Care Practices. *Social Research Foundation*. 2014; 2(2): 82-91.

Schooling of Child with Special Need Parent Involvement and Participation

“we are almost as good as specialists in our child’s case, although we don’t have a certificate...we know that teachers may have more knowledge than we have but noone knows our child better than his parents who care for him everyday”

Prof D. R. Sahu

Head of the Department, Department of Sociology, University of Lucknow

Dr. Mudra Sharma

Post-Doctoral Fellow, University of Lucknow

ABSTRACT

This paper presents parents account of their experiences with regard to their child’s (with special need) schooling. This paper will explore the degree of parent involvement when their children with special needs are integrated in mainstream schools It firstly provides a historical overview of the development of educational policies in India. This is necessary because, during the last few decades, India has witnessed rapid changes in its policy agendas and in the discourses regarding ‘special’ education, and the establishment of programmes for disabled students.

This paper has explored the parents' involvement, participation and experiences in the school setting. For most of the parents, the school is the place where they experienced and struggled negligence.

Keyword: *Inclusion, Special Education, Integration*

Purpose of the Study

The purpose of the study is to presents Parents account of the struggle and experience in school setting in their own words of expression when their children with disability/disabilities are integrated in mainstream school. Moreover, this approach explored picture of parents’ experience and difficulties they encountered in the irchild’s integration.

Objective

The objective of the study is to evaluate the degree of parental involvement when their children with special needs are integrated in mainstream school.

Methodology

The present paper is based on the pilot study as part of a Post-doctoral work, utilized a descriptive analysis which comprised a semi-structured in-depth interview of 6 parents, three parents from the mainstream school and three from special school; which was adopted in an attempt to arrive at a better understanding of the experience of the parents. The interviews were conducted in a fairly conversational style and parents remained more open and freer in unfolding their stories. Their views and experiences were there fore cited in greater details. Each interview lasted 35 to 50 minutes. In addition, as the researcher knew the best about the design of the study, she had conducted the interviews by herself. During the phone-interviews, there was no recording and key notes had been jotted down for further analysis.

Development of Special Education in India

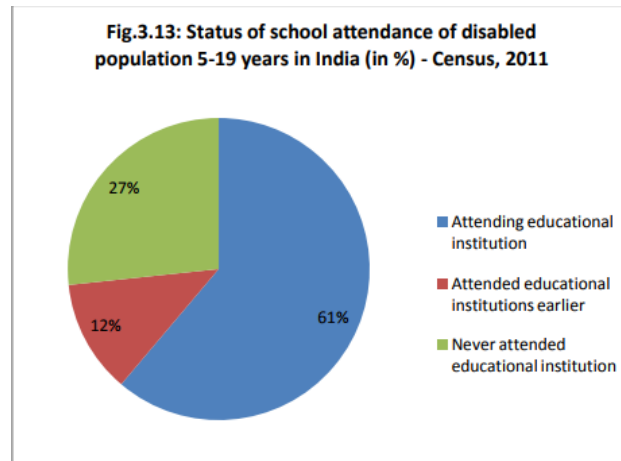
Historically, persons with disabilities in India have enjoyed coexistence with the general mass, though at different times, their treatment and attitudes toward them varied but they were never excluded from society by confinement in institutions. Rather, they lived with their families. As far as education was concerned, even the Gurukul a Ashram (educational institutes) promoted the basic educational principles of special education, for example, ascertaining the abilities and needs of each pupil, individualization of teaching targets and methods to match their skills and interests, and preparing them to meet the social expectations of their prospective interests.

The formal education of children with disabilities began in India in 1869 when Jane Leupot, with the support of the Church Missionary Society, started a school for "blind students" in Benares (Alur, 2002).

Formal educational institutions were established for the blind in 1887, for the deaf in 1888, and for mentally deficient in 1934 (Misra, 2000). After these early establishments in the late 19th century or early 20th century, a growth was seen in the establishment of these institutions in the latter half of the 20th century. After independence from Great Britain in 1947, there was a systematic development of special education in India that saw the establishment of 81 schools between 1960 and 1975. By 1979, the number of special education centres was 150. With the establishment of the National Institute for the Mentally Handicapped (NIMH) in 1986 and others soon after, the availability of trained personnel and suitable models of service made the growth of special schools for children with disabilities very significant.

In India, there are 27 million people with special needs, in a population of 1.2 billion. This means that about 2.2% of our population has special needs.

About 4.6 million people are in the age group 10–19 years. The picture for 0–6 years is bleaker, with about 2 million in the seage group having special needs. They of ten have trouble with access to education. According to the Census, only 61% of children with special needs (CWSN) aged 5– 19 attended educational institutions of any sort.

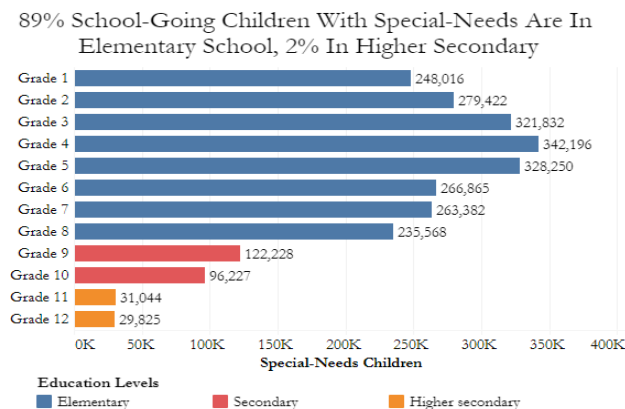


Source: Census of India, 2011

And those are the ones that we know of! Many cases are not reported due to misconceptions, societal fears, or lack of diagnosis.

UNICEF’s Report on the Status of Disability in India 2000 states that there are around 30 million children in India suffering from some form of disability. The Sixth All-India Educational Survey (NCERT, 1998) reports that out of India’s 200 million school-aged children (6–14 years), 20 million require special needs education. While the national average for gross enrolment in school is over 90 percent, less than five percent of children with disabilities are in schools.

Current Situation in India



Source: District Information System for Education, 2015–16

Many special needs children do not get the education they need. While 89% are enrolled in primary school, that number drops to 8.5% in secondary school. Only 2.3% of special needs children reach higher secondary (11th and 12th).

School personnel's attitude

Parents were interviewed regarding their perception of the attitude of school personnel towards their children's integration in mainstream school. Parents' opinions would shed light on their readiness to be involved and also reflect difficulties they would encounter.

A positive attitude on the part of the school professionals involved with disabled children's education can effectively set the pace for the realization of the child's full potential. In contrast, the teacher's negative attitudes are likely to have an adverse effect on the child's total school adjustment, self-esteem and the other, non-disabled pupils' reactions to the child.

Most of the Parents reported that their child's difference was always negatively perceived and became a reason for blame.

The disabling attitudes held by the head teacher were a particularly significant barrier to promoting an inclusive school culture. One mother reported: *my daughter is now in a special classroom along with seven other disabled children. They all have mild impairments. But those children haven't participated in general classes...We and the special teacher doesn't think there's any problem in our children studying with other [non-disabled] children in regular classes. So, we asked the head teacher several times to allow our children to join regular classes...but he wouldn't accept it.*

Given such unfavourable circumstances, for many parents, keeping their child in a mainstream school was a stressful daily battle against the teachers' negative attitudes.

Unavailability of support provided by school

It is not difficult to imagine that daily degradation by the teacher damaged the child's self-esteem and engendered feeling of isolation and segregation. A mother said *"It's very difficult to find a good and supportive teacher but what most of the parents find and learnt through their interaction with school teachers was, unsupportive with non-sympathetic attitude.*

In their experience, the school teachers' disabling attitudes and negative treatment of the impaired child was the norm. As a result, for the majority of the parents in this study, protecting their child from the teachers' maltreatment and dealing with their negative, discriminatory attitudes were the most stressful and painful experiences associated with their child's schooling.

Communication between parents and the school personnel

The majority of parents, did not have high opportunity of discussing about the progress of their children with the school personnel. The main channel of communication only relied on Parents' Day as well as telephone conversation. The opportunity of having discussion with the school personnel in formal meetings is not common. A mother expressed: *"...if I want to talk with them about my child, they refuse; they just say 'I know about such children'...but our children are all different...they have different characteristics...I'd like to give them specific information and advice about my child."*

Regarding the result of communication, some parents said that they were often involved in making decision for their children during the process of discussing with the school personnel. The majority of them, said that they were not involved in the process of making decision.

Barrier in building Partnership

Throughout the child's time at school, the parents come into contact with various school professionals in both main stream and special schools. Regardless of their specific circumstances, the parents in this study all emphasized that achieving a collaborative relationship between teachers and parents is a precondition for their child's effective educational and social development. However, many parents reported that they had faced significant barriers in building partnerships with, and in receiving collaborative support from, school teachers.

Disabling values inflicted upon a disabled child were typically transferred to the teachers' attitudes towards parents. Where the teachers regarded the children as an inferior group or burden some, they did not welcome the parents in to the school and did not regard them as clients. Indeed, of parents reported that they had been unfairly treated and had not received as much respect as other parents.

It has been widely emphasized that sharing knowledge and information based upon mutual respect constitutes a vital component in developing harmonious, collaborative relationships between teachers and parents. This is particularly important for the parents of disabled children. Many of the participants in this study believed that their own knowledge and experience could provide an important resource for facilitating good relationships between their child and the teacher. As noted by a mother: *"I call the teacher and ask for a meeting to talk about my son. If he agrees, I show there cords to the teacher, explain my son's educational programmes so far, why he might behave 'strangely' and how the teacher should respond to this... and I say 'If you have any difficulty in teaching my son, always send me an e-mail or telephone and I will see what I can do to help overcome the problem'"*

Like the above, many parents consider it vital to share their knowledge and experience with the teachers in order to secure appropriate support for and effective teaching of, their child. However, their voices are often ignored, denied and devalued by the school teachers.

The parents hoped that they could participate in the decision-making and influence the operation of the educational services. They wanted to play a supportive role or be co-planners in promoting their child's personal and educational development. However, the parents were not always welcomed and considered as partners by the teachers. The parents' efforts to make their voices heard and ensure their commitment to schooling on behalf of their child were often perceived as threatening to the authority of the teachers.

Most of the parents of children in mainstream school emphasized that their efforts at mainstreaming the child's education were easily dismissed and even treated as selfish or egoistic behavior.

The parents in general had a realistic understanding that schools have limited resources and expressed sympathy with the teachers' determination to meet the pupils' needs, often despite the poor teaching conditions (for example, large class sizes). The parents also acknowledged that many of the difficulties they were experiencing, such as the unavailability of teaching assistants and personal helper, could not be solved by the efforts of the teachers alone. Thus, they considered a variety of ways for increasing the support for disabled children through greater cooperation between the teachers and parents. However, the parents argued that there was a significant gap between the parents' and teachers' understandings of the 'responsibility for the disabled child'. The parents saw the teachers as taking minimal responsibility for disabled pupils, but this was frequently denied by the teachers. Many of the parents reported that they were compelled to stay at school and, if not, they were often criticized by the teachers. 'Being chained', as the father (below) puts it, was a widespread phenomenon in mainstream schools and sometimes even in special schools.

The ethos of partnership was perceived as one of the most significant factors in determining the quality of the disabled child's schooling. The parents firmly believed that, by working together, it would be possible to find some better solutions within the existing resources. However, the wish of many parents to build collaborative relationships with teachers was frequently dismissed through teachers' lack of respect, unwillingness to listen to the parents' voices and denial of any responsibility of care for disabled children. This disabling relationship with the teachers was a source of frustration for the parents.

Lacking of Educational Opportunities and Neglect of Child's Need

One of the most common parents' complaints focused on the deprivation of appropriate educational opportunities and the neglect of the child's needs, whether in special schools or mainstream schools. The parents who sent their children to special schools commonly expected that the child would receive more relevant educational services than in mainstream schools. They expected that the teachers would have more talent sensitivity and professional knowledge about their child's potential development and preparation for adult life. However, their expectations and the reality were highly

discrepant. The general impression created by parents whose child was enrolled in a special school was that the school offered little more than a child-minding service and was devoid of stimulus. A mother explained why she transferred her son to a mainstream school. *“only two or three students were interacting with the teacher...the others were just sitting there...there are no educational advantages...but, if my son went to a main stream school, he could learn a lot from non-disabled children...at least they’ dinteract.”*

Some of the parents were highly critical of special schools. They pointed to the narrow curriculum and the lack of academic progress made by their children. Some of these parents felt that their children were not given the opportunity to reach their potential. The special school often acts to confine disabled students to the ‘expected limitation’, closing the door to the opportunity to learn because they are not expected to succeed. The poor quality of educational provision in special schools often made the parents to internalize the low expectations of their disabled child.

According to a policy statement, special classes in mainstream schools were introduced to support disabled pupils' inclusion and to provide a resource room in which the child's special educational needs would be met. However, this support is often non-existent.

In addition to the lack of opportunity to receive appropriate educational provision, many parents of children in mainstream schools reported that their child had been excluded from participating in ordinary school activities. A mother commented: Our children have never gone with the other children to do outdoor school activities, camping, or on school trips. We believe that...because our children [in the special class] are also [mainstream] school students, it's right that they should enjoy happy times playing and participating in school activities with other.

CONCLUSION

This paper has explored the parents' participation and experiences in the school setting. For the majority of parents, the school was a site in which they witnessed, experienced and struggled with negligence and disabling attitude. Disabling values are witnessed in schools and lead to direct de humanization of the disabled children by both the administration and the teachers, many of the parents also reported that their child did not participated in ordinary school activities and denied educational opportunities because of the lack of support. In spite of this harsh environment, most parents were seeking better solutions through active involvement in the school. Many parents even tried to engage actively in creating healthy, positive relationships between their children.

The provision of parental support appeared to be insufficient in the study as the majority of parents mentioned that they were dependent on external specialists and some said that they lacked support from other parents. Hence more support groups in

helping parents may relieve their stress and tackle their problems. Regarding the role played by school, most parents requested school personnel to enhance parent-school communication.

REFERENCES

Misra,A.(2000). Special education in India. In C.R. Reynolds & E.Fletcher-Janzen(Eds.), Encyclopaedia of special education (pp. 8697). New York, NY: Wiley.

Jha, M. M. (2002). School without walls: Inclusive education for all. Oxford: Heinemann

Reilly (2011), Parental Involvement: SEELS Data Set Analysis: Journal of Disability Policy Studies • January [2] Horn by, (2000). Improving Parental Involvement: Bloomsbury Academic, 01-Jan-2000 (Lian, & Aloia, 1994).

Fan, X., & Chen, M.(2001). Parental involvement and students "academic achievement: A meta- analysis. Educational Psychology Review,13 (1),1–22. doi:10.1023/A:1009048817385

Khan, M.-B. (1996). Parental involvement in education: Possibilities and limitations. School Community Journal, 6, 57-68

URL's <http://ijoe.vidyapublications.com/Issues/Vol6/05-Vol6.pdf>

Madan, A., & Sharma, N. (2013). Inclusive Education for Children with Disabilities: Preparing Schools to Meet the Challenge, Electronic Journal for Inclusive Education,

Smitha, N.R. and Sujatha Acharya, (2010). Attitude of teachers towards inclusive education for the disabled; EDUTRACKS: November, Vol-10 N0-3, PP-42

Baquer, Ali and Sharma, Anjali (1997) ; Disability: Challenges Vs Responses, Concerned Action Now.

<https://www.narendramodi.in/rights-of-persons-with-disabilities-bill-2016-passed-by-parliament-533533>

<http://www.disabilityaffairs.gov.in/upload/uploadfiles/files/RPWD%20ACT%202016.pdf>

कुछ आर्थिक विचार के पहलू : छंद के रूप में

डॉ० अशोक कुमार साव

पटना विश्वविद्यालय, पटना

अर्थशास्त्र के उद्गम एवं विकास की सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए आर्थिक विचारों का इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक विचारों के इतिहास में; आर्थिक विचारों के विकास तथा प्रथाओं और क्रियाओं पर पड़ने वाले उनके ऐतिहासिक परीक्षण किया जाता है। इसका श्रेत्र काफी व्यापक और परिवर्तनशील है। अर्थ-विज्ञान के अध्ययन के लिए जो भी दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है और उनमें अध्ययन से मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है और उनमें प्रत्येक विचारक के विचारों एवं दर्शन का निष्पक्ष भाव से विश्लेषण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है।

इस विषय पर अंग्रेजी भाषा के अनेक अच्छी पुस्तकें देखने को मिलती है किन्तु हिन्दी भाषा में बहुत ही कम है और जो भी पुस्तक लिखी गई है वो काफी मोटी है और विचारों का दुहराव भी काफी है। मैं अपने अध्ययन में पाया कि अगर इनके विचारों को मौलिक रूप दे दिया जाए तो इन्हें पढ़ कर विद्यार्थियों में उनके विचारों को गहराई से अध्ययन करने की उत्सुकता पैदा किया जा सकता है और विषय के रूप में आज "आर्थिक विचारों का इतिहास" जो एक नीरस विषय हो गया है उसे पुनः विद्यार्थियों के लिए रोचक विषय बनाया जा सकता है।

मैं अपने इस अध्ययन में कुछ अर्थशास्त्रियों जैसे—Adam Smith (अर्थशास्त्र के पिता), थॉमस माल्थस, डेविड रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल, अलफर्ड (Alfred Marshall) मार्शल तथा नवीन अर्थशास्त्र के नेता जॉन मेनार्ड कीन्स के आर्थिक विचारों का मौलिक रूप से कविता (छंदों) के माध्यम से रख रहा हूँ जो निम्नलिखित है:-

स्मिथ महोदय कुछ नये विचार है लाये,

टुकड़े-टुकड़े बिछड़ो को साथ हैं लाये।

प्रकृतिवाद, आशावाद तथा मौलिकता को साथ है दिखलाया,

स्कॉटलैण्ड के अविवहित पागल ने अर्थशास्त्र को 'धन का विज्ञान' है बतलाया।

रोको मत जाने दो, एकाधिकार को मिटाने दो,

व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अमर हो जाने दो यह दुनिया को है बतलाया।

"The Theory of Moral Sentiments" and "Wealth of Nations" को देकर अर्थशास्त्र का पिता होने का हक है पाया।।

माल्थस महोदय आये हैं, जनसंख्या पर नये विचार लाये हैं। 'जनसंख्या मत बढ़ाओं "Principles of Political Economy" से यह विचार फैलाएँ हैं।

निराशावाद के प्रवर्तक बनकर 1801 में इंग्लैण्ड में जनगणना करवाये हैं।
गुणोत्तर वृद्धि से जनसंख्या 25 साल में दोगुनी हो जायेगी,
अंकगणितीय वृद्धि से खाद्य सामाग्री की आँकड़े पोछे छूट जायेगी।
अपने को संयम बरतें, रोने से लोग बच जायेंगे,
रोक नही पाएँगे तो प्राकृतिक आपदाओ से जहन्नुम में जाएँगे।
स्मिथ के प्रशंसक और माल्थस के दोस्त 'रिकार्डो' आये हैं।
मुक्कुलुस तथा जेम्स मिल के समर्थन से कुछ आर्थिक विचारों का पिटारा लाये है।
“Principle of Political Economy and Taxation” में इन विचारो को दिखलाये है।
शैली रूखी, भाषा कठिन उदाहरण भी जटिल लाये हैं।
घबराईए मत लंदन के धनी सांसद, गरीबों के लिए भी खैरात का झोला लाये है।
कागजी मुदा इंग्लैण्ड में, Free Trade दो लैण्ड में,
जमींदारी प्रथा का उन्मूलन पूरे विश्व मे करवाये हैं।
लगान सिद्धांत देकर अर्थशास्त्र के इतिहास मे अपना नाम दर्ज करवाये हैं।।
जेम्स स्टुअर्ट के सुपुत्र 'जॉन स्टुअर्ट मिल' आये हैं,
तीन वर्ष की आयु में यूनानी भाषा, आठ वर्ष की आयु मे लैटिन भाषा
तथा दस वर्ष में दोनो के साहित्य मे निपुण होकर दिखलाये है।
महान विचारक होकर भी, अच्छे वक्ता नहीं कहलाये है,
प्लूटो तथा ऑगस्ट काम्ते से प्रभावित होकर 'जे०बी० से' के समर्थक हो आये है।
'टेलर' से विवाह करके बेरोजगारों और निर्धनों को अविवाहित रहने का पाठ पढाये हैं।
मुद्राको महत्वहीन बताकर “Comparative Cost Theory” मे सुधार लाये है।
जनसंख्या वृद्धि को भयानक बताकर नव माल्थसवाद कहलाये हैं।
नये सिद्धांत तो नही दे पाये पर “Principle of Political Economy”
को लिखकर पुराने विचारो को शिखर पर पहुचाये है।
बार-बार पूछने पर अर्थशास्त्र को कला तथा विज्ञान दोनों बताये हैं।।
कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के सदस्य व नव-परंपरावाद के जन्मदाता मार्शल आ गये।
अर्थशास्त्र 'धन का विज्ञान' है को गलत बता कर
अर्थशास्त्र को “मानव कल्याण” का विज्ञान बता गये।
'मैरी पाले' को पढा-लिखा कर पत्नी तथा Oxford का प्रथम प्रधानाचार्य होकर

रॉविन्स तथा किन्स को अपना शिष्य बना गये।
‘मॉग की लोच’ तथा ‘उपभोक्ता बचत सिद्धांत’ देकर अर्थशास्त्री होने का हक जता गये।
‘अर्ध लगान’ अचल पूँजी को अल्प काल में तथा ‘ब्याज’ को प्रतिक्षा का प्रतिफल बता गये।
“Principles of Economics” को शुद्ध मूल्य पर बेचकर अपना कजे लौटा गये।
नवीन अर्थशास्त्र के नेता केन्स प्रेरित क्रान्ति के जन्मदाता को सामने पाया,
1902 मे सिविल सेवा मे दूसरा स्थान था लाया,
दुःख की बात है दोस्तों अर्थशास्त्र में सबसे कम अंक था पाया,
प्रसिद्ध रूसी नर्तकी ‘लिंडियो लोपोकोवा’ से विवाह था रचाया,
गुरु के बुलाने पर नौकरी छोड कर कैंब्रिज वापस था आया,
गुरु शिष्य के रिश्तों का जीता जागता उदाहरण था दिखलाया।
कीन्स ने मुद्रा स्फीति को मुद्राअस्फीति से श्रेष्ठ,
तथा मुद्रा की मात्रा तथा मूल्यों के संबंध को अप्रत्यक्ष है बताया।
‘ब्याज’ को नगदी अधिमान त्याग का प्रलोभन,
तथा बचत को निवेश के बराबर है बताया।
मुद्रा को विनिमय के साधन के साथ-साथ मूल्य मापने,
तथा धन संचित करने का साधन है बताया।
सीमांत उपभोग प्रवृत्ति का अंकिय मान धनात्मक,
परन्तु 1 से कम तथा 0 से अधिक है बताया।
पहली पुस्तक “Indian Currency and Finance” 1913 में आया,
कुछ विशेषज्ञों ने इसे कीन्स का सर्वश्रेष्ठ रचना है बताया।
कीन्स के गुणांक सिद्धांत पर बहुत विवाद पाया,
‘कुल सामर्थ्य मॉग सिद्धान्त’ देकर माइक्रो अर्थशास्त्र के वोट बैंक है बढ़ाया।
“General Theory” 1936 मे आया,
जिसमें मुद्रास्फीति को नियंत्रण करने तथा पूर्ण रोजगार प्राप्त करने का मार्ग है दिखाया।
U.S.A. ने सबसे पहले यह मार्ग था अपनाया,
यही मार्ग महान मंदी से मुक्ति था दिलाया।
कीन्स प्रेरित क्रान्ति चारो ओर था लहराया,
इसलिए तो 20वीं सदी का सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्री था कहलाया।।

संदर्भ :

1. आर्थिक विचारों का इतिहास – टी एन हजेला
2. A History of Economic thought- V. Lokasandthan
3. History of Economic thought- M.L. Jhingan, M.Girida, L.Shashibdu
4. History of Economic Thought- R.R. Poul
5. आर्थिक चिन्तन का इतिहास– डॉ० महेश, चतुर्बेदी, डॉ० निषलेश चन्द्र चतुर्बेदी
6. Advance Economic Theory- H.L. Ahuza
7. जनांकिकी – डी०एम० बघेल, किरण बघेल
8. मौद्रिक अर्थशास्त्र– एम० एल० झिंगन
9. समष्टि अर्थशास्त्र– एम० एल० झिंगन

प्रकृति के कवि गोपाल सिंह नेपाली

डॉ० गुरु चरण सिंह

हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

उत्तर-छायावाद के यशस्वी कवि गोपाल सिंह नेपाली के काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य में प्रकृति एक हैं, वे प्रकृति-रागी हैं। प्रकृति उनके काव्य का उत्स है। मसूरी की मनोरम उपत्यकाओं, हरे-भरे कुंजों और झील-झरनों के सान्निध्य में ही उनका कवि-कंठ फूटा है। उन्होंने लिखा है—

फूटा है मेरा कंठ यहीं रें,
निर्मल निर्झर के समान
सीखा है मैंने यही तीर पर,
सरिता के मृदु सरल गान।

प्रकृति नेपाली के जीवन की प्रेरक शक्ति बनी है, शैशव में ही मातृ-विछोह के कारण प्रकृति का वत्सल आँचल उन्हें दैवी उपहार के समान लगा होगा। सैनिक पिता के साथ विभिन्न सैन्य शिविरों में उनका बचपन और केशोर बीता। देहरादून की पर्वतीय वन्य सुषमा ने उनके मन पर गहरी छाप छोड़ी। प्रकृति के क्रिया-व्यापारों में उन्हें स्नेह, करुणा वत्सलता की सहज अनुभूति हुई होगी। सैनिक-पुत्र के हाथ में बंदूक की जगह कलम आई, तो इसका श्रेय प्रकृति को जाता है। 'रागिनी' के 'स्वर-संधान' में 'नेपाली' ने लिखा है 'शहर एक कवि के लिए न तो कोई जगह है, न उसकी चकाचौंध कभी गाने की चीज रही है। दुनियाँ गंद की तरह फूलती और हमेशा रंगीन ही रहती है, उसी के चारों ओर खेत हैं, वन है, नदी-नाले हैं और पहाड़-पहाड़ियाँ हैं। कोई सहृदय प्रकृति-प्रेमी यदि वहाँ पहुँच जाए तो आगे के लिए वह अपनी दिनचर्या ऐसी बनाएगा कि सबकी आँख बचाकर रोज वहाँ पहुँच जाया करें। यह हरी-हरी दूब की ही महिमा है कि आज मेरे हाथ में बंदूक के बदले लेखनी है। ध्यातव्य है कि संकट-काल में देश की संप्रभुता और मान-मर्यादा के संरक्षण में तथा देशवासियों पर होने वाले अन्याय अत्याचार के प्रतिरोध में कवि की लेखनी को संगीन बनते देर नहीं लगती "कोई छेड़े तो तन जाती, बन जाती है संगीन कलम।"

छायावाद के उत्कर्ष-काल में आकर 'नेपाली- जी की काव्य यात्रा आरंभ होती हैं। प्रकृति-चित्रण की प्रचुरता के कारण छायावाद को 'प्रकृति का उद्गीथ' भी कहा गया है। स्वभाविक रूप से 'नेपाली' के प्रकृति-चित्रण पर छायावाद की छाया पड़ी है। प्रकृति सौन्दर्य के प्रति मोह, प्रकृति पर मनोभाव का आरोप, प्रकृति का मानवीकरण, प्रकृति संबद्ध रहस्यात्मकता और दार्शनिकता जैसी छायावादी प्रवृत्तियाँ उनमें भी देखी जा सकती हैं। बावजूद इसके 'नेपाली' का प्रकृत्यंकन कई अर्थों में छायावाद से पृथक और विशिष्ट है। वे प्रकृति के सौंदर्य के चितेरे हैं। वे प्रकृति की सुषमा को ग्रामीण नयनों से निरखते हैं। स्वतः सुन्दर प्रकृति पर अलंकारों के प्रसाधन के प्रयोग से वे बचने का प्रयत्न करते हैं। उनके काव्य में पर्वतीय, वन और ग्राम्य प्रकृति के स्वयंभू सौंदर्य का वितान है। यहाँ गोपन नहीं, विवृति है। माली की कैंची से काटी-छांटी गई अत्याधुनिक प्रकृति के दर्शन यहाँ नहीं होते। यहाँ, फूलों पर मधुपों का गुनगुन है। फुलचुग्गी का

मंजुल रून्झुन है, सुग्गों का फल खाना चुन-चुन है। यहाँ ऊपर विस्तृत नभ नील-नील है, नीचे 'नदी-झील' है। एक ओर इमली, जामुन, रसाल, तमाल, करील, हैं तो दूसरी ओर निर्झर का संगीत है, लघु सरिता का निर्मल शीतल जल है। यहाँ पीले-पीले, लाल-लाल सरस रसाल है। गोल-गोल अनार है और ढेर-ढेर जंगली मीठे बेर है। यहाँ रंगों, ध्वनियों और छवियों का मेला है। प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा के साहचर्य में कवि का हृदय आह्लादित है और वह मुक्तकंठ से गा उठता है-

“फूलों पर मधुपों का गुनगुन
फुलचुग्गी का मंजुल रून्झुन
सुग्गों का फल खाना चुन-चुन
वह सब वन में लख-लख , सुन-सुन
कैसा मन जो उठता न डोल
रे पंछी, मंजुल बोल-बोल।¹

'नेपाली' ने प्रकृति को अधिकांशतः आलंबन-रूप में चित्रित किया है। रहस्यात्मकता कल्पना और अलंकृति की अतिशयता के कारण छायावाद की प्रकृति परी-सी हो गई। छायावादी कवियों की अभिजात दृष्टि से इतर 'नेपाली' की लोक-दृष्टि के फलस्वरूप इस प्रकृति-परिसर में बेर, लौकी के लहराते चौड़े पत्ते, कुटीर, खेत-खलिहान, हलवाहे तथा गाय-भैंस की घंटियों के साथ गाँव की उपस्थिति है। एक उद्धरण प्रस्तुत है:-

“है आसपास वन में विखरे
कितने कुटीर रे कई गाँव
खेलते यहाँ आँगन में हैं
मानव स्वभाव के मधुर भाव
संगीत मधुर इनके जीवन का
गाय-भैंस की घंटी में
लौकी के चौड़े पत्तों में
लहराते इनके मनोभाव”²

पीपल के गोल-गोल पत्तों के संवाद और गायन पर इतना एकाग्र ध्यान देनेवाला यह कवि प्रकृति का विलक्षण पारखी है, ये पंक्तियाँ देखिए-

पीपल के पत्ते गोल-गोल
कुछ कहते रहते डोल-डोल
जब-जब आता पंछी तरु पर,
जब-जब जाता पंछी उड़कर
जब-जब खाता फल चुन-चुनकर
पड़ती जब पावस की फुहार
बजते जब पंछी के सितार
बहने लगती शीतल बयार
तब-तब कोमल पल्लव हिल-डुल
गाते सरसर, मर्मर मंजुल।³

‘नेपाली’ को देशानुरागी और प्रेम-पुजारी बनाने में प्रकृति का उल्लेखनीय योगदान है। स्वदेशी नर-नारी, धरती-गगन, सरिता, समुन्द्र, पर्वत, बाग, वनस्पति पशु-पक्षी, मौसम सभी से कवि की गहरी प्रीति है। अपने देश की प्राकृतिक संपदा और सुषमा पर कवि हार्दिक हर्ष और गौरव की अनुभूति करता है। उसके प्रकृति-राग में उसका देश-राग सम्मिलित है। प्रकृति के रूप-रंग और संगीत को नयन-श्रवण में उतारते हुए कवि वस्तुतः अपने देश का स्वरूप ही अंतःकरण में अंकित करता है। ‘नेपाली’ के प्रकृति-प्रेम से संयुक्त देश-प्रेम को स्पष्ट रूप से देखने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल का निम्नलिखित कथन ध्यातव्य है-

“यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह-भरी दृष्टि से देखेगा। सबकी सुध करके वह विदेश में आँसु बहाएगा। यदि देश प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं टेसू के फूलों से वनस्थली कैसे लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसों, देखो क्या हो रहा है?”⁴

‘नेपाली’ एक ओर हिमालय के मोहक सौंदर्य का चित्र खींचते हैं तो दूसरी ओर उसके शौर्य को शब्दांकित करते हैं। हिमालय से उनकी गहरी संलग्नता ‘राष्ट्र के प्रहरी’ के प्रति उनके विशेष अनुराग का प्रमाण है। वे लिखते हैं-

जन्मभूमि यह धन्य हमारी
प्रिय, इस पार हिमालय,
छवि दर्शन की पगडण्डी है,
आश्रय को छाया ठण्डी है
गदगद कंठ करो शीतल कवि,
अमृतधार हिमालय है।⁵

भारत से हिमालय के सुदृढ़ आत्मीय संबंध का ‘नेपाली’ अनेकशः उल्लेख करते हैं। हिमालय को वे भारतीय संस्कृति के विशिष्ट प्रतीक के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं-

“धवल हिमाचल
निर्झर चंचल
गंगा का जल
यमुना का जल
गौरी शंकर
खड़ा धरा पर
अपने सिर पर
विश्व-मुकुट पर
है चँवर जुलाती मेघ-माल
भारत अखंड भारत विशाल।”⁶

नेपाली, की प्रेम-चेतना के विकास में प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है। प्रकृति कवि के लिए प्रीति की पाठशाला रही है। प्रकृति की मृदुल गोद में बैठकर ही उसने प्रेम के मधुर गान

गाए हैं उन्मुक्त, विशाल प्रकृति-प्रांगण के प्रेमोत्सवों को कवि अनुरागी नयनों से निरखता रहा है। प्रकृति के प्रेम-व्यवहार में निर्मलता-निश्छलता है, प्रदान की अभिलाषा है, आदान की अभीप्सा नहीं। यहाँ गायन, नर्तन, आलिंगन में मस्ती है, कुंठा के लिए कोई जगह नहीं है, यहाँ प्रतिदिन प्रेम की चर्चा है, प्रतिपल प्यार की धूम है, बकौल कवि-

हर रोज प्रेम की चर्चा है
हर घड़ी प्यार की मची धूम
निर्झर प्रेमी सा गाता है
बादल चिड़ियों से उड़ते हैं।
यह हवा जिधर बह जाती है
ये पेड़ उधर ही मुड़ते हैं,
जग में दो दिन तो जीना है,
पर वह जीना भी झूम-झूम।⁷

'नेपाली' का प्रकृति-चित्रण जीवन सापेक्ष है। मनुष्य-जीवन का प्रकृति से पुरातन और प्रगाढ़ नाता है। मानव-जीवन प्रकृति से लिपटा हुआ है और उसे सँवारने समुन्नत-समृद्ध करने में प्रकृति का अमूल्य सहयोग है। कवि की स्वीकृति है-

रहता हूँ, मैं इस वसुधा में,
ढँक देती है तन को कपास
जल से, समीर से, पावक से,
यह जीवन पाता है हुलास,
देते हैं खिला-खिला मुख को
ये उपवन के गेंदे, गुलाब
पर हृदय हरा करने वाली
मेरे आँगन में हरी घास।⁸

'नेपाली' के काव्य में प्रकृति नारी-अंगों के सौंदर्य का केवल उपमान-कोश नहीं है। प्रकृति के विविध क्रिया-व्यापारों में नेपाली विभिन्न जीवन-स्थितियों की छवियाँ देखते हैं। बहुधा जीवनानुभूति को सीधी अभिव्यक्ति न देकर उसकी व्यंजना के लिए वे प्रकृति-चित्र खींच देते हैं। उनके द्वारा चित्रित प्रकृति इसलिए अधिक सुंदर है, क्योंकि वे वहाँ अपने अभिसिप्त जीवन की संभावना तलाशते हैं। ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं:

मिला देख उड़ते पंछी को
तरु में भी घरबार सखी
मिला रात में भी तारों को
यौवन का शृंगार सखी
मिला मोर को सघन मेघ में
छिपा हुआ दिलदार सखी
क्या न मिलेगा मुझको मेरा
चिर-वांछित संसार सखी
इसी-प्रतीक्षा में कटते हैं।
जीवन के दिन-चार सखी।⁹

प्रकृति 'नेपाली' के लिए जीवन-जगत के कठिन कर्म-संघर्ष से थके-ऊबे पलायनवादियों की शरण-स्थली नहीं है। उनकी दृष्टि में तो प्रकृति जीवन राग में प्रवृत्त करती है और विराग के फंदे काटती है। वे वृहत्तर-परिवार की जीवन-शैली की उन्मुक्ति, पारदर्शिता, गतिशीलता, सहकारिता और कार्य-निष्ठा से प्रभावित होकर मनुष्य-जीवन में उनका विन्यास देखना चाहते हैं। सितारों की दीप्ति, वृक्षों की दृढ़ता-विनयशीलता, सरिता-जल की निर्मलता-प्रवाहमयता और पक्षियों की गायन-प्रियता को जीवन से संबद्ध करना चाहते हैं। प्रकृति की सुंदर सुगंधित सरणियों में वे जग-जीवन की स्मृतियाँ सतत् सजाये चलते हैं। वे जीवन का गीत विहग-धुन में गाने के अभिलाषी हैं। वे लिखते हैं-

जीवन के इस नीले नभ में
हूँ तारो-सा सदा उदय
तरु के ऐसा रहूँ अटल
औ शीश नवाकर करूँ विनय
जीवन के गाने-गाने की
विहग जानता है जो लय
उस लय में मैं गाऊँ
यह मेरे जीवन का निश्चय।¹⁰

ऋतु-चित्र 'नेपाली' के प्रकृति-चित्रण की चारुता बढ़ा देते हैं। 'नेपाली' की कविता ऋतुओं से मनोहर गीत चुरा लेती है। वसंत और वर्षा उनकी अधिक प्रिय ऋतुएँ हैं। ये दोनों ऋतुएँ प्रकृति को विशेष रूप से सँवारती और समृद्ध करती हैं। पतझड़ प्रताड़ित प्रकृति को बसंत नए पत्तों पुष्प-फलों से श्री-शोभा संपन्न करता है, तो पावस ग्रीष्म से आकुल प्रकृति को सलिलसुधा-स्नान करा नई स्फूर्ति और मोहक छवि प्रदान करता है। वासंती परिवेश की एक झलक देखिए-

भौंरे गाते हैं प्रेम-गीत,
तितली करती है प्रेमनृत्य
जो बसी हमारी आँखों में
वह प्रीति रंग ला रही आज।
वन का निर्झर चंचल होकर
क्यारी-क्यारी कुछ खोज रहा।
अपना घूँघट-पट खोल प्रकृति
डालों से मुस्का रही आज।¹¹

पावस के शब्दांकन में 'नेपाली' अपनी संवेदना और कल्पना-दोनों की शक्ति का अहसास कराते हैं। वे बादल, बूँद, बिजली, बयार, इंद्रघनुष, वर्षा के सभी उपादानों का सौंदर्यांकन करते हैं। वर्षा-दृश्यों का अवलोकन वे सदन की ही नहीं, मन की भी खिड़की से करते हैं। वे सावन को घन में ही नहीं, मन में भी देखते हैं। इसीलिए सावन के तन की ही नहीं, मन की भी छवि आँकते हैं। वस्तुतः वे प्रकृति की बाह्य छवियों के साथ उसकी अंतर-छवियों को भी देखते हैं। उनके बादल मनुष्यों के स्वर सुनकर झटपट पर्वतों से उतरकर ग्राम-नगर की गलियों में मँडराने लगते हैं। मनुष्य जीवन से प्रकृति की पुरातन प्रीति को रेखांकित करते हुए कवि लिखते हैं-

दूर-दूर से आते हैं घन
लिपट शैल मे छा जाते है,
मानव की ध्वनि सुनकर पल में
गली-गली में मँडराते हैं,
जग से मधुर पुरातन परिचय,
श्याम घरों में घुस जाते हैं।¹²

‘पंचमी’ में संगृहीत ‘सावन’ शीर्षक कविता सावन पर लिखी गई आधुनिक हिन्दी कविता की संभवतः सर्वाधिक लंबी कविता है। जिसमें ‘नेपाली’ ने पावस के इस विशेष महीने को समग्रता में रूपायित किया है। इस वृष्टिमान माह का एक मनोरम दृश्य प्रस्तुत है—

वर्षा से भूधर भीग रहे
कानन के तरुवर भीग रहे
कंपित तरु-पातों के नीचे
पँछी के भी पर भीग रहे
नभ के नीलांबर भीग रहे
वन के पीतांबर भीग रहे
सावन की बूँदाबाँदी में
चातक के भी स्वर भीग रहें।¹³

‘नेपाली’ का प्रकृति से ऐसा जुड़ाव है कि वे अपने अंतःकरण में प्रकृति का गायन और प्रकृति-कंठ में अपना गायन सुनते हैं। कवि-कथन है—

मैं सरिता के कल-कल स्वर में
अपना ही गायन सुनता हूँ
नव वसंत बन में आता है
झुरमुट से पंछी गाता है
कोकिल का पंचम स्वर बनके
मन की कली खिल जाता है
मैं अपने झंकृत प्राणों में
कोकिल का कूजन सुनता हूँ।¹⁴

कविवर ‘नेपाली’ प्रकृति को तमाशबीन की तरह नहीं देखते। उसे वे ऐसी तन्मयता से देखते हैं कि तदाकार हो जाते हैं। प्रकृति-दर्शन, के क्रम में उनका दर्शन कई बार दृश्य में परिणत हो जाता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान माँगती हैं—

मैं वसंत हूँ कुंज-कुंज में
मेरा ही पीतांबर उड़ता
निर्झर की उद्दाम लहर में
मेरा यौवन फूट उमड़ता
मेरे पुलकित रोम-रोम से
तरु के पात हिले वन-वन में
डालो पर गा रहे विहग जो
वह मेरी ही अमर गान है।¹⁵

‘नेपाली’ के प्रकृति-चित्रण में पंत जैसी कलात्मकता और कल्पना की ऊँची उड़ान कम है, लेकिन अनुभूति की अतलता और तीव्रता अद्भुत है। प्रकृति की सुंदरता को वे जिस शिल्प में चित्रित करते हैं, उस शिल्प में भी प्रकृति जैसी प्रांजलता है। ‘नेपाली’ ने सहजता की कठिन साधना की है। उनकी बेर शीर्षक कविता की पंक्तियाँ महाकवि जयशंकर प्रसाद गुनगुनाया करते थे। ‘हरी घास’ शीर्षक कविता का प्रेमचंद पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कवि से बोल पड़े—“बरखुरदार क्या कविता पेट से ही सीखकर आए हो”

प्रकृति के सुकुमार कवि पंत को उनका कंठ निर्मल निर्झर के समान लगता था। वस्तुतः प्रकृति वीणा से संयुक्त तार थे ‘नेपाली’ उन्ही के शब्दों में—

प्रकृति है मुखरित वीणा एक
और मैं उस वीणा का तार
बजाता हूँ मैं अंतर्गीत
तीर पर खड़ा मुग्ध संसार।¹⁶

निष्कर्षतः नेपाली के प्रकृति-चित्रण का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रकृति के समग्र कवि हैं, संपूर्ण प्रकृति के कवि हैं, उनकी समस्त कविताओं का लगभग अर्द्धांश प्रकृति को ही समर्पित है। इतना ही नहीं, अपने पहले संग्रह से लेकर अंतिम कृति तक उन्होंने प्रकृति का चित्रण किया है। यह प्रमाण है कि प्रकृति के प्रति नेपाली का प्रेम किसी कलावधि या प्रवृत्ति के आग्रह के कारण नहीं है। वे नैसर्गिक रूप से प्रकृति के कवि हैं। आलंबन, उद्दीपन, मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण के साथ उन्होंने दार्शनिक भावना की अभिव्यक्ति और रहस्य-भावना की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया है। उनका प्रकृति चित्रण सहज होने के बावजूद विशिष्ट है, स्वभाविक होने के साथ सम्मोहक हैं। निश्चित रूप से वे आधुनिक हिंदी कविता में न केवल प्रकृति के प्रतिनिधि कवि हैं। बल्कि उसके अकेले सम्पूर्ण कवि भी हैं।

संदर्भ-सूची :

1. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 50.
2. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 72.
3. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 65.
4. चिंतामणि, रामचन्द्र शुक्ल, भाग-2, पृ० 44-45.
5. पंचमी, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 12.
6. हिमालय ने पुकारा, पृ० 38.
7. नीलिमा, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 41.
8. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 51.
9. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 30.
10. उमंग, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 20.
11. नीलिमा, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 25.
12. नीलिमा, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 28.
13. पंचमी, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 77-78.
14. पंचमी, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 35.
15. पंचमी, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 84.
16. पंचमी, गोपाल सिंह ‘नेपाली’, पृ० 28.

ज्यों—फ्रेंकोज ल्योटार्ड: उत्तरआधुनिकता: महान वृत्त की मृत्यु

डा० सतीश चन्द्र तिवारी

असि० प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, भवन्स मेहता महाविद्यालय, भरवारी कौशाम्बी—212201

ल्योटार्ड उत्तर आधुनिकतावाद के ध्वजवाहक है। इन्होंने दर्शन, भाषा और कला से अपने विचारों को सम्बद्ध करके महत्वपूर्ण कार्य किया है। ल्योटार्ड मार्क्सवादी होते हुए भी मार्क्स के वृत्तान्त के विरोधी है। ल्योटार्ड के अनुसार उत्तर—आधुनिकता वह है जो महान वृत्तान्तों को अस्वीकार करें। अर्थात् महान वृत्तान्त में अविश्वास ही उत्तर आधुनिकता है। ल्योटार्ड का दूसरा मुद्दा ज्ञान है। उनके अनुसार ज्ञान कभी सफल ज्ञान नहीं होता। ज्ञान हमेशा प्रतियोगी होता है। दूसरे ज्ञान से इसका संघर्ष होता है। इनके अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है विवरणात्मक ज्ञान (Narrative) और वैज्ञानिक (Scientific)। समस्त उत्तर आधुनिकतावादी लेखक किसी न किसी संदर्भ में ज्ञान की चर्चा अवश्य करते हैं। इनका तीसरा महत्वपूर्ण मुद्दा सूचना (Information) का है। सूचना का सम्बन्ध ज्ञान से है। वे कहते हैं उत्तर—आधुनिककाल में सूचना का पण्यीकरण या व्यापारीकरण होने लगा है। जिसके पास सूचना का जितना विशाल भण्डारण है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली है। ल्योटार्ड ने निम्न मुद्दों पर चर्चा की—1. उत्तर आधुनिकता की दशा 2. महान वृत्तान्त या सफलता का विरोध 3. सूचना और ज्ञान का व्यापारीकरण।

ल्योटार्ड ने अपनी पुस्तक 'पोस्ट मॉडर्न कन्डीशन' में समाज की दशाओं का वर्णन किया। ल्योटार्ड ने आधुनिकता की आलोचना करते हुए ज्ञानोदय युग के बाद समाज में जो तकनीकी और वैज्ञानिक परिवर्तन हुए उनकी चर्चा करते हैं। आज समाज में ज्ञान की जो स्थिति या दशाएं हैं वह ज्ञानोदय समय से जुड़ा है। इस अर्थ में दशा का तात्पर्य ज्ञान की दशा से है। ल्योटार्ड के अनुसार ज्ञानोदय के परिणाम स्वरूप आधुनिक समाज का आविर्भाव हुआ। इस आधुनिक समाज ने ज्ञान की मीसांसा विज्ञान के संदर्भ में की। यहां विज्ञान का अर्थ ऐसे ज्ञान से लिया गया जो वस्तुनिष्ठ और तटस्थ हो। आधुनिकता द्वारा परिभाषित यह तटस्थ और वस्तुनिष्ठ ज्ञान ल्योटार्ड स्वीकार नहीं करते हैं। ल्योटार्ड की रुचि इसमें है कि वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति किस प्रकार से अपने को नियमबद्ध करते हैं, अपनी विश्वसनीयता बनाते हैं, अपने को विश्वास पात्र बनाते हैं? ल्योटार्ड वैज्ञानिक विमर्श और वैज्ञानिक वृत्तान्त के बीच एक स्पष्ट विभाजन करते हैं।

ल्योटार्ड के अनुसार ज्ञान को जो अर्थ ज्ञानोदय के बाद के आधुनिक समाज ने निकाला है, वह वास्तव में दोषपूर्ण है। आज तो ज्ञान एकदम बदल गया है और महान वृत्तान्तों में जिस ज्ञान को प्रतिपादित किया गया है वह वैयक्तिक, राजनैतिक, नैतिक, मिथिक और धार्मिक है।

ज्ञानोदय का जो भी ज्ञान वृत्तान्तों में निहित है, वह किसी भी स्थिति में वास्तविक नहीं है।, इस ज्ञान में सार्वभौमिक वैध सिद्धान्त नहीं है और न ही ऐसी विधि है जो सम्पूर्ण समाज पर लागू की जा सके। यह वृत्तान्त स्थानीय है और इनका उद्देश्य कुछ लोगों के लाभ तक ही सीमित है। महान वृत्तान्तों की आलोचना के बाद उनका तर्क है कि केवल दर्शनशास्त्र ही एक ऐसा विमर्श है जो सही और वास्तविक विज्ञान की पहचान करा सकता है। दर्शन ही हमें सही गलत की पहचान करायेगा और ज्ञान क्या है? मानव विकास का सार और उसके अन्तिम बिन्दु भी बतायेगा।

ल्योटार्ड उत्तर आधुनिक समाज की स्थापना के लिए तर्क देते हैं कि मार्क्स ने एक समाजवादी समाज की स्थापना की थी। लेकिन कोई भी समाज बिना दबाव और अंकुश के एक सजातीय समाज नहीं बन सकता। ऐसी अवस्था में उत्तर आधुनिक समाज की कल्पना की जा सकती है। उत्तर आधुनिक समाज वैयक्तिक समाज है, विखण्डित समाज है और अब यही समाज चलेगा। आधुनिक और परम्परागत समाज वस्तुतः वृत्तान्तों का समाज है, मिथकों का समाज है, जादू का समाज है और समाज है लोक ज्ञान का। उत्तर आधुनिक समाज में जहां विखण्डन है, कला, नैतिकता और विज्ञान और सत्य, शिवं और सुन्दरम् एक दूसरे से पृथक हैं। ल्योटार्ड हेगल और मार्क्स की आलोचना करते हैं। ये उत्तर आधुनिक समाज का उदाहरण देते हैं वह समाज वृत्तान्तों का न होकर, स्थानीय वृत्तान्तों का समाज है। उत्तर आधुनिकतावादी विखण्डन पर जोर देते हैं, लेग्वेज गोम्स, समय का विखण्डन, मनुष्य का विखण्डन और स्वयं समाज का विखण्डन।

ल्योटार्ड वृत्तान्तों और विज्ञान के सम्बन्धों को लैग्वेज गोम्स (भाषाई खेल) के माध्यम से प्रस्तुत किया। समाज को एक बंधन में बाधने का कार्य भाषा के खेल द्वारा ही होता है। भाषा ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है वृत्तान्त और विज्ञान दोनों ही ज्ञान के स्वरूप हैं। वृत्तान्त में भी ज्ञान होता है और विज्ञान में भी। ल्योटार्ड अन्य उत्तर आधुनिकतावादियों की तरह वे स्थानीय वृत्तान्तों के समर्थन हैं। ल्योटार्ड महान वृत्तान्तों का एक दूसरा अर्थ भी लेते हैं। उनका यह अर्थ परम्पराओं में तीन महत्वपूर्ण तथ्य होते हैं—1. जानकारी (Know how) 2. बोलना किस तरह (knowing how to speak) 3. सुनना किस तरह (knowing how to hear)। इन तीनों द्वारा व्यक्ति अपने पर्यावरण समुदाय के साथ सम्बन्धों को स्थापित करना सीखता है। इन वृत्तान्तों में सत्य, न्याय और सौन्दर्य ताने बाने की तरह जुड़े होते हैं। व्यक्ति का वृत्तान्तों के सम्बन्ध भाषा के माध्यम से होता है। वृत्तान्त सम्पूर्ण समाज को एक छोर से दूसरे छोर तक जोड़ने का कार्य करता है। वृत्तान्तों के साथ अन्तःक्रिया होना भाषा का खेल है।

ल्योटार्ड आधुनिक समाज की आलोचना करते हैं समाज एकरूपता, सामूहिकता और सार्वभौमिकता का समाज है। अब इस समाज को छोड़कर उत्तर आधुनिक समाज की ओर पहुंच रहे हैं। यह समाज व्यक्तिकता, विखण्डता और अंतर का समाज है। इस समाज में सूचना और ज्ञान महत्वपूर्ण है। ल्योटार्ड कहते हैं कि तकनीकी में शक्ति होती है। यह उत्पादन करती है और इसलिए आज की शिक्षा पद्धति में इसे प्रमुख भूमिका प्रदान की जाती है। आज की शिक्षण

संस्थानों में जब तकनीकी की चर्चा होती है, तब इसकी उत्पादन दक्षता पर जोर दिया जाता है। अब दबाव आदर्शों की अपेक्षा कुशलता पर होता है। तकनीकी का ज्ञान तो एक प्रकार का सतत या निरन्तर ज्ञान है।

ज्ञान की उपयोगिता के विषय में ल्योटार्ड ने कहा कि ज्ञान लाभ कि लिए होता है। ज्ञान को उसकी उत्पादन क्षमता के साथ जोड़ा जाता है। ज्ञान का उद्देश्य केवल उत्पादन करना ही नहीं है अपितु उत्पादन के साथ-साथ विकास करना भी होता है। नई तकनीकी के विकास के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। डेटा बैंक आने वाले कल के विश्व कोश है।

ल्योटार्ड के अनुसार कम्प्यूटरीकृत ज्ञान आज के उत्तर आधुनिक समाज में उत्पादन की मुख्य शक्ति है। आज उत्तर आधुनिककाल में ज्ञान या सूचना उत्पादन के मुख्य कारण बन गये हैं। भविष्य में राष्ट्रों के लिए ज्ञान शक्ति का आधार बन जायेगा। अर्थात् जिस राज्य के पास जितना ज्ञान है यानी कम्प्यूटरीकृत ज्ञान है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। जब इस पर राष्ट्र-राज्यों का अधिकार हो जाता है तब राज्य ही ज्ञान यानी सूचना को बेचना प्रारम्भ कर देते हैं। ज्ञान पर पूँजी का निवेश होने लगता है और परिणामस्वरूप सूचना का एक नया ही बाजार बन जाता है। बहुराष्ट्रीय कोरपोरेशन अपनी पूँजी का निवेश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में करने लगते हैं। इस निवेश के कारण पूरी दुनिया में सूचना क्रांति आ जाती है। पूँजी, सूचना, राष्ट्र-राज्य और बहुराष्ट्रीय कोरपोरेशनसूचना की खरीद-फरोक्त करने लगते हैं और पूँजीवादी का बाजार गर्म हो जाता है।

ल्योटार्ड उत्तर आधुनिक समाज में सूचना अथवा ज्ञान पूँजी की तरह है। उत्तर आधुनिक युग में ज्ञान और सूचना बाजार में बिक्री के लिये आ गये हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. सार्त्र, ज्यां पाल: अस्तित्वाद और मानववाद (अनुवादक ज्वरीमल्ल पारख) प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
2. पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद-फिनोमेनोलॉजी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ आकादमी, जयपुर।
3. पाण्डेय, रवि प्रकाश-वैश्वीकरण एवं समाज 2005 शेखर प्रकाशन।
4. वी०के० लाल-समकालीन पाश्चात्य दर्शन।
5. Key Contemporary Thinkers, Biography of Thinkers.
6. Charles Lemert, Social Theory, West View Press, 1993.
7. पाण्डेय, रवि प्रकाश-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अभिगम एवं परिपेक्ष्य।

हिन्दी में स्त्री-लेखन : दशा और दिशा

डॉ० नृपेन्द्र नारायण सिंह

प्रवक्ता- माँ गुजराती पी०जी० कॉलेज, बक्शा, जौनपुर

हिन्दी में स्त्री-लेखन की क्या स्थिति, दशा और दिशा है तथा स्त्री लेखन की क्या विशिष्टताएँ, विलक्षणताएँ एवं अन्तर्विरोध है, इस विषय पर चर्चा करना बेहद जरूरी है। कुछेक आलोचकों एवं लेखकों को स्त्री-लेखन की स्थिति पर घनघोर असंतुष्टि है तो कुछेक आलोचक लेखिकाएँ पूरी तरह से संतुष्ट न होकर भी इसके भविष्य, दिशा को लेकर आस्थायान हैं। बहुत से आलोचकों को तो स्त्री लेखन 'गुड्डे-गुड्डियों का खेल' ही प्रतीत होता है। सवाल तो यह है कि स्त्री लेखिकाएँ, क्या अपने अनुभवों, यथार्थ, द्वंद्वों, संघर्षों को पूरे साहस से व्यक्त कर सकी हैं? क्या उनका लेखन पितृसत्तात्मक नारी विरोधी, नियमों, कानूनों की धज्जियाँ उड़ा सका है? क्या उनके पास एक स्त्री होते हुए स्त्री दृष्टि है? क्या वे अब भी 'पुरुष की मानक दृष्टि' से देख व लिख रही हैं? क्या वे उस पितृक भाषाई मुहावरे को ध्वस्त कर अपनी नई भाषा गढ़ सकी हैं? स्त्री लेखिकाओं के समक्ष क्या-क्या चुनौतियाँ हैं? पिछले चार-पाँच दशकों से स्त्री लेखन की जो परंपरा रही है; उसमें अब तक क्या-क्या गुणात्मक बदलाव आये हैं? वे बदलाव कौन से हैं, कैसे हैं? चित्रा मुद्गल का तो यहाँ तक स्वीकारना है कि, 'लेखन-लेखन होता है नर-मादा नहीं।' उनका यह स्वीकारना कितना सही है कितना नहीं, इसकी पड़ताल तो आगे की जायेगी, लेकिन स्त्री-लेखन ने निश्चित रूप से कुछ ऐसे तीखे, ज्वलंत, अन्तर्विरोधों, विरोधाभासों, प्रश्नों को सामने रखा है, जिससे स्त्री-लेखन की एक अलग पहचान बननी शुरू हुई है। कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, मृदुला गर्ग, महाश्वेता देवी, चित्रा मुद्गल, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, प्रभा खेतान की रचनाओं में स्त्री की एक अलग पहचान सामने आई है। यह बदलाव इसी दशक में सर्वाधिक आया है, क्योंकि इनके लेखन में स्त्री के अधिकारों के प्रति, सजगता, आक्रामकता, तीखापन तथा पितृक समाज की कड़ी आलोचना हुई है। इस प्रकार के तेवर पिछले दशकों के स्त्री-लेखन में कमजोर थे तो क्यों?

इसमें सन्देह नहीं है कि हमारे यहाँ दो तरह का स्त्री-लेखन होता रहा है। पहली तरह के लेखन में स्त्री की परम्परागत छवि ही उभरी थी तथा उनके पास स्त्री होते हुए भी स्त्री-दृष्टि का अभाव था। यथार्थ की पकड़ ढीली थी, इसीलिए उनके लेखन में पितृसत्तात्मक नियमों की पहचान कमजोर दुलमुल थी। अन्तर्विरोधों पर चोट भी आक्रामक नहीं थी। ऐसे लेखन को 'सूडो किस्म'¹ का माना गया। वहाँ यथार्थ की सतही तस्वीर ही बन पाती थी। उनके लेखन में मानवीय सम्बन्धों का निरूपण तो था, लेकिन उनके पीछे जो राजनीतिक दृष्टि विचारधारा, पितृसत्तात्मक नैतिक मूल्य काम कर रहे हैं, उन पर विचार नहीं होता था। हालांकि स्त्रीत्ववादी लेखिकाओं का यह दृढ़ विश्वास, विचार रहा है कि कोई भी साहित्यिक कृति इस पितृसत्तात्मक नैतिकताओं, मूल्यों, धर्म, कानून, परिवार से मुक्त निरपेक्ष, तटस्थ नहीं होती। उनमें निहित मानवीय सम्बन्धों में पितृसत्तात्मक सामाजिक मर्यादाएँ ही काम करती हैं। यहीं से स्त्री-लेखन का एक नया खँचा तैयार हो जाता है। इसे तैयार करने में भी पितृसत्तात्मक नैतिकता का ही हाथ है, जो कि

पूर्णतया स्त्री-विरोधी हैं। पिछले चार दशकों से स्त्री-लेखन जिस विकास-यात्रा को तय करता हुआ, विभिन्न पड़ावों, परिवर्तनों से गुजरता हुआ आज जहाँ पहुँचा है तथा आगे भविष्य में इसकी क्या दशा-दिशा होगी इसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के बिना क्या समझा जा सकता है?

क्या नब्बे के दौर का स्त्री-लेखन, अस्सी, सतहत्तर या साठ के दौर के स्त्री-लेखन से भिन्न नहीं है? यदि वह भिन्न है तो उसके पीछे क्या ठोस इतिहास-बोध नहीं जो ऐतिहासिक, परिप्रेक्ष्य के बिना अपूर्ण है? आजादी के पहले का लेखन सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा (शृंखला की कड़ियाँ), आजादी के बाद का लेखन और आधुनिक लेखन किस गुणात्मक चेतना को लक्षित करता है? क्या हमें महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, कृष्णा सोबती के साहित्य से स्त्री की एक भिन्न छवि उभर कर सामने नहीं आती? महादेवी वर्मा ने चौथे दशक में 'शृंखला की कड़ियाँ' भारतीय नारी की समस्या का विवेचन करने वाली पुस्तक लिखकर सिद्ध कर दिया कि वे नारी के संतप्त और अभिशप्त जीवन के प्रति कितना चिन्तित, ईमानदार और प्रतिबद्ध थीं। क्या आज किसी लेखिका ने महादेवीके उस काम को आगे बढ़ाया है? महादेवी वर्मा इतनी संवेदनशील कवयित्री हों या नहीं लेकिन उनका गद्य साहित्य जो इतना अनुभूतिपूर्ण, सशक्त, क्रान्तिकारी है, उसकी उपलब्धियों पर विचार नहीं किया गया। उन्हें रहस्यवादी कहकर उनके लेखन की इतिहास दृष्टि, सामाजिक चेतना की घनघोर उपेक्षा ही की गई। गगन गिल ने इस सच्चाई को सामने रखते हुए तर्क दिया है कि "आजादी से पहले और आज महिला लेखन के तेवर में निश्चित ही बड़ा फर्क आया है। आजादी से पहले की सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा हर सामाजिक रचनात्मक आन्दोलन में बराबरी के स्तर पर शामिल रहीं। अपने समय के सभी जोखिम उठाए, अपने समकालीन रचनाकारों के प्रति उनका सौहार्द, जिसका विवरण हम उनके भावपूर्ण संस्मरणों में पढ़ते हैं, एक स्वस्थ परम्परा से ही संभव हो सका। जो दुर्भाग्य से आज नहीं है। आज हम दो-मुँहे मानदण्डों वाले समाज में रहते हैं। चिड़ियों के साथ तो चिड़िया उड़ सकती है लेकिन चीड़ीमारों के साथ!"²

यह भी एक विचित्र विडम्बना है कि हमारे पितृक समाज के मानदण्ड दोहरे हैं। पितृक समाजों में स्त्री लेखन की अपनी चुनौतियाँ होती हैं। क्या कारण है कि स्त्रियाँ आत्मकथा, संस्मरण नहीं लिखती? अधिकतर स्त्री-लेखन में वह स्त्री दृष्टि नहीं है जो आज के समय की सबसे बड़ी जरूरत है। "दुर्भाग्यपूर्ण यह भी है कि हमारे यहाँ महिला लेखकों ने स्वयं भी कोई बड़े जोखिम नहीं उठाये, न बीहड़ यात्राएँ की, न अनजाने अनुभवों के समक्ष प्रस्तुत हुईं, न अपनी विशाल साहित्यिक सम्पदा का ही ठीक से अध्ययन किया। क्या कारण है कि आजादी के बाद हमारे यहाँ एक भी महिला या पुरुष महाश्वेता देवी जैसा नहीं हुआ जो आदिवासियों की कथा लिख सके? इरावती कर्बे जैसी विदुषी नहीं हुई जो एक नया पौराणिक, ऐतिहासिक चिन्तन दे सके? हमारी अधिकांश महिलाएँ 'काउच लेखन' करती रहीं?"³

प्रायः यह कहा जाता है कि स्त्री-लेखन में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, परिवार के बिखराव की ही अभिव्यक्ति होती है; वह भी अत्यन्त सीमित और सतही रूप में ही। क्या यह सच नहीं है कि परिवार और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध भी हमारे जीवन का एक यथार्थ है? प्रश्न यह नहीं है कि स्त्री-लेखन घर, परिवार, बच्चे, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सीमित दायरों में बँटा हुआ है। बल्कि प्रश्न यह है कि घर, परिवार, बच्चे, स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का निरूपण वहाँ किस रूप में हो रहा है? उसके पीछे स्त्री-दृष्टि क्या काम कर रही है? वह घर, परिवार, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के पीछे सदियों से काम कर रही पितृक अनुशासिकी, तानाशाही, अनुशासन को किस प्रकार समझ देख

और दिखा रही है? परिवार का स्त्री के लिए अपना ही तानाशाही अनुशासन है, पितृक व्यवस्था है। नियम और कानून है जिसने स्त्रियों को बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। यदि स्त्री-लेखन में ऐसा संघर्ष है तो वह स्त्री लेखन की ताकत है; सीमित दायरा नहीं। यही उसका अपना यथार्थ है जो किसी पुरुष, पितृक व्यवस्था का यथार्थ नहीं हो सकता। हाँ, पितृक व्यवस्था के लिए यह खतरनाक होने की वजह से 'सीमित सतही यथार्थ' अवश्य हो सकता है। वह एक स्त्री का यथार्थ है। स्त्री का यथार्थ भर न होकर, आधी दुनिया की मुक्ति, पीड़ा का प्रश्न है। यह दुनिया जो बाहर से जो दिखाई दे रही है, 'आइसबर्ग' के समान तीन छिपा हुआ हिस्सा ही हमारा वास्तविक समाज है जो बाहर से दिखाई नहीं पड़ता। वह 'वंडरवर्ल्ड' है। वहाँ तक पहुँचना ही लेखन की असली बीहड़ यात्रा है। पाठकों को उसका अनुभव कराना ही रचना का धर्म है।

महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' लिखकर उन गुलामी की असंख्य जंजीरों को तोड़ने का जोखिम उठाया था, लेकिन दुर्भाग्यवश उनके लेखन का स्त्री लेखिकाओं ने कोई लभ नहीं उठाया। अन्यथा अब तक स्त्री-लेखन और स्त्री-जीवन न होती। जिसको देखकर आज स्त्री लेखिकाएँ स्वयं चिन्तित हैं। ऐसा क्यों हुआ? "इसका मुख्य कारण है कि स्त्री का दमन, उत्पीड़न करने वाली दमनकारी, उत्पीड़न करने वाली ताकतों के विरुद्ध स्त्री लेखन ने संघर्ष नहीं किया तथा एक तरह का असंतुलित किस्म का ही लेखन सामने आता रहा जिसमें या तो दयनीयता थी या असाधारण विद्रोह।"⁴ स्त्री-लेखन से जिस प्रकार की अपेक्षाएँ थीं, जिस प्रकार के नैतिक विवेक, साहस और सच्चाई की जरूरत थी, उसका सर्वथा अभाव रहा। उनका कहना सही है, "समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकारों के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीयता है तो कहीं असाधारण विद्रोह है, परन्तु संतुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।"⁵

भारतीय नारी प्रभुता की इच्छुक नहीं है, बल्कि वह तो अपना खोया हुआ स्वत्व, अस्तित्व चाहती है जिसके बिना समूचे समाज का विकास ही सम्भव नहीं है। यदि आधी दुनिया पराधीनता की जंजीरों में जकड़ी हो, उसका अपना स्वत्व तक न हो तो वह क्या पूर्ण सभ्य सुसंस्कृत समाज होगा? इस प्रकार की चेतना जगाने, फैलाने वाला साहित्य कितना रचा गया? स्त्री-लेखन का अर्थ है, वह साहित्य जिसमें स्त्री की दशा-दुर्दशा, दुर्भाग्य, अवमूल्यन का ही चित्रण न हो बल्कि उससे बाहर निकलने का भी दिशा-निर्देश हो कि वह इस गफलत से कैसे मुक्त होगी? वह समाज के उन तमाम अभद्र, अनैतिक नियमों के खिलाफ हो जो स्त्री को अवमूल्यित करते हैं। उसे अस्तित्वहीन बनाते हैं, जड़ वस्तु की तरह। स्त्री के अधिकारों के प्रति शिक्षा का प्रसार ही स्त्री में चेतना ला सकता है, क्योंकि आज की तथाकथित शिक्षा ही उसे उस स्तर पर जागरूक नहीं कर सकी है जिसकी अपेक्षाएँ थीं। यह हमारी शिक्षा पद्धति, शिक्षा की ही विकृतियाँ हैं जो लड़कियों को चेतनशील जागरूक नहीं बना सकीं। केवल डिग्री प्राप्त करने से ही कोई शिक्षित नहीं हो जाता। यह तो शिक्षा और शिक्षक की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार की किस उद्देश्य से शिक्षा दे रहा है। वह उसकी चेतना का कितना विकास कर रही है। जब तक स्त्री-लेखन अन्याय, अत्याचारों के विरुद्ध नहीं लिखा जाता, उसका प्रतिरोध नहीं करता, स्त्री की सुरक्षा के लिए संघर्ष नहीं करता तब तक वह यथास्थितिवादी का ही पक्षधर रहेगा। आजादी के बाद जिस प्रकार का स्त्री-लेखन सामने आया, उसने स्त्री की पारम्परिक छवि को ही गढ़ा। वह स्त्री-पुरुष के टूटते और बनते-बिगड़ते प्रेम-सम्बन्धों, यौन-सम्बन्धों तक ही सीमित रहा। महिला-लेखन से महिलाओं को पूर्ण रूप से 'फीडबैक' मिलता है। नारी लेखन नारी मन की ही

अभिव्यक्ति है। नारी ने नारी की गूंगी पीड़ा को लिखा, उजागर किया उसके मौन को शब्द दिए। पुरुष लेखक के लिए नारी रूमानी ख्याल, यादों की मूरत थी, बेशक नारी के लेखन ने पुरुष लेखकों के हाथ उसकी सुंदर बेजुबान 'गुड़िया' छीन ली है और रोती, चीखती, बिलखती, कलपती नारी को सामने ला खड़ा किया है कि नारी मौन को शब्द नारी ही दे सकती है। उसके दुःख को औरत ही समझ सकती है। वह ही पहचान सकती है औरत के शरीर पर अंकित घाव के निशानों को। पुरुष के लिए अब तक क्या थी? 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो।' रमणी, प्रेयसी, देह रूमानी ख्याल, यादों की सुंदरी। लेकिन स्त्री ने ही स्त्री देह पर अंकित खूनी घावों के निशानों को दिखाया है कि किस प्रकार वह उत्पीड़ित उपेक्षित है। विचित्र विरोधाभास तो यह है कि समृद्ध घरानों की अभिजात्य संस्कारों की लेखिकाएँ स्वयं को दलित कहलवाने में लज्जा अपमान महसूस करती हैं। दलित की स्थिति में होने के बावजूद भी उनमें दलित होने का अहसास शायद इसीलिए नहीं है कि वे कार से, वातानुकूलित घरों में नौकर-नौकरानियों से सुसज्जित हैं। इसलिए उन्हें भ्रम है कि उन्हें दलितों की श्रेणी में क्यों रखा गया है। शायद यही कारण है कि स्त्री-लेखन के बहुत से सवालियों को लेकर उनमें भ्रम और अन्तर्विरोध है। दृष्टि धुंधली है इसीलिए उनके लेखन में अन्तर्विरोध मौजूद है और वे तब तक दूर नहीं होते जब तक जीवन के प्रति जीवन-दृष्टि में अन्तर्विरोध है। लेखन और जीवन दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। जीवन के गहरे संघर्षों में से गुजरकर ही लेखक का लेखन और उसकी जीवन-दृष्टि विशाल, परिपक्व बनती है। उसमें प्रखरता, जीवंतता एवं मानवीयता आती है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि स्त्री-लेखन यदि स्त्री समाज को सही 'फीड बैक' कर रहा है, उनकी चेतना के विकास में सहायक सिद्ध हो रहा है तथा उसमें स्त्री, स्वत्व के प्रति जागरूकता बढ़ रही है, तो इसे शुभ लक्षण ही माना जाये। आज तक पुरुष-लेखन ने क्या स्त्री को 'फीड बैक' दी? यदि दी भी तो वह कैसी 'फीड बैक' थी। यथास्थिति में जीने मरने की या उसे तोड़कर बाहर आने की? ऐसा लेखन ही स्त्री समाज के लिए सही 'फीड बैक' का काम कर सकता है और बखूबी कर भी रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पाठिकाओं की प्रतिक्रियाएँ इसका साक्षात् प्रमाण है कि स्त्रियों की चेतना में बहुत तेजी से अपने अधिकारों, स्वत्व, अस्तित्व, अस्मिता के बारे में जागरूकता बड़ी है। उसकी सोच में परिवर्तन आने लगा है। वे अब यथास्थिति में नहीं जीना चाहतीं। उनके भीतर प्रश्न, जिज्ञासाएँ, आकांक्षाएँ, प्रतिक्रियाएँ जागने लगी हैं। क्या यह काम साहित्य ने नहीं किया? मीडिया की भी अपनी भूमिका है, लेकिन वह स्त्री-संघर्ष को तोड़-मरोड़ कर पेश कर रहा है, जिससे काफी नुकसान भी हुआ है। उपभोक्तावाद का शिकंजा स्त्री को जकड़ रहा है। अभी तक एक लड़ाई इसके खिलाफ भी लड़ी जानी शेष है। जैसे-जैसे स्त्री-लेखन रचनात्मक स्तर पर और आलोचनात्मक स्तर पर स्त्रियों के लिए जबर्दस्त 'फीड बैक' चेतना जगाने का काम करेगा उसी प्रक्रिया में स्त्री की दासता से मुक्ति होगी। उसकी बनी बनायी मानसिकता, संस्कारों से मुक्ति होगी। वह अपनी सुरक्षा, अपने अस्तित्व, स्वत्व के बारे में स्वयं सोचना शुरू करेगी। तब शायद वह उन गुलामी की जंजीरों को तोड़ सकेगी, स्वतंत्र ढंग से सोच सकेगी, जी सकेगी। आज वह जीकर भी मर रही है। साहित्य कोई सशस्त्र क्रान्ति नहीं कराता; अपितु मनुष्य को स्वतंत्र ढंग से जीने, संघर्ष करने की, आगे बढ़ने की, समस्याको समझने व उससे निपटने की शक्ति देता है। एक नई दृष्टि प्रदान करता है। यदि आज स्त्री लेखन, स्त्री विमर्श, स्त्री समाज को 'फीड बैक' दे सके तो इससे महत्वपूर्ण भूमिका ओर क्या हो सकती हैं?

कृष्णा सोबती का लेखन हो अथवा महाश्वेता देवी का, मन्नू भण्डारी का लेखन हो अथवा चित्रा मुद्गल का, उषा प्रियंवदा का लेखन हो या ममता कालिया का। उसमें स्त्री-मुक्ति के लिए

जो 'फीड बैक' आ रही है, वही स्त्री-समाज की चेतना का विकास कर सकेगी। अभी इस दिशा में एक लंबी बीहड़ संघर्ष-यात्रा तय करनी है। यही स्त्री लेखिकाओं की सबसे बड़ी भूमिका है कि वे तीसरी दुनिया की शोषित, पीड़ित, दलित स्त्रियों की मुक्ति के लिए लिखें, सोचें। तभी उनका लेखन पुरुष-लेखन से दो कदम आगे का लेखन सिद्ध होगा। जिन स्त्री लेखिकाओं की कृतियों में इस प्रकार के स्त्री-मुक्ति संघर्ष से सम्बन्धित प्रश्न उठने लगे हैं, उनका कृतित्व किसी भी स्तर पर पुरुष लेखन की तुलना में दोगुना दर्जे का न होकर उनसे दो कदम आगे का ही है। क्या कृष्णा सोबती का 'डार से बिछुड़ी', 'जिंदगीनामा', 'मित्रो मरजानी', 'ए लड़की' या मन्नू भण्डारी का 'महाभोज', चित्रा मुद्गल, महाश्वेता देवी, ममता कालिया का 'बेघर', नरकदर नरक', 'एक पत्नी के नोट्स' का स्त्रीत्ववादी-लेखन स्त्री के दुःख-दर्द, उसमें अभिशाप और संताप, द्वंद्वों और तनावों, उसकी गूंगी पीड़ा के मौन को वाणी न दे सका। पुरुष लेखकों के लिए स्त्री-प्रयत्नी, रमणी, कल्पना लोक की अद्भुत सुन्दरी नायिका, अभिसारिका ही रही है। उसे 'देवी', 'श्रद्धा' बनाकर प्रस्तुत किया गया, लेकिन मानवीय गरिमा प्रतिष्ठा से वह वंचित ही रही। स्त्री-लेखिकाओं के लेखन के केन्द्र में स्त्री की भयावह समस्याएँ हैं, पितृसत्तात्मक मर्यादाओं की तीखी आलोचना है, जिसने स्त्री-समाज का खुला दमन किया है। वे उन अभद्र नियमों के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं जो स्त्री को उपनिवेश बनाते हैं। वह 'फार्मूलाबद्ध' लेखन नहीं है और न ही स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों तक सीमित। क्या मन्नू भण्डारी का स्त्री-लेखन भी फार्मूलाबद्ध सीमित एवं सतही है? क्या उसमें 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' की समीक्षा नहीं है? क्या कृष्णा सोबती का लेखन कम महत्वपूर्ण है? क्या ममता कालिया के लेखन में स्त्रीत्ववादी तेवर और उसका पैनापन कम महत्वपूर्ण है? कहना न होगा कि पिछले कुछेक वर्षों में जिस तरह का लेखन स्त्री लेखिकाओं की कलम से निकला है, वह इतना सशक्त, क्रान्तिधर्मी-चेतना-सम्पन्न 'फीडबैक' वाला है, जिससे स्त्री-समाज की चेतना निश्चित रूप से विकसित होगी। वह स्त्री के हितों की सुरक्षा करने वाला, उन्हें, साहस, आत्मशक्ति, विवेक, विश्वशांति, विश्वचेतना प्रदान करने वाला सिद्ध होगा।

हिन्दी साहित्य में स्त्री-लेखन की जिस परम्परा की शुरुआत हुई है, वह वर्तमान समय में अपने उत्कृष्ट रूप में उभरकर सामने आया है। समकालीन परिस्थितियों और लेखन की माँग को देखते हुए अनेक स्त्री लेखिकाएँ अपने तीखे और जुझारू लेखन के द्वारा स्त्री लेखन के दरवाजे पर दस्तक दे रही हैं। इन स्त्री लेखिकाओं ने अपने-अपने जीवनानुभवों को आधार बनाकर ऐसी अनेक कृतियों, साहित्य समाज को प्रदान की है जिससे यह जानकर आत्मतोष होता है कि हिन्दी साहित्य में स्त्री-लेखन की दशा एवं दिशा दोनों ऊँचाइयों की तरफ जा रही हैं। कृष्णा सोबती से लेकर चित्रा मुद्गल और ममता कालिया का लेखन इस बात का साक्षात् प्रमाण है।

संदर्भ :

1. कुसुमअसल, साहित्य वार्षिकी, इंडिया टुडे 1996, पृ0 99
2. गगनगिल, वही, पृ0 20
3. वही
4. शृंखला की कड़ियाँ- महादेवी वर्मा, अपनी बात, भूमिका से
5. वही

भारत में पुनर्जागरण और ज्योतिबा फुले

अवधेश कुमार

पूर्व शोधार्थी, इतिहास, सासाराम, रोहतास, बिहार

पुनर्जागरण यानी फिर से जागना, Renaissance, फिर से जन्म लेना, फिर से जगाना। इसका मतलब यह है कि जो व्यवस्था है उसमें खामियाँ हैं या जड़ता है या अन्धकार से भरा पड़ा है जिसे दूर करना है। सामाजिक सन्दर्भ में समाज दिशाहीन—गतिहीन हो गया है, जिससे इसमें तमाम ग्रसित लोग निजात पाना चाहते हैं। इन सभी परिस्थितियों से ऊबकर कोई—न—कोई समाज की तमाम कठिनाइयों का अध्ययन करता है और उसका उपाय भी बताता है। इन्हीं एक परिस्थितियों में भारत में भी उन तमाम दबे—कुचले हुए शूद्राति शूद्रों को प्रकाशित करने का काम पूरे भारतीय परिवेश में 19वीं सदी के इतिहास में एक मात्र महात्मा अवतरित हुए जो सचमुच ज्योति के समान थे जिनका नाम था ज्योतिबा फुले।

पुनर्जागरण के कई कारण हैं, जो वर्तमान परिवेश में इसे रहस्योद्घाटित एवं प्रकाशित करने का काम किया। विज्ञान के आविष्कार ने तो इसे और भी आसान कर दिया। सभ्यता और संस्कृति के आदान—प्रदान ने पूरे विश्व में पुनर्जागरण का काम किया।

19वीं शताब्दी में जो पुनर्जागरण का काम हुआ उसका लम्बा इतिहास रहा है। सिन्धु घाटी, हड़प्पा सभ्यता के पतन के बाद भारतीय समाज में विकृतियाँ आयीं। ब्राह्मणवाद ने सारे सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त कर वर्णव्यवस्था को बनाया जिसमें जाति ही अहम् हो गया। ऊँच—नीच का भय बढ़ने लगा। इसी समय भारत में दो महान पुरुष जो भारत ही नहीं पूरे विश्व को संदेश देने का काम किये उसमें महावीर जैन का आगमन पहले होता है। वे तमाम सामाजिक बुराइयों को ध्वस्त कर समाज को एक रूप में पिरोना चाहते थे। वे सत् और अहिंसा के मार्ग को अपनाकर एकसूत्र में बांधना चाहा, परन्तु पूरा भारत एक नहीं हो सका। कुछ वर्षों बाद इसी भारत की धरती पर तथागत बुद्ध आये। वे वर्तमान की सामाजिक व्यवस्था से काफी असंतुष्ट थे इसीलिए उन्होंने धम्म बनाया जिसका एक संघ भी था। तथागत बुद्ध के पहले धम्म कहीं था ही नहीं, पंथ था। तथागत बुद्ध ने अपने ज्ञानरूपी प्रकाश से पूरे भारत को ही नहीं विश्व को प्रकाशित किये तभी तो सम्राट अशोक ने इससे प्रभावित होकर अपना हृदय परिवर्तन कर लिये और बौद्ध धम्म ग्रहण कर पूरे विश्व में इसके प्रचार—प्रसार के लिए अपने पुत्र एवं पुत्री को भी भेजे। उस समय समाज की दशा बिलकुल समतापरक मानववादी बन चुका था, परन्तु ब्राह्मणों ने अपनी फिर धूर्तता का परिचय दिया और बृहद्रथ को हत्या कर एक ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने शुंग वंश की नींव डाली जहाँ ब्राह्मणकाल का आरंभ होता है जिन्होंने अपनी संकीर्ण प्रभुत्व ब्राह्मणवादी विचारधारा को स्थापित करने हेतु तमाम तरह के तिकड़म युक्त ग्रंथों की रचनाएँ प्रारंभ करवायी तथा समाज में फिर से भेदभाव आरंभ कर दिया। उसके बाद से उन्नीसवीं सदी

तक यह सिलसिला चलता रहा। स्पष्टतः समाज में एक अनुत्पादित वर्गों का उदय हो चुका था जो ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ही अनुत्पादी वर्ग था।¹

मौर्यकाल के पतन के बाद भारतीय इतिहास का अंधकार युग आरंभ हुआ जो 19वीं शताब्दी तक चलता रहा तथा 19वीं सदी से पहले भारत में बहुत से महात्मा आये और गये परन्तु अछूत-अछूत ही रहे। उनकी दशा और दिशा भी ज्यों का त्यों बना रहा। समकालीन भारतीय समाज छुआछूत, ऊँच-नीच, जाति-पाँति अपने चरमोत्कर्ष पर था जिसे तथाकथित उच्च वर्गीय सत्तावादी ब्राह्मण व क्षत्रिय परस्पर मिलकर ब्राह्मणवादी विचारधारा को प्रतिस्थापित करने वाली महत्वपूर्ण ग्रंथों एवं स्मृतियों के नियमों व कानूनों को बड़ी ही सख्ती एवं निर्दयतापूर्वक समाज में अधिरोपित एवं संरक्षित करते थे, जिनके प्रावधानों में तथाकथित निम्नवर्गीय तथा अछूतों को अमानवीय एवं पतित कृत्यों को करने के लिए बाध्य किया जाता था। उन्हें इन सभी ग्रंथों, स्मृतियों तथा खेखले कर्मकाण्डों के तहत एक पशु से भी अमान्य बंदी जीवन एवं रश्मों-रिवाजों को मारने, संरक्षित करने के लिए प्रताड़ित किया था। जैसे तथाकथित निम्नवर्गीय लोगों तथा अछूतों के लिए अलग-अलग बस्ती का होना, वे गाँव के मुख्य मार्ग से होकर नहीं गुजर सकते थे बीमारी व अन्य कारणों से भरे हुए जानवरों की मांस खाने के लिए विवश किया जाना, वे दिन में कभी घर से बाहर नहीं निकल सकते उनकी उपस्थिति से वातावरण की आबोहवा दूषित हो जाती थी और कभी घर से बाहर निकलते भी तो उनके कमर में झाड़ू तथा गर्दन में मिट्टी का पात्र लटका होता जो क्रमशः उनकी अपवित्र पैरों की निशान को मिटाता तथा उनकी चूक से सड़क व जमीन कहीं गन्दी व अपवित्र न हो जाये इत्यादि इस तरह की जाने कितने कलंकित नियमों व कानूनों का प्रावधसान इन स्मृति ग्रंथों व ब्राह्मण धर्मग्रंथों में संग्रहित है जिन्हें समकालीन समाज की जड़ों में जड़ीभूत कर दिया गया जो 19वीं सदी एवं इसके बाद तक भारतीय समाज को उत्कंठित, प्रताड़ित व कलंकित करती रही।

तथागत गौतम बुद्ध के पश्चात् ज्योतिबा ने सामाजिक चेतना और सत्यमार्ग का पथ उन लोगों को दिखाया, जिनके प्रगति के मार्ग अवरुद्ध कर दिए गए थे और जिनकी ज्योति बुझा दी गई थी। उन्होंने मानसिक रूप से मंद और आर्थिक रूप से पंगु बनाए गए समाज में क्रांति का बीज बोया।² जिस समय मार्क्स ने कहा कि अब तक दार्शनिकों ने केवल विश्व की व्याख्याएँ दी हैं : परन्तु अहम् मुद्दा दुनिया को बदलने का है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवादी दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनके सहारे मार्क्स ने समाज को समझने का वैज्ञानिक आधार खोजने का दावा किया।³ जैसे ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर कार्ल मार्क्स ने यह दर्शाने का प्रयास किया कि सारा इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। पश्चिम की बेहतर आबोहवा पूर्ण साक्षरता, भ्रष्टाचार का अभाव परिश्रमी और आत्मनिर्भर होने की आम प्रवृत्ति पुनर्जागरण, वैज्ञानिक क्रांति प्रबोधन इत्यादि⁴ ने फुले को झकझोर दिया कि भारत में भी यह संभव है अछूतों को गुलामी से मुक्ति दिलाई जा सकती है। फुले ने जार्ज वाशिंगटन, लूथर और शिवाजी का अध्ययन किया तब जाकर ज्योतिबा फुले ने समाज में व्याप्त अंधविश्वास, धार्मिक रूढ़िवादिता, पुरोहितवाद, संकीर्ण विचारों, अस्पृश्यता आदि को दूर करने के लिए सामाजिक क्रांति का बिगुल बजाया। ज्योतिबा फुले स्वयं इन घटनाओं से गुजर चुके थे तभी तो उनका अनुभव शोधजन्य अनुभाव था। एक बार

कबीर ने भी कहा कि 'सब कहन पोथी पढ़ हम कहे आखन देखी।' ज्योतिबा फुले स्वयं भी इसके शिकार बने थे। तभी तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सबकी जड़ में ब्राह्मणवाद द्वारा स्थापित तिकड़म जाल षडयंत्र ही कारण है। जिसे समाप्त करना अति आवश्यक हो गया था इसका एक मात्र विकल्प शिक्षा ही फुले को दिखाई पड़ा। इसलिए उन्होंने शिक्षा से अनभिज्ञ रहने के कारण ही उसके पतन का मुख्य कारण माना और कहा है—

“विद्या बिन मति गयी,
मति बिन गयी नीति।
नीति बिन गति गयी,
गति बिन सम्पत्ति।
सम्पत्ति बिन शूद्र निर्बल हो गए।⁵

अर्थात् सारे अनार्थों का मूल अविद्या है।

शूद्राति शूद्रों को दूरदर्शा के अनेक धार्मिक व राजनैतिक कारण है मौर्यकाल के पतनोपरान्त ब्राह्मणवाद बढ़ता गया कुछ सौ साल बाद भारत में विद्रोही आक्रमणों का सिलसिला शुरू हुआ विदेशी आक्रमणकारी आक्रमण कर भारत का अकृत धन लूटते रहे इसे न तो ब्राह्मणवाद रक्षा कर पाया और न ही क्षत्रिय कहे जाने वाले राजपूत ही। मुगलों के आक्रमण के पश्चात् भी ब्राह्मणवाद पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाया मुसलमान भी इस पर विशेष ध्यान नहीं दिए। अंग्रेजों के आने के बाद ही हम पश्चिम सभ्यता और संस्कृति से अवगत हुए। 18वीं शताब्दी से नए-नए आविष्कारों ने बुद्धि एवं चेतना को एक नया आयाम प्रदान किया साथ ही साथ इसने सामाजिक आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। धर्म, दर्शन और संस्कृति की नई और व्यवहारिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं।⁶ 19वीं शताब्दी में भारत में जब नवजागरण प्रारंभ हुआ तो अभिजात्य वर्गों में एक नई सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना आई लेकिन वह चेतना केवल और केवल अभिजात्य वर्गों तक ही सीमित होकर रह गई। शोषितों, दलितों और अछूतों के लिए कहीं से भी कोई नई चेतना नहीं आई, क्योंकि ब्राह्मणवाद ने तिकड़म जाल षडयंत्र के द्वारा इतना नीच-गवार पतित अछूत बना दिया था कि इनमें कभी भी जागृति नहीं आ सके। ब्राह्मणवाद ने धर्म को इतना कठोर बना दिया था कि भारतीय लोग कोई भी विचार धार्मिक दृष्टि से ही किया करते।⁷

ज्योतिबा फुले ने जो सामाजिक धार्मिक क्षेत्रों के गहराईयों में जाकर अध्ययन किया तो पता चला यह तमाम बिखरी हुई अछूत जातियाँ कमेणा, श्रमण वर्ग की है। यही बिखरी हुई जातियाँ प्राचीन काल में बौद्ध थीं। बौद्ध धम्म के पतन के पश्चात् समाज में जो विकृतियाँ आईं उसे दूर करने का किसी ने भी प्रयास नहीं किया। इस तरह से यह घूमन्तु जातियाँ आत्मरक्षार्थ अब तक संघर्ष करती रही हैं। बाद के दिनों में आत्म रक्षा हेतु उन्होंने जंगलों का सहारा लिया। इस तरह से ये भारत के विभिन्न भागों में छितरे हुए बौद्ध ही थे।⁸

भारत के शूद्र एवं अतिशूद्र अमेरिका के गुलाम दासों से भी निकृष्ट जीवन यापन कर रहे थे। इनका जीवन जानवर से भी निकृष्ट माना जाता था। फुले ही प्रथम दृष्टया इन तमाम शूद्राति शूद्रों की आवाज को महसूस कर अपना जीवन समर्पण किया। फुले ने तमाम तरह के धर्म ग्रन्थों को नकार दिया कर्मकाण्डों को टुकरा दिया। उन्होंने कहा कि कर्मकांडों से पुरोहितशाही आती है फिर पुरोहितशाही ब्राह्मणों, मुल्लाओं, पादरियों की ही क्यों हो। इस पुरोहितशाही को वे नहीं मानते थे।⁹ ज्योतिबा फुले कहते थे कि यदि कोई धर्म किसी जीवन मार्ग का पालन करने का आदेश देता है और वो जीवन मार्ग विशिष्ट विभाग तक मर्यादित हो तो वह सत्य धर्म हो ही नहीं सकता। मानव समाज के कुछ सीमित लोगों का नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज कल्याण के उद्देश्य का स्पष्टीकरण फुले ने किया है।¹⁰ ज्योतिबा फुले चाहते थे कि मानववाद अग्रसित हो। ब्राह्मणवाद में पुनर्जन्म और भाग्यवाद पर आधारित विषमतामूलक ब्राह्मणवाद की जकड़न से भारत का निरात व अभावग्रस्त बहुसंख्यक मुक्ति पाए और मानववाद की प्रतिष्ठा से सुख-समृद्धि की ओर कदम बढ़ाए।¹¹

पुनर्जन्म और भाग्यवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जाति-पाँति, छुआ-छूत, उंच-नीच और अमीर गरीब की भावना में यहाँ इसी ब्राह्मणवाद की देन है। पिछले जन्मों के शुभ अशुभ कर्मों के आधार पर इस जन्म में प्रारब्ध या भाग्य मिला है, जिसके फलस्वरूप उंची जाति, नीची जाति अमीर या गरीब के घर में जन्म मिला। जाति की ऊँचाई-निचाई, छुआछूत की गहराई से नापी जाती है। इस प्रकार जाति जो जाति नहीं के रूप में खड़ी है उसके साथ छुआछूत फूल के गंध के समान सर्वत्र मौजूद है। इतना ही नहीं जाति के साथ अमीरी गरीबी जुड़ी हुई है। तभी तो अशुभ कर्मों से मिली नीची जाति के जिम्मे सारे कर्म से मिली उंची जाति के पास बौद्धिक आस्था शारीरिक श्रम के काम अधिक लाभ के है। इसे भाग्य का जलवा कहा जाता है। आज सारी दुनिया के सामने यह सच्चाई उभर कर आ गई है कि जाति-पाँति उंच-नीच, छूत-अछूत और अमीर गरीब भाग्य के कारण नहीं बल्कि तिकड़मी समाज शत्रुओं की देन है।¹²

उन्नीसवीं सदी भारत का पुनर्जागरण का काल रहा है। इस पुनर्जागरण में बहुत से महापुरुषों के नाम आते हैं जो पुनर्जागरण के महानायक कहे जाते हैं परन्तु समाज के वास्तविक पुनर्जागरण में उनका योगदान एक प्रतिशत का भी नहीं रहा है। उन महापुरुषों को इस समाज के दबे कुचले तथा शूद्राति-शूद्र अछूत जातियों की तनिक भी परवाह नहीं थी। यद्यपि वे सभी उन तमाम शूद्राति-शूद्रों की दशा से अवगत थे तथापि उन लोगों के द्वारा इस दिशा में एक भी काम नहीं किया गया फिर भी उन्होंने अपने-अपने हित को साधकर अपने ही समाज में व्याप्त विधवा विवाह, सती प्रथा जैसी बुराइयों को दूर करने का प्रयास करते हैं। वास्तव में समाज के 80 अस्सी प्रतिशत जनता शोषित, दलित अछूतों की थी जिनका कोई उद्धारक नहीं बन सका। ब्राह्मणों ने आगे बढ़कर वाल्टेयर जैसा काम नहीं किया। जन्मना शूद्र ज्योतिबा फुले ने अपने समाज की दुर्दशा को देखकर दुःखित और मर्माहित होकर पहला समाज के अछूतपन के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद करते हुए इस शूद्राति-शूद्रों को क्रांतिकारी मार्ग को प्रशस्त किए। ज्योतिबा फुले ने शिक्षा से वंचित समाज के शिक्षित करने के लिए कुशल प्रयास स्वरूप

पाठशालाएँ आरंभ किए। फुले प्रथम महापुरुष हैं जो नारी सशक्तिकरण की नींव को रखकर मजबूत किये। वास्तव में फुले एकमात्र पुनर्जागरण के प्रणेता के रूप में दिखाई देते हैं।

संदर्भ ग्रंथ :

1. मानववादी चिन्तक एवं विचारक माननीय लक्ष्मण चौधरी जी की साक्षात्कार 12.03.2012
2. प्राचीन भारत का इतिहास, द्विजेन्द्र नारायण एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली, पृ0 133
3. महात्मा ज्योतिबा फुले, कन्हैयालाल चांचरिक, पृ0 98
4. कार्ल मार्क्स एंड फ्रेडरिक एंगेल्स सेलेक्टेड वर्क्स पीपुल्स पब्लिशिंग, 1978
5. देवेश विजय—सांस्कृतिक इतिहास एक तुलनात्मक सर्वेक्षण, पृ0 110
6. महात्मा ज्योतिबा फुले, कन्हैयालाल चांचरिक, पृ0 99
7. किसान का कोड़ा, ज्योतिबा फुले, अनुवादक— संजय गजभिये, पृ0 13
8. महात्मा ज्योतिबा फुले, कन्हैयालाल चांचरिक, पृ0 62
9. ज्योतिराव फुले का सामाजिक दर्शन, डॉ0 रोज आमलावे, पृ0 19
10. अछूत कौन और कैसे— डॉ0 वी0आर0 आम्बेडकर, अनुवादक— भडंत आनंद कौसल्यायन, पृ0 63
11. महात्मा फुले व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद (लेख), महात्मा फुले गौरव ग्रंथ गोविन्द तलवलकर महाराष्ट्र राज्य शिक्षा विभाग, पृ0 248
12. प्रा0मे0पु0 रेगे— म0 फुले सार्वजनिक सत्यधर्म, महात्मा फुले गौरव ग्रंथ महाराष्ट्र राज्य, शिक्षा विभाग, पृ0 549
13. अर्जक संघ का सिद्धान्त, वक्तव्य, पृ0 2, 3

Trends of Principal Exports:- During Pre Reform Periods

Dr. Arvind Kumar

(B.R.A.Bihar University Muzaffarpur)

Exports of India are broadly classified into four categories:

- ❖ Agriculture and allied products, which include coffee, tea, oil, cake, tobacco, cashew, kernels, spices, sugar, raw cotton, rice, fish and fish preparations, meat and meat preparations, vegetable oils, fruits, vegetables and pulses.
- ❖ Ores and minerals include manganese ore, mica and iron ore.
- ❖ Manufactured goods include textiles and ready-made garments, jute manufactures, leather and footwear, handicrafts including pearls and precious stones, chemicals and engineering goods, iron and steel.
- ❖ Mineral fuel and Lubricants.

Tea and mate

Tea is one the most important items of Indian exports. During the 1960s, it decreased at an annual compound rate of 2.8 percent then increased at the rate of 10.6 percent during the 1970s. During the 1980s, the growth rate slowed down and increased at the rate of 1.0 percent. It occupied third position in 1950-51 by contributing

13.4 percent in India's total exports. During the first plan, because of higher rate of growth of its exports, its share in total export increased to 17.9 percent in 1955-56 and captured second position in India's total exports by contributing about 18 percent in 1955-56 and continued to maintain the second position until 1960-61 with its contribution at around one-fifth of total exports. However since then the share of tea and mate continuously declined to 9.65 percent in 1970-71, 6.3 percent in 1980-81 and further down to 5.7 percent in 1985-86 and 3.2 percent in 1990-91.

The commodities under agriculture and allied products whose exports shares remained stable or even increased during 1960-61 to 1990-91 despite the overall share of the group having shown major decline, are fish and fish preparations, oil cakes, rice, meat and meat preparations, miscellaneous processed foods, sugar and molasses, and raw cotton. The shares of exports of spices and cashew kernels remained high only up to 1970-71 but declined thereafter.

Table
Annual Compound Growth Rates of Principal Exports (million dollar)

Commodities	1960-61 to 1970-71	1970-71 to 1980-81	1980-81 to 1990-91
I. Agriculture. & Allied Products,Of which,	0.8	15.0	3.1
1 Coffee	8.2	23.4	-6.3
2 Tea & Mate	-2.8	10.6	1.0
3 Oil cakes	9.7	8.0	2.9
4 Tobacco	2.4	15.3	-1.9
5Cashew Kernels	6.6	8.8	3.5
6 Spices	3.5	-12.1	25.2
7 Sugar & Molasses	-4.2	2.5	-8.3
8 Raw Cotton	-2.7	27.1	8.5
9 Rice	N.A.		-1.0
10 Fish & fish product	14.9	21.2	6.9
11Meat & meat preparation	7.2	33.1	1.1
12Fruits, Vegetables. & Pulses	2.1	20.2	1.7
13.Miscellaneous processed fruits	11.6	22.3	10.2
II. Ores & Minerals (excl. coal)	7.1	9.2	4.8
14 Mica	N.A.	0.4	-1.4
15 Iron	15.7	9.5	4.3
III.Manufactured products.Of which,	5.3	16.6	10.8
16 Textile Fabric & Manufacture (excl. carpet handmade).	2.3	19.9	12.4
16.1 Cotton Yarn	3.3	10.6	7.9
16.2 Readymade	34.6	33.4	12.4
17 Core Yarn & Manufacture.	2.7	2.6	2.1
18 Jute Manufacture.	-1.1	5.2	-8.8

19 Leather & Leather Prod.	6.0	16.6	11.4
20 Handicrafts	15.4	28.8	11.1
20.1 Gems & Jewellery	40.3	29.5	14.1
21 Chemical & Allied Prod.ucts	10.0	22.0	15.3
22 Machinery tools, iron & steels.	19.0	14.9	7.4
IV. Mineral fuels & lubricants.	1.3	7.5	31.2
V. Others	23.5	16.1	-25.5
Total	4.2	15.4	7.9

Source: Ministry of Finance, Government of India, Economic Survey, 2005-06.

Jute Manufactures including twist and yarn

Jute manufactures were another one of most important traditional exportable commodity. In 1950-51, it contributed about 19 percent of total exports and occupied second position. It jumped to first position by with its contribution of 19.4 percent in 1955-56 and 21 percent in 1960-61. Since this however, its contribution to our total export earning declined continuously not only in percentage term but sometimes also in absolute value. For example its share declined to 12.4 percent in 1970-71, then declined to 4.9 percent in 1980-81. In the 1980s however, exports of Jute declined Rs.330Cr (\$ 417 million) in 1980-81 to Rs.262 Cr (\$ 214 million) in 1985-86 and further to Rs.298 Cr (\$ 166 million). Consequently its share declined very low level at 0.1 percent in 1990-91.

Cotton Yarn and Fabrics

In 1950-51 it occupied the first position in India's total exports. The export of cotton yarn and fabrics in 1960-61 was Rs.65 or (\$ 136 million) that increased to Rs.142 Cr (\$ 188 million) in 1970-71 and then to Rs.408 Cr (\$ 516 million) in 1980-81. In 1990-91, it accounted for Rs.2100 Cr or (\$ 1170 million). However its share in total export earning continuously declined from around 19 percent in 1970-71. Since then its share declined significantly to 6 percent in 1980-81 and remained at that level in 1990-91.

Readymade Garments

In recent years particularly since 1970s, the exports of readymade garments have shown significant improvement. Its share increased from 0.2 percent in 1960-61 to 1.9 percent in 1970-71, 8.2 percent in 1980-81 and 12.5 percent in 1990-91.

Handicrafts

The exports of Indian handicrafts assumed great importance in the 1970s. From a mere Rs.73 crores (\$ 96 million) in 1970-71, it increased to Rs.952 Cr (\$ 1207 million) in 1980-81, further to Rs.1881 Cr or (\$ 1538 million) in 1985-86 and Rs.6167 Cr (\$ 3437 million) in 1990-91. As a result its share in total exports increased from 1.7 percent in 1960-61 to 4.8 percent in 1970-71, 14.2 percent in 1980-81 and improved its position from 8th to first during the period and maintains the top position till 1985-86. In 1985-86 its share accounted for 17.3 percent that further increased to 18.9 percent in 1990-91.

Within that group of handicrafts, the main subgroup, viz gems and jewellery, increased from mere 0.2 percent in 1960-61 to 2.9 percent in 1970-71, then jumped to 9.2 percent in 1980-81 and 16.1 percent in 1990-91.

Leather and leather Products

This is another item that has increased its share in total exports. In 1950-51, its contributed about 4.3 percent in 1950-51 and remained at that level till 1960-61. After that its share lightly improved to 5.2 percent in 1970-71, then 5.8 percent in 1980-81 and then to 8 percent in 1990-91.

Chemical and Allied Products

In 1950-51, it accounted for 1.4 percent, which declined to 1.1 percent in 1960-61. Since then its share increased continuously to 1.9 percent in 1970-71, 3.3 percent in 1980-81 and further to 6.5 percent in 1990-91, owing to high rate of growth of 10, 22, and 15 percent during the respective decades.

Machinery, Transport and Metal manufactures including Iron and Steel

Another important development in the composition of India's exports has been an increase in share of this sub sector of manufacture products. However, the major increase came only during the 1960s when the share of this group in India's exports increased from 3.4 percent in 1960-61 to 12.9 percent in 1970-71. Then it declined to 11.9 percent in 1990-91.

Thus, the major components of the increase in the share of manufactured goods in India's exports, particularly since 1970-71, were the increasing shares of textiles, fabrics and manufactures (especially readymade garments); handicrafts especially gems and jewellery; and chemical and allied products. On the other hand, export shares of two major commodity groups, viz leather and leather products; machinery transport and metal manufactures remained nearly stagnant. The share of Jute; tea and mate declined very sharply.

NOTES AND REFERENCES:-

- Halder, A. (1976). India's Export Pattern: Analysis on Potential Diversification, Minerva Associates, Calcutta.
- Dijck, P.V. and K.S.Chalpati Rao (1994). India's Trade Policy and The Export Performance of Industry, Sage Publications, New Delhi.
- Rangnekar, S. B.(1995). "Is the Indian Export Structure Changing" in Sandesara, J.C.(ed.) Problem of Indian Economic Development, Bombay University Press.
- Singh, Manmohan (1964) , India's Export Trends and the Prospects for Self sustained Growth, Clarendon Press, Oxford.
- Thomas, Vinod, and John Nash(1991).Best Practices in Trade Policy Reform, Oxford University Press, New York,.

डॉ० विवेकी राय के उपन्यासों में ग्राम्य-जीवन

अविनाश कुमार पाण्डेय

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

भारतीय संस्कृति वस्तुतः कृषक संस्कृति है। हमारे किसान ही देश और समाज के मेरुदंड हैं। ग्राम्य-कथ्य हमारे साहित्य का भी केन्द्र रहा, क्योंकि आजादी के पूर्व और पश्चात् के साहित्य में सदैव यह बना रहा। एक लम्बी परम्परा उन कथाकारों की है जिन्होंने गाँव को अपने कथा-साहित्य में स्थान दिया। कथाकारों की लम्बी सूची में एक नाम विवेकी राय जी का भी है, जिनके उपन्यासों में ग्रामीण चित्रण विविध रूपों में अत्यधिक दृष्टव्य है।

हालाँकि ऐसा नहीं है कि अन्य कथाकारों ने इस पहलू पर नहीं लिखा, लेकिन उनके समस्त साहित्य के कई पक्षों में एक पक्ष ही यह 'ग्राम-कथ्य' रहा। लेकिन विवेकी राय के समस्त साहित्य का बस एक ही आयाम 'गाँव' रहा। गाँव डॉ० विवेकी राय के लिए एक 'विषय-मात्र' नहीं है, बल्कि सब कुछ है। "गाँव उनके व्यक्तिगत और उनके रचनाकार की प्रतिभूति है, उनके प्राणों की लय है। गाँव उनके रचनाकार-मानस में रचा-बसा है और वे अपनी समूची संवेदनात्मक गहराई में उसके साथ एकात्म हैं। ग्राम्य-जीवन के प्रति इतना एकान्त समर्पण और उसके प्रति इतनी एकाग्र दृष्टि रखने वाले कदाचित् हिन्दी के वे अकेले कथाकार हैं।"¹

विवेकी राय अपने कथा-साहित्य में प्रयोगधर्मी एवं नवीनता के प्रेमी रहे हैं। कोई भी प्रयोग अपने-आप में बढ़ने का एक माध्यम है। हालाँकि डॉ० राय ने कोई भी प्रयोग किसी झण्डे या बैनर के तले नहीं किया। गाँवों की व्यथा-कथा कहने के लिए डॉ० विवेकी राय को किसी अन्य चरित्र की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। गाँव स्वयं साकार होकर लेखक के सामने प्रकट हो गया है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में आजादी के पहले के गाँवों की आत्मा को जाँचा-परखा है, जबकि विवेकी राय ने यही कार्य आजादी के बाद के गाँवों के लिए किया है। डॉ० राय ने अपने प्रथम उपन्यास 'बबूल' से लेकर सभी उपन्यासों में गाँवों को यथार्थ रूप में उद्घाटित किया है। अब गाँव भी औद्योगिक विकास एवं शहरी संस्कृति के प्रभाव से मुक्त नहीं रह गये हैं। ग्रामीणजनों की जीवन-शैली में निरन्तर बदलाव आ रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात् विशेषकर कृषि क्षेत्र में आयी यांत्रिकता ने एक आम किसान की गृहस्थी बदल कर रख दी है। डॉ० राय के उपन्यास 'नमामि ग्रामम्' इस सत्य को सामने लाता है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें स्वयं गाँव ही प्रत्यक्ष होकर अपनी कथा कहता है। गाँव कहता है कि पुराने समय में जब न तो आधुनिकता की लहर थी और न ही यंत्रों का प्रचार-प्रसार, तब उस समय आर्थिक रूप से गाँव आत्मनिर्भर होता था। ग्रामीणजनों की आवश्यकताएँ वस्तुओं के लेन-देन के रूप में पूर्ण हो जाती थी, किन्तु अब हर छोटी-से-छोटी वस्तु के लिए बाजार की शरण लेनी पड़ती है। किसानों की समृद्धि के प्रतीक पशुधन यंत्रीकरण के कारण ट्रैक्टर आदि में परिवर्तित हो गये। पहले जहाँ किसान के दरवाजे पर गाय-बैल आदि दिखायी पड़ते थे, वहीं अब ट्रैक्टर और उसके पार्ट्स ही दिखते हैं। मशीनों ने जहाँ सुविधाएँ दी हैं, वहीं बहुत कुछ छीना भी है। 'योजना-विकास' और

नयी सिंचाई सुविधाओं से भी कुछ विशेष फर्क नहीं पड़ा। दो-दो, चार-चार महीनों तक सरकारी नलकूप खराब पड़े हैं। निजी पम्पिंग सेट उजड़ने का धंधा जब हो गया तब याद आते हैं वे अपने सिंचाई के साधन।² तभी तो विवेकी राय कहते हैं कि “कल-पुरजे वाली चीज पर भरोसा नहीं।”³

आधुनिक युग में समानता के नारे ने ‘पवनी-वर्ग’ को उनकी स्थिति का बोध करा दिया है। वे अब अभिजात्य-वर्ग के बोझ से स्वयं को मुक्त कर रहे हैं। गाँव का आदमी जहाँ ऋण लेकर ब्याह आदि अवसरों पर हजारों रुपये का वारा-न्यारा कर देता है, वहीं इस वर्ग के लिए छोटी कीमत ही चुकाना चाहता है, कारण कि ये तो इसी काम के लिए ही है। नयी-नयी मशीनों के आविष्कार ने इन पर लोगों की निर्भरता लगभग समाप्त कर दी है। ‘नमामि ग्रामम्’ में यह बात बड़े ही स्पष्ट तौर पर कही गयी है।

डॉ० राय ‘नमामि ग्रामम्’ के माध्यम से यह बताना चाहा है कि आधुनिकता ने ग्राम-जीवन का रूप ही बदल डाला है। कृषि-क्षेत्र में आयी यांत्रिकता से इनकी जीवन-शैली बदल गयी है। दुनिया में आज के विकास की नींव है-तकनीकी उन्नति और उसके कारण उत्पादन में वृद्धि।

स्वतंत्रता के बाद गाँव के बहुमुखी विकास के लिए योजनाबद्ध रूप में कार्यक्रम निर्धारित किये गये। पंचायतों की स्थापना, सामुदायिक विकास योजनाएँ, सहकारिता, कृषि-प्रसार, जमींदारी उन्मूलन आदि अनेक कार्यक्रम गाँवों की उन्नति के लिए लागू किये गये ताकि गाँवों का अतिशीघ्रता से विकास एवं परिवर्तन हो सके, परन्तु यह विकास एवं परिवर्तन गाँवों को किस दशा और दिशा में ले आया है, यह प्रत्यक्ष है। डॉ० राय के उपन्यास विशेषकर ‘नमामि ग्रामम्’, ‘लोकऋण’ तथा ‘सोनामाटी’ में इस पर बखूबी चिन्तन किया गया है।

डॉ० राय के उपन्यास ‘सोनामाटी’ में जमींदारों की जमींदारी टूटने पर पुनः निर्मित स्थिति और उसके ग्राम पर पड़े प्रभाव को यथार्थ रूप में सामने लाया गया है। “ग्रामीण-जीवन के सहज, अकृत्रिम प्रवाह को जो धक्का लगा है और इन सबके चलते एक संवेदनशील व्यक्ति के मन में निराशा का जो कुहासा घनीभूत हुआ है, उसका बड़ा ही सजीव और यथार्थ चित्र ‘सोनामाटी’ में अंकित है।”⁴ डॉ० विवेकी राय ने स्वीकार किया है कि वे स्वयं अपने अंचल की भाषा, संस्कृति, रहन-सहन और कृषि मानसिकता से प्रभावित हैं। पुनः उन्होंने कहा है “जनता के गाँवों को पूरी तरह पकड़ने में मेरे सामने एक कठिनाई आयी है-समय की रपतार सम्बन्धी। बहुत कठिन है बदलते गाँवों की पकड़। पकड़ते-पकड़ते वह बदल जाता है।”⁵ अतएव ‘सोनामाटी’ किसान जीवन एवं संस्कृति चित्रण के परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र ‘रामरूप’ का जीवन एक शिक्षित ग्रामीण मन की विभिन्न परतों को खोल देता है।

गाँवों में नव-धनाढ्य-वर्ग भी किसानों का शोषण करने में लगा हुआ है। डॉ० विवेकी राय के उपन्यास ‘समरशेष है’ में इस शोषण के चित्र देखे जा सकते हैं। इस उपन्यास में टिमलराम नाम के कुम्हार के लिये जो जमीन ‘चकबंदी योजना’ के अंतर्गत छोड़ी गयी थी, उसे गाँव के एक बड़े आदमी ने हड़प लिया। टिमलराम इसके लिए सभापति से प्रयास करने को कहता है तो सभापति उससे बेगार करवाता है। यहाँ धनिक-वर्ग द्वारा हड़प-नीति तथा बेगारी करवाने का चित्र दृष्टव्य है। इन लोगों की हड़प-नीति नये ढंग की रही है। ये आपस में झगड़ा लगाकर, बहला-फुसलाकर, पक्षपात कर, जमीन-जायदाद या गाँव के विकास हेतु उपयोगी सार्वजनिक स्थल तक को भी हड़प लेते हैं। यह प्रसंग डॉ० राय के ‘मंगलभवन’ उपन्यास में भी दृष्टव्य होता है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र मास्टर विक्रम नौकरी के लिए अनेक वर्षों तक बाहर रहते हैं, जिससे कि गाँव के उनके पड़ोसी उनकी जमीन, फसल पर कब्जा कर लेते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि छल-कपट से भरे इस समय में छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए किसान एक दूसरे को भी शोषित करते हैं।

गाँव का वातावरण ऐसा होता है कि सार्वजनिक स्थल जैसे-तालाब, पुस्तकालय, खेल के मैदान, मंदिर आदि पर कोई चौकसी तो रखी नहीं जाती है और वहाँ कोई चौकीदार आदि भी नहीं रहता। परन्तु आज के वातावरण में ग्रामीणों में हड़पने, कब्जा करने की भावना आ गयी है। यह काम नवधनिक ही अत्यधिक पैसे, सत्ता के बल पर करते हैं। इस तरह की स्थितियों का वर्णन डॉ० विवेकी राय के कई उपन्यासों में है, यथा 'लोकऋण' में सभापति त्रिभुवन सार्वजनिक पोखरा और धर्मशाला को हथियाता है वहीं 'मंगलभवन' में पुन्ना चौधरी 'सत्तोसती गड़ही' का कुछ हिस्सा कब्जा कर लेता है। 'नमामि ग्रामम्' में गाँव का ही धनिक खेल के मैदान को हड़पकर निजी खलिहान बना लेता है। 'समरशेष है' में तो समरेश बहादुर 'जनता आश्रम' को ही अपने कब्जे में कर लेता है। अतएव उपर्युक्त उदाहरणों से गाँव की इस नयी विकृति का परिचय मिलता है।

इस प्रकार सारांशतः यह कहा जा सकता है कि ग्रामांचलिक साहित्य की परम्परा में प्रेमचन्द, फणीश्वरनाथ रेणु और नागार्जुन की लीक पर चलने वाले डॉ० विवेकी राय ग्रामीण संस्कृति के सशक्त कथाकार रहे हैं। गाँव की माटी की गंध उनमें रची-बसी है। प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आजादी के बाद देश की राजनीति से प्रभावित और बदलते सामाजिक परिवेश का चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में यथार्थ रूप में किया है।

संदर्भ :

1. 'अभिनव प्रसंगवश', जनवरी-जून, 2003, डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृ०-28
2. 'नमामि ग्रामम्' : डॉ० विवेकी राय, पृ०-24
3. 'कालातीत' : डॉ० विवेकी राय, पृ०-43
4. 'निवेदिता' : रामचन्द्र तिवारी, पृ०-121
5. 'संचेतना' (मासिक पत्रिका) फरवरी-2007, दिल्ली, विवेकी राय, पृ०-9

“उत्तरा” महिला पत्रिका उत्तराखण्ड की महिलाओं की सच्ची सहेली

श्रीमती जशोदा बिष्ट

शोधार्थी, अटल पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, डी0एस0बी0 परिसर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रस्तावना— पत्रिकाएं समाज में घट रही घटनाओं, कहानियों, पत्रों, लेख व उपन्यासों, कविताओं व चित्रकला के साथ-साथ हास्य, सौन्दर्य, गृह-शोभा, साज-सज्जा का एक मिला जुला रूप होती है। जिसमें धर्म, संस्कृति, भाषा, विज्ञान, राजनीति व नये पुराने घटनाक्रमों व विचारधाराओं का भी मिश्रण होता है। पत्रिकाएं समाज के मनोरंजन का माध्यम व सुकून के पलों को साझा करने का भी विकल्प मानी जा सकती है। पत्रकारिता के बढ़ते प्रभाव के चलते विश्व में जन-जागरूकता का दौर आरम्भ हुआ। समाचार पत्रों में विभिन्न प्रकार के विज्ञापनों का स्थान बढ़ता चला गया और इसी बीच लोगों के एक समूह का कलात्मकता में रुझान बढ़ने लगा। अपने पाठकों को लुभाने के लिए समाचार पत्रों से अलग पत्रिकाओं का दौर प्रारम्भ हुआ, जो अपने लेखों, कलात्मकता व नवीनता के कारण लोकप्रिय भी रही। विश्व के साथ-साथ भारत में भी कई प्रकार की पत्रिकाओं का जन्म हुआ जिनमें कुछ पाठक वर्ग के प्रोत्साहन से खूब फली-फूली व सफल बनी, वहीं दूसरी ओर कुछ पत्रिकाओं को पाठकों की निरसता मिली और वह कुपोषित होकर गुमनाम हो गयी। वहीं कुछ पत्रिकाएं येन केन प्रकारेण स्वयं का अस्तित्व बचाने की होड़ में लगी रही और प्रतिस्पर्धा के बढ़ने के कारण गिरती उभरती रही। अपने प्रारम्भिक काल में पत्रिकाएं कहानियों, कविताओं व लेखों, गृह कार्य व साज-सज्जा के साथ छपती थी। जो कालान्तर में देश-भक्ति की भावनाओं से ओतप्रोत लेखों से भर गयी। जैसे-जैसे समय आगे बढ़ता गया, पत्रिकाओं की विषय-वस्तु भी परिवर्तित होने लगी।

पत्रिकाओं का जन्म सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना के विकास के साथ हुआ। जिसमें लेखकों ने विशेष रूप से हिन्दी भाषा का चयन किया। भारतेन्दु काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1867 में “कवि वचन सुधा” नामक पत्रिका का सर्वप्रथम प्रकाशन किया, जो 1885 में बन्द हो गयी। उसके बाद 1873 में भारतेन्दु मैगजीन का प्रकाशन किया गया। जिसका मुख्य उद्देश्य समाज सुधार, देश के प्रति सजगता व राष्ट्रीय चेतना का विकास करना था। यून तो उस दौर में कई पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं। जिनका मुख्य उद्देश्य देश भक्ति व सामाजिक चेतना, नैतिक मूल्यों का गठन व धर्म संस्कृति की रक्षा करना था और कहीं ना कहीं उस दौर में भी महिला चेतना व मूल्यों की रक्षा करने के उद्देश्य से महिला पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ होने लगा, इस क्रम में सर्वप्रथम “बाला बोधिनी” नामक महिला पत्रिका का प्रकाशन किया गया। परन्तु इस पत्रिका में भी महिलाओं के प्रति गम्भीर मुद्दों को स्थान नहीं मिल पाया और पत्रिका गृह सज्जा, सौन्दर्य, धर्म संस्कृति तक ही सीमित रही। भारतेन्दु काल में ही ब्रदीनारायण उपाध्याय ने 1881 में “आनन्द कादम्बिनी” पत्रिका निकाली। इसके बाद पत्रिकाओं का प्रकाशन आम-तौर पर होने लगा। परन्तु ये पत्रिकाएं अधिक समय तक नहीं चल पायीं और इनकी यात्रा संघर्षमयी बनी रही। हिन्दी साहित्य के दिशा-निर्देशन के उद्देश्य से सन् 1900 में सरस्वती पत्रिका व 1909 में जयशंकर

प्रसाद की "इन्दु" व 1913 में कालूराम गंगपडे की "प्रभा" का प्रकाशन किया गया। स्वतन्त्रता के बाद भारत में विभिन्न विषयों पर पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी, जिनमें महिला पत्रिकाओं की भी भरमार रही। हिन्दुस्तान ग्रुप की कादम्बिनी खासा लोकप्रिय हुई व इसके बाद हिन्दी व अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी महिला पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। जिनमें मुख्य रूप से फेमिना, वोग्यू, कोस्मोपोलिटियन, ईला, ग्रजिया, फिल्मफेयर, विमेन हेल्थ, सरस्वती, गृहशोभा, सरिता चांद, सहेली, सखी जैसे अनेकों पत्रिकाओं ने अपने पाठकों के बीच बने रहने के लिए सारे हथकण्डे अपनाये और सफल रही। इन पत्रिकाओं में महिलाओं को हर प्रकार से या तो सौन्दर्य, साज-सज्जा या फिर केवल घर गृहस्थी तक सीमित वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया गया। अर्धनग्न तस्वीरों और आकर्षण को महिलाओं के जीवन का मूल उद्देश्य बनाकर इसी को प्रसारित, प्रचारित किया जाने लगा। इन पत्रिकाओं से विदुषी वर्ग की महिलाएं आहत हुई व उन्होंने महिलाओं से सम्बन्धित गम्भीर विषयों को लेकर महिला पत्रिका प्रकाशित करने का संकल्प लिया। जो कि, इस प्रकार के आधुनिकीकरण व प्रतिस्पर्धा से अलग थी। मृणाल पाण्डे के सम्पादन में आयी "वामा" महिला मूल्यों के साथ आयी। इन पत्रिकाओं में "मैत्री", "स्त्री दर्पण", "मानुषि", "आधी जमीन", "अंतरंग सगिनी", "प्रयास", "देवदासी" व "उत्तरा" मुख्य रूप से महिला विषयों पर आधारित पत्रिकाएं रहीं, जिनके सम्पादकों व लेखकों ने कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपने मूल सिद्धान्तों व उद्देश्यों के साथ समझौता नहीं होने दिया। आज भी इनमें से कुछ महिला पत्रिकाएं निरन्तर प्रकाशित हो रही हैं और आधुनिकता के दौर में अपने अस्तित्व को बचाये रखने का हर सम्भव प्रयास कर रही हैं।

अध्ययन का उद्देश्य—

1. "उत्तरा" पत्रिका द्वारा उठाए गए समसामायिक मुद्दों का अध्ययन करना।
2. "उत्तरा" पत्रिका द्वारा महिला मूल्यों के हितार्थ किए गए कार्यों का वर्णन करना।
3. "उत्तरा" के 27 सालों के संघर्ष व सफलता का अध्ययन करना।
4. "उत्तरा" के जन्म से वर्तमान तक अनुभवों को उजागर करना।

अध्ययन का क्षेत्र— प्रस्तुत शोध पत्र के लिए उत्तरा के विभिन्न अंक अध्ययन का मुख्य क्षेत्र है।

अध्ययन की पद्धति— उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्तरा के विभिन्न अंकों का अध्ययन किया गया है। समीक्षात्मक व्याख्या के लिए साक्षात्कार, विद्वान लेखकों व शोधपत्रों के आधार पर विषय को समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही इन्टरनेट के माध्यम का प्रयोग भी किया गया है। ताकि सम्बन्धित विषय के साथ न्याय किया जा सके।

उत्तराखण्ड में महिला पत्रिका प्रकाशित करने की प्रेरणा— उत्तर प्रदेश राज्य के उत्तर में स्थित उत्तराखण्ड के लोगों के बीच पृथक राज्य की मांग तेजी से बढ़ने लगी थी। 80 के दशक में स्थानीय नेताओं के साथ-साथ महिलाओं, नौकरी पेशा लोगों व विभिन्न संस्थाओं व संगठनों ने भी उत्तराखण्ड राज्य की मांग करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इसी बीच विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं में भी अध्यापकों व विद्यार्थियों द्वारा लगातार उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन में अपनी भागीदारी दी जाने लगी। नैनीताल उस दौर में एक माना जाना क्षेत्र था और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं का केन्द्र भी। 80 के आखिरी दौर में यह क्षेत्र विभिन्न प्रकार के लोगों व आचार विचार के आदान प्रदान का केन्द्र बनकर रह गया। नैनीताल की विदुषी महिलाएं जिनमें डॉ० उमा भट्ट,

जो कि, हिन्दी विभाग की विभागाध्यक्ष थी, अपने कुछ शोध छात्राओं और अन्य महिलाओं को संगठित कर आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभा रही थी। उत्तराखण्ड राज्य की मांग करते हुए कहीं ना कहीं उन्हें महिलाओं की अनदेखी व उनके योगदान की चर्चा ना होने का दुःख होता पर वह इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे पायी। उत्तराखण्ड में बाहर के लोगों व आधुनिक विचारों की आवाजाही बढ़ने लगी व साथ ही दबे पांव अपराध ने भी उत्तराखण्ड की शान्त वादियों में दस्तक दे दी। 90 के दौर में उत्तराखण्ड क्रान्ति की आग में जल रहा था। पुरुष, महिलाएं, बच्चे, बुजुर्ग व युवा सभी उत्तराखण्ड राज्य का सपना देख रहे थे। महिलाएं अपने घरों का चूल्हा-चौका छोड़ आन्दोलन में कूद पड़ी थी। उत्तराखण्ड राज्य आन्दोलन पर पूरे देश की नजरें टिकी थी। लोग यहां आकर ताजा तरीन खबरों की तलाश में रहते। जिस कारण उत्तराखण्ड में बाहरी लोगों का आवागमन बढ़ गया। उत्तराखण्ड में आने वाले लोगों की तादात बढ़ने लगी व अवसरवादी यहां पृथक राज्य बनने के बाद होने वाले विकास में स्वयं को भागीदार बनाने की दौड़ में लग गए। इसे प्रगति का सूचक मानना चाहिए। लेकिन इसी के साथ पहाड़ अपराधों की श्रृंखला में भी आगे बढ़ने लगा। महिलाओं पर खुलेआम हमले होने लगे। जिसका पहाड़ के वातावरण पर असर होने लगा। उमा भट्ट जी बताती है कि 1984 में "नशा नहीं रोजगार दो" आन्दोलन में यहां कई महिलाएं सक्रिय रही। उनकी विचारधारा से प्रभावित होकर शीला रजवार कमला पन्त व बसन्ती पाठक मिलकर अन्य आन्दोलनों में अपनी सक्रिय भूमिका निभाने लगे। 80 के दशक में विभिन्न आन्दोलनों में भाग लेते हुए उन्होंने पाया कि महिलाओं की समान भागीदारी होने पर भी उन्हें ना तो समाज और ना ही अखबार व अन्य पत्र पत्रिकाओं में वह स्थान व सम्मान दिया जा रहा है, जो उन्हें मिलना चाहिए। खैर महिलाओं के वर्चस्व का तो कुछ करना ही था। इसी बीच नैनीताल में एक बी0ए0 की छात्रा का किसी बाहरी लड़के के द्वारा दुःशकर्म किया गया, जिसका डॉ0 उमा भट्ट व इनके साथ अन्य महिलाओं, विभिन्न साथियों और सरकारी संस्थाओं ने पुरजोर विरोध किया। उन्होंने पुलिस व प्रशासन पर भारी दबाव बनाया, कैंडिल मार्च निकाली व पूरे नैनीताल शहर में बन्द करवा दिया। मामला दोषी को सजा दिलाने के बाद ही शान्त हुआ। उमा जी मन ही मन विचलित हो उठी थी। समाज में अन्य महिलाओं के प्रति हो रही हिंसा के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाने की ठान ली। उन्हें इस बात का टीस थी कि उन्होंने महिलाओं को एक ऐसा मंच नहीं दिया जहां वह स्वतंत्र रूप से अपनी व्यथा सुना सके। इसी बीच समाजिक कार्यों में रुचि रखने वाली कॉलेज की शोध छात्रा शीला रजवार उमा जी के विचारों से प्रभावित हुईं व उनके साथ सामाजिक कार्यों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। डॉ0 शीला रजवार पिछली यादों को ताजा करते हुए कहती है "उस दौर में एक अलग किस्म का माहौल हुआ करता था। मुझे मन ही मन महिलाओं के प्रति हो रही हिंसा दुःख होता था। मैं कई समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं में लेख देती थी और समाजिक कार्यों में काफी हद तक सक्रिय रहती थी। नैनीताल में हुई बलात्कार की घटना व बाद में मुक्तेश्वर में हुए काण्ड से मानों पूरा कुमाऊँ हिल गया था। मैं महिलाओं के लिए बहुत लेख लिखा करती थी, तभी दादी (बड़े भाई) ने कहा कि तुम लोग (उमा जी, बसन्ती जी और कमला जी) महिलाओं के लिए कुछ लिखो, कुछ ऐसा जो केवल महिलाओं के लिए हो। उसी क्रम में डॉ0 उमा भट्ट, कमला पन्त, बसन्ती पाठक व शीला रजवार मिलकर 1990 में "उत्तरा" नामक पत्रिका निकाली और उनके सामूहिक प्रयासों से यह पत्रिका तब से अब तक निरन्तर चल रही है।

2. उत्तरा महिला पत्रिका—

“उत्तर के अंचल में उभरी
एक छोटी सी पत्रिका
अनसुलझी पहेलियों को लेकर
संघर्षों के आंगन में खेली
अंधियारों से उजाला पाकर
हर मौसम में हरी रही
बहनों के प्रश्नों को लेकर
आयी उत्तरों की उत्तरा”

उत्तरांचल की एकमात्र महिला पत्रिका “उत्तरा” किसी परिचय की मौहताज नहीं है। डॉ0 उमा भट्ट, बसन्ती पाठक, कमला पन्त व डॉ0 शीला रजवार के सामूहिक प्रयत्नों से 90 के दशक में जन्मी उत्तरा को पहाड़ की बेटी कहा जाए तो गलत नहीं होगा। जिस तरह समाज में बढ़ रहे अत्याचारों को रोकने के लिए किसी युगपुरुष के जन्म की प्रतीक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार पहाड़ की महिलाओं को अपनी आवाज व संघर्षों से लड़ने के लिए एक हथियार या यूनं कहेँ एक माध्यम की आवश्यकता थी, जो उत्तरा ने पूरी कर दी। उत्तराखण्ड की महिलाएं प्रारम्भ से ही अनेकों प्रकार की हिंसाओं को सहती रही। जिनमें बाल विवाह, घरेलू हिंसा, शारीरिक व आर्थिक शोषण, बाल विधवा व वैश्यावृत्ति मुख्य रही, यही नहीं यहां की महिलाएं कर्मठ व जुझारू प्रकृति की होने के कारण प्रत्येक आन्दोलनों में अपनी सक्रिय भूमिका निभाती रही। परन्तु उनके अधिकार व प्रोत्साहन के लिए उन्हें मंच केवल उत्तरा ने दिया। उत्तरा पर्वतीय अंचल की उन सभी महिलाओं के लिए आवाज थी। जो स्वयं अपने अधिकारों के लिए नहीं लड़ सकती थी या जो बिल्कुल अकेले व असहाय थी। उत्तरा कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपने पाठकों के बीच पूरी हिम्मत के साथ डटी रही।

उत्तरा की रूपरेखा—

आमतौर पर यदि किसी पत्रिका की चर्चा होती है, तो उसकी रूपरेखा की बात नहीं होती और यह आवश्यक भी नहीं है, परन्तु मैं उत्तरा की विषयवस्तु की चर्चा करना आवश्यक मानती हूं। क्योंकि प्रारम्भ से वर्तमान तक इसकी विषय-वस्तु में किसी भी प्रकार का परिवर्तन या आधुनिकीकरण नहीं किया गया है। उत्तरा अपने पाठकों के बीच रूप बदलकर नहीं आयी और ना ही उसने समय के साथ सौन्दर्यीकरण ही किया। अपनी स्वच्छ व सादगी भरी छवि के साथ ही पूरे आत्मविश्वास के साथ उत्तरा उसी रूप में पाठकों के बीच आयी जैसी वो बनायी गयी।

उत्तरा की रूपरेखा कुछ इस प्रकार है।

- | | | |
|-----------------|-------------------|-----------------------------|
| 1. सम्पादकीय | 2. आपकी चिट्ठियां | 3. समसामयिक विषयों की चर्चा |
| 4. यादें | 5. बातचीत | 6. डायरी के अंश |
| 7. संस्कृति | 8. परिचर्चा | 9. श्रद्धांजलि |
| 10. रिपोर्ट | 11. कहानी | 12. कविताएं |
| 13. उपन्यास अंश | 14. कहानी | |

उत्तरा का हर अंश कुछ कहता है, इसका मुख्य पृष्ठ अपने शीर्षक को यथार्थ रूप देता है। पाठकों द्वारा भेजी गयी बेहतरीन चित्रकला को इसमें स्थान दिया जाता है जो, अपने आप में

एक कहानी होती है। किसी "पहाड़ जैसी जीवट महिला" की बिना कुछ रिक्त स्थान के एक कविता हंसती खिल-खिलाती हुई आपका स्वागत करती है। **सम्पादकीय** में उत्तरा का कहना है कि इस अंक में उन सारे गम्भीर विषयों की चर्चा जो ज्वलन्त है और जिसको उठाने और चर्चा किये जाने की आवश्यकता है। **आपकी चिट्ठियां** उत्तरा को विभिन्न प्रकार के सुझाव, प्रशंसा और शिकायतें भेजती हैं। जिसका उत्तर भी दिया जाता है। साथ ही उत्तरा में हर उस विषय की चर्चा होती है जो **समसामायिक हो और जिसकी चर्चा** करना अति आवश्यक हो। यदि कालम में पाठक अपने जीवन से जुड़े हुए अंश को साझा करते हैं, तो बातचीत में किसी सफल महिला के साथ उनके अनुभवों को पाठकों के बीच लाया जाता है। **संस्कृति** में उन तमाम विषयों की चर्चा होती है। जो समाज में महिलाओं को बंधन में रखने के लिए बनाये गये हैं। उत्तरा की सत्य घटना पर आधारित **कहानियां** सम्बद्ध करने के साथ ही एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है, हमारी सोच कर्तव्य और वास्तविकता पर जहां पाठक स्वयं को समाज व परिवार के दो-राहे पर खड़ा पाता है। **कविताएं** चंचल नदी सी व पहाड़ सी जटिल होती है। जिनमें महिलाओं के जीवन का हर पहलू शामिल होता है। उत्तरा का प्रत्येक अंश हर लेख शब्दों की गहराई के साथ समेटा जाता है और पाठकों को वास्तविकता की अनुभूति कराता है। कभी-कभी तो पाठक स्वयं को उस स्थिति में रख कर सोच में डूब जाता है और कभी यूं ही दिल का दर्द आंखों से बहने लगता है। उत्तरा महिलाओं के लिए वह सखी है जो उसके सारे रहस्यों को जानती है और उसके हर दर्द को साझा करती है।

उत्तरा स्वयं में समसामायिक विषयों की चर्चा— उत्तरा 90 के दशक में पाठकों के एक विशेष वर्ग "महिला के लिए उनकी आवाज और आश बनकर आईं"। उस समय खेती-बाड़ी और पूरे भारतवर्ष में महिला अधिकारों के लिए विभिन्न आन्दोलन चल रहे थे। उत्तरा के 1993 के एक अंक में उत्तराखण्ड सहित भारतवर्ष की कई महिलाओं के प्रति हो रही हिंसा को मुख्य रूप से पाठकों के बीच लाया गया और साथ ही पुलिस प्रशासन व न्याय व्यवस्था पर भी प्रश्न-चिन्ह लगाये गये। इस अंक में सावित्री श्रीकोटी द्वारा लिखा गया लेख औरतों के लिए आजादी का मतलब स्पष्ट रूप से महिलाओं के काम को लेकर चर्चा की गई। जिसमें उसके कई घरेलू व बाहरी कामों की चर्चा करते हुए पुरुष समाज को कठघरे में खड़ा किया गया। इस अंक में दिनेश चन्द्र पाठक द्वारा लिखा गया पति की हत्या के लिए मजबूर महिला व शशि मोर्य की सन्तोषी अकेले नहीं है, के द्वारा सत्य घटनाओं को भी प्रकाशित किया गया। वहीं चन्द्र सिंह कार्की की शरूली बहु रोंकटे खड़े करने वाली कहानी बन गई। 1997 के अंक का उत्तरा ने महिला स्वास्थ्य एवं चुनाव के बीच विभाजित किया। जिसके द्वारा महिला स्वास्थ्य एवं कल्याण से सम्बन्धित प्रत्येक विषय को लिया गया। एक चुनावी रण का चर्चा करते हुए उसमें महिलाओं की कम संख्या को मुद्दा बनाया गया। इसके अतिरिक्त कुछ लेख संवेदनशील विषयों को लेकर लिखे गये, जिसमें ममता श्रीवास्तव द्वारा लिखा गया "सौन्दर्य प्रतियोगिता या देह-व्यापार" शीर्षक ने महिलाओं के शारिरिक आकर्षण को निशाना बनाकर बड़े उद्योगपतियों पर तंज कसा गया। उत्तरा के प्रत्येक अंक हमेशा गम्भीर विषयों को लेकर आते हैं। जिनकी व्याख्या करने के लिए शोध पत्र के स्थान पर शोध की आवश्यकता है। यह पत्रिका एकमात्र ऐसी पत्रिका है, जिसमें लेशमात्र भी मनोरंजन नहीं बल्कि संपूर्ण महिला विषय का मिश्रण है। उत्तरा के 1998 के अंक में जया पाण्डे द्वारा लिखित "हिन्दू महिला की धार्मिक व सामाजिक मजबूरियां" द्वारा लिखे गये "क्षेत्रयुता स्मृतः नारी बीजयुतः स्मृतः पुमान्" जहां स्पष्ट रूप से बताया कि, स्त्री पुरुष समान है। परन्तु यह एक धार्मिक विडंबना है कि, स्त्री को सदैव समर्पण व त्याग की मूर्ति बना दिया गया।

उत्तरा का सबसे महत्वपूर्ण अंक रहा जुलाई-दिसम्बर 1998 का जो पूर्ण रूप से "आजादी की लड़ाई में महिलाएं" शीर्षक से उत्तराखण्ड आन्दोलन को समर्पित किया गया। इस अंक में उत्तराखण्ड आन्दोलन में भाग लेने वाली महिलाओं के संघर्ष और योगदान को सम्मिलित किया गया। जिसके मुख्य शीर्षक इस प्रकार रहे- प्रदीप पाण्डे "राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाएं" जवाहर लाल नेहरू के लेख से लिया गया "स्वाभिमानी कमला", संजय घिंडियाल की "क्रान्तिकारी आन्दोलन और महिलाएं", शीला रजवार की रानी झांसी रेजीमेंट, शेखर पाठक की "दोहरी दासता के खिलाफ", ज्योति शाह द्वारा लिखित "नायक सुधार आन्दोलन", सावित्री कैंडा की "प्रखर संग्रामी महिलाएं" के साथ ही अनेकों लेखों को इस अंक में स्थान मिला। साथ ही महिलाओं के आन्दोलन में भागीदारी को खूब सराहा गया एवं उनके संघर्षों की गाथा लिखी गयी। वहीं 1999 का अंक उमा भट्ट जी, शीला रजवार, कमला पंत, बसंती पाठक और सहयोगी टीम- गिरदा, गीता गैरोला, कमल जोशी, नीरजा टण्डन, दीवा भट्ट, अनिता जोशी, मुन्नी तिवारी, मधु जोशी, अनिता जोशी, जीवन चन्द्र पन्त, कमल नेगी, विमला अश्वाल के साथ फिर महिला विषयों पर चर्चा के साथ आया। उत्तरा का सन 2000 का अंक उत्तराखण्ड राज्य बनने की खुशी मनाते हुआ आया। परन्तु साथ ही उत्तराखण्ड में महिलाओं की जश की तश बनी रही स्थिति पर भी चर्चा करती रही उत्तरा, जिसमें वैश्या-वृत्ती विरोधी कानून, बाल विवाह, विधवा पुनर्विवाह पर चर्चा करते हुए महिलाओं को समान कानून देने की मांग की गई। इसी प्रकार 2004 का अंक भी महिलाओं के यौन-शोषण पर चर्चा करते हुए एक क्रान्तिकारी कदम की चर्चा करता रहा। जिसमें उत्तराखण्ड में सर्वप्रथम महिलाओं द्वारा की गई अस्कोट-आराकोट यात्रा का अनुभव चन्द्रा/प्रीति द्वारा सांझा किये गये। 2005 के अंक में भी घरेलू हिंसा, महिला हिंसा, महिला प्रसन्न एवं स्वास्थ्य सहित अनेकों विषयों पर चर्चा की गई। अप्रैल-जून 2007 में छपे अंक में उत्तरा ने नवीनता के साथ वही पुरानी महिला समस्याओं का जिक्र किया जो समाज में जस की तस बनी रही और एक गम्भीर विषय होते हुए भी प्रभुद्ध वर्ग की अवहेलना का शिकार बने रहे। उत्तरा ने अपने 2011 के अंक में अन्तर्राष्ट्रीय महिला मुद्दों को उठाया जो न केवल उत्तराखण्ड व भारत वरन् सम्पूर्ण विश्व में एक जैसी स्थिति का सामना कर रही थी। मुख्य रूप से रंग-भेद, यौन-उत्पीड़न, बलात्कार, महिला स्वास्थ्य जैसे गम्भीर विषयों की चर्चा की गई। हालांकि उत्तरा ने अपने 2013 के अंक में महिलाओं की प्रत्येक क्षेत्र में भूमिका का वर्णन किया गया। परन्तु वहां भी देह-व्यापार तथा घरेलू हिंसा जैसे विषयों की अनदेखी न करते हुए उनको उठाया गया। जो कि 2014 में भी देखा गया। वहीं 2014 के जुलाई-दिसम्बर अंक में उत्तरा ने महिला को मिले कागजी अधिकारों पर भी खुल कर चर्चा की और अपने अंक में "पुरुषों की राजनीति का मौहरा बनी महिलाएं-जगमोहन रौतेला" जैसे लेखों को शामिल किया। उत्तरा ने 2015 में मलाला के सम्मान को पूरा स्थान देते हुए महिलाओं को प्रेरणा देने का काम किया और साथ ही गाय माता या पशु शीर्षक से गाय पर हो रही चर्चाओं में अपना योगदान दिया। सन् 2016 में उत्तरा ने अपने अंक में महिलाओं के आगे बढ़ते कदमों की प्रशंसा की और उसकी सफलता की गाथा का वर्णन किया। जिसमें "कमला सोहनी विज्ञान में प्रथम भारतीय ध्रुवज्योति चट्टोपाध्याय मुख्य रही व साथ ही चन्द्रप्रभा खेतवाल की एवरेस्ट की अविजित विजय द्वारा महिलाओं के बढ़ते कदम की चर्चा रही साथ ही तीन तलाक पर भी महिलाओं और समाज को विचार प्रस्तुति का मंच उत्तरा ने दिया। उत्तरा का 2017 का अंक उत्तराखण्ड में चल रहे शराब विरोधी आन्दोलन का साक्षी बना। जिसमें महिलाओं द्वारा शराब विरोध के लिए धरना किये गये। प्रचण्ड रूप की व्याख्या की गई। उत्तरा का 2018 का अंक महिला संगठनों एवं सम्मेलनों व उत्तरा की यात्रा को समर्पित रहा और अक्टूबर-दिसम्बर 2018 का अंक उगते सूरज के पृष्ठ के साथ नये विचारों समाज और महिला

संघर्षों व अधिकारों के क्षेत्र में विषय का प्रतीक बनकर उभरा और भविष्य में उत्तरा द्वारा उठाये जाने वाले अन्य विषयों की चर्चा का संकेत देता हुआ आया।

उत्तरा की यात्रा अत्यधिक उतार-चढ़ाव से होते हुए आगे बढ़ी। जिसमें कई बार पाठकों ने उत्तरा से आग्रह किया कि वह भी अन्य पत्रिकाओं की तरह विज्ञापनों और तड़क-भड़क को अपना आवरण बना लें और स्वयं को महिला मंच न बनाकर एक आम पत्रिका बना लें। परन्तु डॉ० उमा भट्ट, शीला रजवार, कमला पन्त व बसन्ती पाठक जी के न तो आत्म विश्वास में कमी आई और न ही उत्तरा का रूप बदला।

निष्कर्ष—

उत्तरा ने अपने प्रत्येक अंक में महिलाओं के प्रति हो रहे अत्याचारों, उनकी प्रगति, भूमिका, संघर्ष व आगे बढ़ते कदमों की चर्चा की। उत्तरा ने अपनी कहानियों के माध्यम से कई लेखों में दर्शाया कि, वास्तव में पुरुष नहीं महिला ही महिला को आगे बढ़ने में बाधक होती है। साथ ही उत्तरा ने महिलाओं की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, कहानियों, उपन्यासों, चित्रों, कविताओं और फिल्मों लगभग प्रत्येक क्षेत्र में भोग्य वस्तु के रूप में प्रस्तुतिकरण का कठोर स्वर में विरोध किया।

उत्तरा ने अपने विभिन्न लेखों में स्त्री स्वतंत्रता व विधवा विवाह, दहेज प्रथा आदि के खिलाफ कड़े शब्दों में विरोध किया। वरन समाज की दोहरी मानसिकता पर कटाक्ष करते हुए कई क्षेत्रों में स्त्री को ही स्त्री के दुःखों का कारण बताया। उत्तरा के कई लेखों से स्पष्ट होता है कि, समाज के चतुर्थ स्तम्भ के रूप में खड़े पत्रकारिता से पूछे कई समाचार पत्र व पत्रिकाएं भी महिला उत्थान व कुरीतियों के खिलाफ खड़े होने में स्वतंत्र नहीं दिखे व उनकी भूमिका पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हुए उनपर कहीं न कहीं पुरुष प्रधान समाज का वर्चस्व हावी रहा। उत्तरा जनवरी-मार्च 1998 स्त्री मुक्त आन्दोलन और स्त्री दर्पण पत्रिका के लेख में स्त्री दर्पण की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगा। जुलाई-सितम्बर 1994 के स्वाधीनतापूर्व कुमाऊनी समाज में महिला जागृती लेख में शक्ति की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह "सती-प्रथा", पर्दा-प्रथा रौधाभाष भी रहा। कहीं पर कुछ कुरीतियों का विरोध किया तो किसी को समाज का आदर्श साबित करने की होड़ देखी गई।

सुझाव—

1. उत्तरा को न केवल एक पत्रिका बल्कि एक समाज सुधारक पत्रिका के रूप में प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है।
2. उत्तरा पत्रिका के वितरण को बढ़ाने के लिए नैनीताल के सभी पुस्तकालयों में इसे स्थान दिया जाना चाहिए। साथ ही यहां के स्थानीय नागरिकों, पर्यटकों, पाठकों, पुस्तक विक्रेताओं व क्लबों आदि में इसे स्थान दिया जाना चाहिए। ताकि महिलाओं के विषय में अधिक से अधिक जानकारी मिल सके एवं जानकारी के लिए उन्हें अधिक भटकना न पड़े।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :

1. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक चार जुलाई-सितम्बर, 1993 वर्ष तीन।
2. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक चार जुलाई-सितम्बर, 1994 वर्ष चार।

3. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक दो जनवारी-मार्च, 1997 वर्ष सात।
4. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक दो जनवारी-मार्च, 1998 वर्ष आठ।
5. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, संयुक्तांक जुलाई-दिसम्बर, 1998 वर्ष सात, विशेषांक "आजादी की लड़ाई में महिलाएँ"।
6. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक दो जनवारी-मार्च, 1999 वर्ष नौ।
7. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक चार जुलाई-सितम्बर, 2000 वर्ष दस।
8. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक तीन अप्रैल- जून, 2007 वर्ष सत्रह।
9. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक एक अक्टूबर-दिसम्बर, 2011 वर्ष इक्कीस।
10. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक तीन अप्रैल-जून, 2013 वर्ष तेइस।
11. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, संयुक्तांक जुलाई-दिसम्बर, 2014 वर्ष चौबीस।
12. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक चार, जुलाई-सितम्बर, 2015 वर्ष पच्चीस।
13. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक तीन अप्रैल-जून, 2016 वर्ष छब्बीस।
14. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक तीन अप्रैल-जून, 2017 वर्ष सत्ताईस।
15. डॉ० उमा भट्ट, उत्तरा, पहाड़ परिक्रमा, तल्ला डांडा, तल्लीताल, नैनीताल, अंक दो जनवारी-मार्च, 2018 वर्ष अठाईस।
16. डॉ० उमा भट्ट, डॉ० शीला रजवार एवं श्रीमती बसंती पाठक जी के साक्षात्कार पर आधारित अंश।
17. स्वरचित कविता पर आधारित, अंश।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति

डॉ० टी० श्रीदेवी

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी कालेज, तिरुवनन्तपुरम्, केरला

फ्रायड, एडलर, युंग आदि मनोवैज्ञानिक के प्रभाव साहित्य पर पदार्पण करते ही मनोवैज्ञानिक कहानियों की बाढ़ ही हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आ गयी। इस काल के लगभग प्रत्येक कहानीकार मनोविज्ञान से प्रभावित है। अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों का सशक्त मानसिक और बाह्य संघर्ष इनकी कहानियों का प्रमुख आकर्षण है। यद्यपि फ्रायड, एडलर, युंग जैसे मनोवैज्ञानिक के सभी विचारों से आधुनिक कथाकार सहमत नहीं हैं तो भी उन सबने व्यक्ति पर अवचेतन का प्रभाव स्वीकार किया है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में कथानक का धीरे-धीरे ह्रास होता गया और कहानियाँ चरित्र प्रधान होती गईं। चरित्र का संबंध सीधे मानव मन से होता है अतः मन का चित्रिकरण मनोवैज्ञानिक ढंग से करने लगा। केवल बाह्य मन का चित्रिकरण नहीं बल्कि अवचेतन के माध्यम से समस्या को देखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की नेक मानसिक विरूपतायें आज की कहानियों द्वारा अभिव्यक्त भी होती जा रही हैं। जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्रजोशी, यशपाल, अशक, अमृतराय, रांगेय राधव, धर्मवीर भारती आदि कहानीकारों ने इस ओर का पथ प्रशस्त कर दिया। इनके समय स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी मनोवैज्ञानिक कहानी की विकास युग कह सकते हैं और इनमें इलाचन्द्र जोशी की कहानियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनोविज्ञान का ग्रहण अधिक है। इदम और अहम का द्वन्द्व इनमें हम देख पाते हैं। जोशी की अधिकतर कहानियाँ चरित्र-प्रधान है इसलिए ही कथानक का ह्रास उसमें आरोपित होता है। जोशी के पात्र में पर केन्द्रित रहते हैं शेष संसार के साथ उसका सम्बन्ध उसके व्यक्ति पर कुव्यघात देता है और व्यक्तित्व अनेक भागों में बाँटा जाता है। इनके 'होली और दिवाली', 'डायरी की नीरस पृष्ठ', 'लजीले कांटे', 'धूपलता' आदि कहानी संग्रहों की कहानियों में पात्र अपने अन्तर की पीड़ा स्वयं विश्लेषण करते हैं।

जैनेन्द्र का मनोविज्ञान खुद उनके जीवन से आया है। अपने मानव जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्होंने अपने मनोविज्ञान से किसी एक व्यक्ति के संक्रान्त मनःस्थिति को उजागर करने का प्रयास किया है— "जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता मन की अथवा विज्ञान की ही नहीं अपितु अर्थगोपन और विशेष ज्ञापन की भी है। उन्होंने अपने अधिकांश कहानियों में तथ्य और अधिक बल दिया है। तथ्य अनुभूति पदार्थ होता है, कथ्य अन्वेषित।"¹ अपने व्यक्ति के मूल नैतिक प्रश्नों को उठाया है। आपने दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों में सूक्ष्म भावनाओं का समावेश किया है। ग्रामफोन के रिकार्ड की विजया धर में सारा दिन अकेली रहकर स्त्री कृतार्थ होने का भाव के बारे में सोचती है और काम के बारे में अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि प्रकट करती है— "स्त्री के माता होने में ही सतीत्व की क्या सम्पूर्ण कृतार्थता और संतृप्ति नहीं है। किसलिए स्त्री उमगती है, लजाती है, बहती है? और भागता हुआ पुरुष क्यों उसमें खींचा चला आता है? इस विश्व की योजना में क्या काम उसका उद्दिष्ट है। क्या उससे इष्ट है? किस अंतिम फल के लिए वह यहाँ है?"² इनके पात्र अपने ही संघर्ष का साक्षी है।

अज्ञेय का पात्र अत्यधिक अहंवादी है। यशपाल फ़ोयजियान मनोविज्ञान के समर्थक हैं और इनके पात्रों की दृष्टि काम पर ही केन्द्रित होता है। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में व्यक्ति की अनेक मानसिक विरूपताओं को अवचेतन के माध्यम से अभिव्यक्त होती जा रही है।

विकास युग के कहानीकार मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने का जो तरीका अपनाया पीढ़े आने वाले ने किसी न किसी रूप में मन के विविध भावों को पात्रों द्वारा व्यक्त करना शुरू किया। जो त्रासदियों का अनुभव समकालीन व्यक्ति भोगा है उसके कारण ढूँढ़ निकालकर इन्होंने अपने कहानियों में व्यक्त चित्रित किया। इन कहानीकारों में मोहन राकेश लब्ध प्रतिष्ठित हैं। अपनी कहानियों के विषय में मोहन राकेश ने स्वयं कहा है— “मेरी अधिकांश कहानियाँ सम्बन्धों की यंत्रणा को अपने अकेलेपन में झलने की कहानियाँ हैं, जिनमें ही इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अंकित करने का प्रयत्न है।”⁴ व्यक्ति सम्बन्धों में विशेषकर पति-पत्नी सम्बन्ध में आने वाले मानसिक प्रवृत्ति आदि को मनोवैज्ञानिकता के साथ उन्होंने चित्रित किया है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में— “महानगरीय जिन्दगी की यांत्रिकता और उसके दबाव से व्यक्ति के अकेले पड़ते जाने की मानसिकता का चित्रण मोहन राकेश ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है।”⁵

मन्नू भण्डारी की कहानियों में नारी-सुलभ भूख, प्यास, संयम, स्वार्थ, त्याग आदि के द्वन्द्व को संभ्रान्त रूप में बड़ी सच्चाई से उद्घाटित किया, नारी जागरण, नारी स्वतंत्रता, पुरुषों द्वारा नारियों पर होने वाला अत्याचारों का आक्रोश, नारी सहित लालसाओं की रक्षा आदि को आधार बनाकर मन्नू जी ने जो रचनायें की वह तत्कालीन नारी समाज की मनोवैज्ञानिकता का प्रतिबिंब है— “एक महिला कथाकार के नाते मन्नू भण्डारी ने नारी मनोविज्ञान को बहुत बारीकी से चित्रित किया। ‘भारतीय नारी’ के तथाकथित आदर्शों के घटाटोप में छटपटाती नारी की आशाओं, आकांक्षाओं और लालसाओं को उन्होंने निर्भ्रान्त वाणी दी है, जिससे उनके नारी पात्र भारतीय नारी के आकंटइप न रहकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का उद्घोष करते दिखाई देते हैं।”⁶ इस प्रकार वर्तमान कालीन नारी मानसिकता की जटिलताओं, विसंगतियों, लालसाओं, कुंठाओं आदि का मूर्त रूप देकर मन्नू जी ने अपनी कहानियों में युग चेतना को उकेरा है।

राजेन्द्र यादव व्यक्ति को पकड़ने के लिए बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर एक साथ चलने वालों के पक्ष में हैं। अतः उनकी राय में व्यक्ति के बाह्य रूप के विश्लेषण के साथ अन्तर्मन विश्लेषण भी होना चाहिए— अक्सर वह बाहरी परत के नितान्त विरोध में भी होती है, अतः व्यक्ति को पूरा पकड़ने के लिए भीतरी-बाहरी दोनों स्तरों पर एक साथ चलना पड़ता है। व्यक्ति की मानसिकता पर परिवेश का प्रभाव का उन्होंने ध्यान दिया है।

जीवन के वैविध्यपूर्ण संदर्भों में मानवीय संघर्षों और जटिलताओं को बड़ी तीव्रता के साथ अंकित करने वाले कहानीकारों में भीष्म साहनी का नाम उल्लेखनीय है। मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लोगों की मानसिक स्थितियों में वे स्वयं जीते और यथार्थ रूप में उनको अभिव्यक्ति देते हैं— “आधुनिकता बोध की जिस कसौटी पर कहानी को परखा जाने लगा है उससे वह सहमत नहीं हैं जहाँ कहानी जीवन से साक्षात्कार कराती है, उसके भीतर जाने वाले अन्तर्विरोधों से साक्षात्कार कराती है। वहाँ वह अपने आपको समय और युग का बोध भी कराती है।”⁷ पीड़ित मानव के मानसिक तनावों से उनकी सहानुभूति है।

नारी के अस्तित्व की खोज और प्रतिष्ठा को मुखरित करने वाली लेखिकाओं में उषा प्रियंवदा का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण आने वाले नई परिस्थितियों का, मानव मन पर मसेटने वाले प्रभाव का चित्रण अपनी कहानियों द्वारा व्यक्त किया

है। इसके साथ वर्तमान परिस्थिति में नारी जीवन की भूमिका भी व्यक्त करती है— “इन्होंने नारी मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों एवं संवेदनाओं का अत्यन्त कुशलतापूर्वक चित्रण किया है।”⁸

वर्तमान मानसिक जटिलताओं को पूर्ण यथार्थता के साथ अभिव्यक्ति देने में उषा प्रियंवदा बेजोड़ मानी जाती है।

स्वातंत्र्योत्तर कालीन कहानीकारों में ऐसे कई प्रतिभाशाली कहानीकार उल्लेखनीय हैं जिन्होंने युग की मानसिक चेतना को आत्मसात किया है और जीवन के नाना क्षेत्रों, गहराई से परखा है। गंगाप्रसाद विमल, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, मीपसिंह, रघुवीर सहाय, शैलेश मटियानी, रवीन्द्र कालिया, शिवानी कीर्ति खण्डेलवाल जैसों का नाम इनमें उल्लेखनीय है।

इस समग्र अवलोकन का निष्कर्ष यह निकलता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कहानी अनेक प्रकार की परिवर्तनों की दौड़ से गुजरकर अधिक यथार्थ से सीधा साक्षात्कार करने में समर्थ होती गयी है। जीवन के बाहरी और भीतरी भावों को उसने अपने अन्तर में समेट लिया। मानसिक द्वन्द्वों को मूर्त करने में वह सजग हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव मन का यथार्थ वैज्ञानिक दृष्टि के साथ उसमें प्रतिष्ठित होने लगा। मानव के दुस्स्थियों के प्रति मानवता के प्रति अखण्ड आस्था लेकर वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टिकोण के साथ मानव मन की अन्तःस्थलों पर तैरने वाली मनोवैज्ञानिक कहानियों की गहनता स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी क्षेत्र में हम देख सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. कहानीकार जैनेन्द्र अभिज्ञान और उपलब्धि— जगदीश पाण्डेय, पृ0 3
2. जैनेन्द्र कुमार— जैनेन्द्र की कहानियाँ (भाग-4), पृ0 83
3. प्रतिभा अग्रवाल— मोहनराकेश, पृ0 41
4. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी— हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ0 231
5. मोहनगुप्त— मन्नू भण्डारी प्रतिनिधि कहानी भूमिका, पृ0 2
6. राजेन्द्र यादव की कहानियाँ— यहाँ तक पड़ाव (2), पृ0 8
7. भीष्म साहनी : मेरी प्रिय कहानियाँ— भूमिका, पृ0 8
8. डॉ0 रामकुमार गुप्त— स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी, पृ0 39

छत्तीसगढ़ी साहित्य में अनुवाद की भूमिका

(श्रीमती अलका यादव)

पी.एच.डी. शोधार्थी

डॉ. सी. वी. रामन् विश्वविद्यालय,
करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)

डॉ. (श्रीमती) रेखा दुबे

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)

डॉ. सी. वी. रामन् विश्वविद्यालय,
करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)

सारांश

स्वतंत्रता पूर्व विद्वानों में यह धारणा थी कि छत्तीसगढ़ी में मात्र मौखिक साहित्य ही उपलब्ध है। लिखित या शिष्ट साहित्य के अभाव के कारण ही कोई व्याकरणिक स्वरूप नहीं है जबकि वास्तविकता यह है कि छत्तीसगढ़ का शिष्ट साहित्य भारतेंदु-काल से ही लिखित और प्रकाशित दोनों रूप में प्राप्य है। छत्तीसगढ़ी काव्य साहित्य समृद्ध है, जिसमें आदिकाल की वीरगाथात्मक प्रवृत्तियों के साथ वर्तमान नई कविता-शिल्प-विधि तक सभी धाराएँ अंतर्निहित हैं। छत्तीसगढ़ी कविता में छत्तीसगढ़ की धरती तो चित्रित है। छत्तीसगढ़ी कवि छत्तीसगढ़ माटी के वंदना मातृ-भूमि के रूप में करते हैं। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य ज्ञान का अक्षय भंडार है, जिसकी प्रत्येक लोक विधाओं पर अनेक साहित्यकारों ने अनुवाद किया है। अनुवाद देवदास के वृक्ष की तरह आत्मबल लिए हुए, सहज सौन्दर्य लिये हुए अपनी अलहङ्गता, कोमलता और सहजता में जन्म लिया व पला बढ़ा है।

“लिखव पढ़व भाई बहिनी मनन, जन-भाषा अघुवाय
आल्हा रोला सब लिखव, दुनियाँ सुनय-सुनाय।
लउहा-लउहा अब कख, पोथी सब अनुवाद
सबो पढ़य जन जन गुनय, सब ज्ञान जानै स्वाद।।”

छत्तीसगढ़ी साहित्य अत्यंत प्राचीन साहित्य है, स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् छत्तीसगढ़ी भाषा साहित्य और संस्कृति की दिशा में साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन कार्य हुए समय की गतिमान स्थिति के साथ साहित्य में अनुवाद की प्रक्रिया में अपना स्थान बनाया जो वर्तमान में अत्यधिक बहुउपयोगी है।

किसी भी भाषा में अनुवाद कार्य उस भाषा की सामर्थ्य को निर्दिष्ट करता है, छत्तीसगढ़ी में मौलिक सृजन बहुत हुए हैं लेकिन अनुवाद साहित्य की ओर भी ध्यान दिया गया है, इससे छत्तीसगढ़ी भाषा में अभिव्यक्ति कौशल का आभास सहज ही हो रहा है।

अनुवाद एक ऐसी तकनीक है जिसका आविष्कार मनुष्य ने बहुभाषिक स्थिति की विडम्बनाओं से बचने के लिए किया था। अनुवाद का लक्ष्य भाषा के भाव-भैरव को नहीं अपितु उसकी उसी तरह की व्यंजना को भी दूसरी भाषा में यथावत् रूपांतरित करना होता है। अनुवाद को “सांस्कृतिक सेतु” की संज्ञा दी जाती है।

‘अनुवाद प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना मूल लेखन और इसका इतिहास भी उतना ही भव्य और जटिल है, जितना साहित्य की दूसरी शाखा का।’

अनुवाद से तात्पर्य एक भाषा की सामग्री को दूसरी भाषा में प्रस्तुत करना है। अनुवाद एक प्रकार का आपरेशन है जिसके द्वारा एक भाषा की पाठ-सामग्री दूसरी भाषा में प्रतिस्थापित

की जाती है। हिन्दी भाषी एवं छत्तीसगढ़ी साहित्यकारों एवं लेखकों द्वारा अनेक साहित्य का अनुवाद किया है।

श्री प्यारेलाल गुप्त जी द्वारा अपनी पुस्तक "प्राचीन छत्तीसगढ़" में बड़े ही रोचकता से लिखते हैं – "छत्तीसगढ़ी भाषा अर्द्धमागधी की दूहिता एवं अवधी की सहोदरा है।"

छत्तीसगढ़ी और अवधी दोनों का जन्म अर्द्धमागधी के गर्भ से लगभग 1080 वर्ष पूर्व नवीं-दसवीं शताब्दी में हुआ था। डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा अपनी पुस्तक हिन्दी भाषा में लिखते हैं – "छत्तीसगढ़ी भाषा-भाषियों की संख्या अवधी की अपेक्षा कहीं अधिक है और इस दृष्टि से यह बोली के स्तर के ऊपर उठकर भाषा का स्वरूप प्राप्त करती है।"

संस्कृत के महाकवि कालीदास जी के "मेघदूत" का अनुवाद छायावाद के प्रवर्तक पद्म श्री पंडित मुकुटधर पाण्डेय जी द्वारा छत्तीसगढ़ी में किया गया। इस अनुवाद द्वारा साहित्यकारों ने अनुवाद क्रिया निरंतर चलती एवं भविष्य में अनुवाद साहित्य अपनी चरम सीमा में अग्रसर हो रहे हैं। अनेक साहित्यकारों द्वारा विभिन्न भाषा के साहित्य का छत्तीसगढ़ी में अनुवाद किए हैं। रामचरितमानस के कुछ भाग (काण्ड) का छत्तीसगढ़ी में अनुवाद 'स्व. हेमनाथ यदु' एवं सुंदरकाण्ड का 'श्री बाबूलाल सीरिया' ने किया। छत्तीसगढ़ी साहित्यकार एवं राज्य भाषा आयोग के पूर्व अध्यक्ष डॉ. विनय कुमार पाठक जी ने श्री मधुप पाण्डेय द्वारा रचित काव्य साहित्य "माँ" का भी अनुवाद छत्तीसगढ़ी साहित्य में "दाई" नाम से किये हैं।

'सेतु' के स्वरूप अनुवाद कार्य छत्तीसगढ़ी में विभिन्न भाषाओं से हुआ है, जैसे – छत्तीसगढ़ी में अनुवाद विभिन्न भाषाओं से हुआ है। जैसे- संस्कृत से छत्तीसगढ़ी में 'मेघदूत', 'ऋतसंहार' आदि हिन्दी भाषा से छत्तीसगढ़ी में 'बूढ़े हुए कबीर' अंग्रेजी व विदेशी भाषाओं का अनुवाद "नवा नियम" बाइबिल सोसायटी ऑफ इंडिया आदि का किया गया है।

संसार में सैकड़ों मानव समुदाय हैं। इनके व्यवहार की सैकड़ों भाषाएँ भी हैं। इन मानव समुदायों में एक-दूसरे को समझने और निकट आने की दिशा में इनकी अलग-अलग भाषाएँ एक बाधा उपस्थित करती हैं। इस बाधा को दूर करने और एक मानव समुदाय की ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि को सम्पूर्ण मानवता के लिए सुलभ कराने का महत्वपूर्ण कार्य अनुवाद के द्वारा ही सम्पन्न होता है। अनुवाद के द्वारा एक भाषा को बोलने और जानने वाले दूसरी भाषा बोलने और जानने वाले, दूसरी भाषा बोलने और जानने वालों तक अपने भाव और विचार का सम्प्रेषण कर सकते हैं। आज का युग ज्ञान-विज्ञान के विकास का युग है। मानव नित्य नये आविष्कार कर रहा है। इस युग में ज्ञान-राशि किसी एक मानव समुदाय तक सीमित होकर नहीं रह सकती। उसे विश्वव्यापी होना ही है और यह कार्य अनुवाद के द्वारा पूरा होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर अनुवाद की महत्ती आवश्यकता बन गया है जो विश्व के विविध मानव समुदायों को परस्पर जोड़ने और ज्ञान-विज्ञान को मानव मात्र के लिए सुलभ कराने का एक मात्र उपाय है।

छत्तीसगढ़ी साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में लेखन कार्य हुआ परन्तु अनुवाद लेखन की परम्परा वर्तमान में ज्यादा विकसित हो रही है। इस प्रकार से छत्तीसगढ़ी अनुवाद की अहम भूमिका स्थापित होगी जो कि हमारी अस्मिता को जीवंत रखने में सक्षम होगी। छत्तीसगढ़ी साहित्य पर शोध कार्य पूर्व में सम्पन्न हुए हैं।

छत्तीसगढ़ी साहित्यकार पं. सुंदरलाल शर्मा ने सर्वप्रथम छत्तीसगढ़ी में प्रबंध काव्य लिखने की परम्परा विकसित की तथा छत्तीसगढ़ी साहित्य में गद्य लेखन की परम्परा पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय ने किया।

प्रथम छत्तीसगढ़ी उपन्यास "हीरू के कहिनी" तथा "मोंगरा" है, इसके रचियता वशीधर पाण्डेय तथा शिवशंकर शुक्ल हैं।

वर्तमान समय में छत्तीसगढ़ी साहित्य में अनुवाद गद्य व पद्य करके छत्तीसगढ़ी साहित्य को समृद्ध बनाने का सराहनीय कार्य कर रहे हैं। दोहा, रोला, आल्हा, गीतिका से सजे हुए छंद, विश्व भर में छत्तीसगढ़ी साहित्य के गरिमा को बढ़ा रहे हैं –

“चाणक्य नीति” – भाव पद्यानुवाद, 2012

“बेटी-बेटा के मन म भर दव,

उत्तम गुण उत्तम संस्कार।

सत्कर्म करयँ कुलदीप बनय,

नीत नेम हर निभय हमार।”

“विदुर नीति” – भाव पद्यानुवाद, 2013

विदुर नीति के सभी श्लोक के पद्य का छत्तीसगढ़ी में अनुवाद किया गया है। विदुर नीति के चतुर्थ सर्ग का छत्तीसगढ़ी में अनुवाद –

“करू बानी कहूँ ज्ञान बोलव,

काबर मनखे बड़ दुख पाथे।

जीव ल बिकट दुख दे देथे,

मन मा जा के खुसर जाथे।”

गद्य एवं पद्य साहित्य के साथ-साथ छत्तीसगढ़ के अनेक साहित्यकारों ने गीत संग्रह का भी छत्तीसगढ़ी में अनुवाद किया है। “गीत संग्रह-2016” का छत्तीसगढ़ी में अनुवाद –

“चंदन कस तोर माटी हे, मोर छत्तीसगढ़ महतारी

छत्तीसगढ़ – महतारी ओ दायी, छत्तीसगढ़ महतारी

तोर कोरा हे आरूग-दायी, तँय सब के महतारी

तँय सबके महतारी हो दायी, छत्तीसगढ़ महतारी।

धान-कटोरा कहिथें तोला, धान-उपजथे भारी

धान उपजथे भारी ओ दायी, छत्तीसगढ़ महतारी।

साहित्य साधना में छत्तीसगढ़ी के महिला साहित्यकारों ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। छत्तीसगढ़ राज्य बनने के पूर्व आमिन माता, रोहणी बाई, सरस्वती देवी पाण्डेय, हेमलता, रमा शर्मा, पद्मा डडसेना, सुनीता पाठक का लेखन छत्तीसगढ़ी साहित्य के लिए धरोहर हैं। छत्तीसगढ़ राज्य बनने के पश्चात् छत्तीसगढ़ी भाषा साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए डॉ. निरूपमा शर्मा, शकुन्तला शर्मा, सरला शर्मा, डॉ. सत्यभामा आडिल, अनुसूइया अग्रवाल, सुधा वर्मा, उर्मिला शुक्ल, शकुन्तला तरार, वसन्ती वर्मा, तुलसी देवी तिवारी, इंदिरा राय, डॉ. स्नेहप्रभा ‘मोहनीश’, चन्द्रकला त्रिपाठी, डॉ. नलिनी श्रीवास्तव, शशि दुबे, डॉ. सुनीता मिश्रा आदि का योगदान उल्लेखनीय है।

किसी भी राज्य, देश को आगे बढ़ाने में वहाँ के कला-साहित्य व संस्कृति अपना बहुमूल्य योगदान होता है। छत्तीसगढ़ी साहित्य के अप्रतिम सुंदरता वाले धरती में एक से बढ़कर एक विद्वान व विभूषीगण हैं, जिन्होंने अपने कला, लेखन व संस्कृति से छत्तीसगढ़ी साहित्य को नया आयाम दिए हैं। छत्तीसगढ़ी साहित्य अपनी सुंदरता को अपने आप में छुपा के रखा है, छत्तीसगढ़ी साहित्य में नित नये सृजन किए जा सकते हैं।

किसी भाषा व अनूदित साहित्य उसकी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य को उद्घाटित करता है। विकासशील भाषा या आंचलिक विभाषा के लिए तो मौलिक साहित्य के समांतर अनूदित साहित्य का निर्माण भी आवश्यक प्रतीत होता है। इससे आदर्श भाषा और साहित्य को अन्य भाषा में आत्मसात् होने का अवसर तो मिलता है, लेकिन अनूदित भाषा और साहित्य भी उसे हृदयंगम कर

अपनी भाषा सक्षमता को उद्घाटित करता है। छत्तीसगढ़ में भी अनुवादित कार्य हुए हैं, जो संतोषप्रद कहे जा सकते हैं।

छत्तीसगढ़ी गद्य की अपेक्षा पद्य में ही अनूदित कार्य केन्द्रित है, जिसका प्रमुख कारण पद्य की लोकप्रियता और जन-मन में उसका प्रचार किया है। छत्तीसगढ़ी काव्य के विकासकाल से ही अनूदित कार्य की शुरुआत पंडित शुकलाल प्रसाद पाण्डेय ने शेक्सपीयर के 'कामेडी ऑफ एरर्स' नाटक के 'भूलभुलैया' शीर्षक से प्रकाशित पंडित गंगा प्रसाद पाण्डेय के अनुवाद का छत्तीसगढ़ी काव्य रूपांतरण सन् 1918 में "पुरुञ्जुरु" के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें दो जुड़वें भाइयों की कथा है, जो बचन में बिछुड़ जाते हैं तथा एक ही शहर में रहने के कारण स्वतः असमंजस में पड़कर दूसरों को भी धोखा दे जाते हैं। एक शकल के दो लोग को अलग-अलग देखकर बाहरी लोग तो भ्रम में पड़ जाते हैं, किन्तु उनके घर वाले तक भ्रमित होकर विस्मयकारी दृश्य उपस्थित करते हैं। इस तरह हास्य से सराबोर प्रबंधकाव्य से गुंफित छत्तीसगढ़ी अनुवाद की पंक्तियाँ –

छतपट्टा! मुड़वा। ननजतिया!! निर्दयी! चड़ाल! टरातिया
जुटहा! गरुमार!! मुड़पिरवा! परे तोर जांगर म किरवा!!
आज अतेक बेर हॉ आइस, घर म मालिक नई आइस।
कहिके 'संसो नईये तोला' मारिन बहिरिच बाहिरी मोला।।

अनुवाद के अनंतर कवि अपनी भावना भी जोड़ देता है। डॉ. विनय कुमार पाठक के अनुसार – 'साधना, भक्ति व दर्शन के यत्किंचित सार्थक-सभिप्राय शब्दों को परिभाषित करने के लिए कश्यप जी ने टिप्पणी देकर पाण्डुलिपि को बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। छत्तीसगढ़ी गद्य-साहित्य में अनुवाद की स्थिति नगण्य है। रूसी लोककथाओं के हिंदी से छत्तीसगढ़ी अनुवाद का कार्य रायगढ़ निवासी अमीचंद अग्रवाल 'राहगीर' ने किया है।

छत्तीसगढ़ी अनुवाद साहित्य काव्य में अधिक और गद्य में नगण्य रहा है। आवश्यकता है, अच्छे ग्रंथों के भी अनुवाद-कार्य हों। इससे भाषा सामर्थ्य के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सद्भाव को भी संबल मिलेगा।

संदर्भ ग्रंथ :

1. अनुवाद विज्ञान – डॉ. भोलानाथ तिवारी
2. अनुवाद सिद्धांत और समस्याएँ – रविन्द्रनाथ श्रीवास्तव, कृष्ण कुमार गोस्वामी, दिल्ली।
3. अनुवाद कला कुछ विचार – आनंदप्रकाश खेमरगी तथा वेदप्रकाश।
4. वृहद् अनुवाद चंद्रिका – चंद्रधर नौटियाल 'हंस' शास्त्री।
5. अनुवाद प्रक्रिया एवं प्रयोग – छबिल कुमार मेहर।
6. छत्तीसगढ़ अनुवाद परम्परा, प्रयोग अरु महत्व – डॉ. सोमनाथ यादव (स्मारिका, छत्तीसगढ़ राजभवन आयोग)

बाल श्रम (एक समाजकास्त्रीय अध्ययन)

सुमित कुमार सिंह

M.A UGC.NET, Sociology Department, Patna University, Patna

बाल श्रम का इतिहास सभ्यता के शुरुआत से ही प्रारम्भ होता है किन्तु औद्योगिकरण की प्रक्रिया के तेज होने से इसका रूप और भी विकराल हो गया है। भारत में अनेक बालकों कड़े पारिवारिक आय बढ़ाने या अपना निर्वाह करने के लिए श्रमिक के रूप में काम करना पड़ता है। इन्हे होटलों, रेस्तराओं, चाय की दुकान, ढाबाँ आदि पर काम करते हुए देखा जा सकता है।

यद्यपि भारतीय संविधान में अनुच्छेद 24 में 14 वर्ष से कम उम्रके बच्चों लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने हेतु राज्यों को निर्देश दिये गये हैं तथा कारखानों, खानों तथा अन्य संकटपूर्ण नियोजनों पर बालश्रम पर प्रतिबंध लगाया गया है। जनगणना 2011 के अनुसार देश में 5-14 वर्ष आयु के 25.96 करोड़ बच्चे हैं जिनमें 1.01 करोड़ बाल श्रमिक हैं। वहीं पूरी दुनिया में 15.02 करोड़ बच्चे बाल श्रमिक हैं, वैश्विक स्तर पर अगर देखा जाए तो पाकिस्तान में बनने वाली कालीनों का 80% 15 वर्ष से कम उम्रके बच्चे ही बनाते हैं जबकि इण्डोनेशिया में तम्बाकू बीनते हैं, बांग्लादेश में बड़े पैमाने पर टी-शर्ट बनाने वाले उद्योग में कार्यरत हैं। दक्षिण अफ्रीका में हजारों बच्चे नौकरों के रूप में कार्य करते हैं। इनमें से कई बाल श्रमिकोंसे कठोर शारीरिक श्रम लिया जाता है तथा उनसे निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया जाता है और उनको दी जाने वाली मजदूरी भी निम्न रहती है तथा उनको व्यस्कों की तरह निम्न दशाओं में काम करना पड़ता है। इनमें से कई को विश्राम और मनोरंजन के अवसर नहीं मिल पाते। ऐसे बालकों को शिक्षा भी प्राप्त नहीं हो पाती। बाल मजदूरी का घिनौना रूप बाल वैश्यावृत्ति है। एक अध्ययन के अनुसार 15% वेश्याएँ 15 वर्ष से कम उम्र में ही वेश्यावृत्ति के पेशे में आ जाती हैं।

हमारा देश अपनी आजादी की 73 वीं सालगिरह मना चुका है। हमारी अर्थव्यवस्था आर्थिक दृष्टि से मजबूत राष्ट्रों के साथ कदमताल मिलाने लगी है। देश में करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि हो रही है, इसके बावजूद पूरे देश में बाल मजदूर देखे जाते हैं। बाल श्रम के खिलाफ काम कर रहे नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित कैलाश सत्यार्थी के संगठन बचपन बचाओ आंदोलन की रिपोर्ट कहती है कि भारत में लगभग सात से आठ करोड़ बच्चे अनिवार्य शिक्षा सेवांचित है। इनमें अधिकांश बच्चे संगठित अपराध रैकेट का शिकार होकर बाल मजदूरीके लिए मजबूर किये जाते हैं जबकि बाकि बच्चे गरीबी के कारण स्कूल का मुँह नहीं देख पाते। इतना ही नहीं सैकड़ों बच्चों को उनके अभिभावकही अपने काम में मदद के लिए उन्हें स्कूल नहीं भेजते हैं। इसके अलावा हर साल हजारों बच्चों को तस्करी कर एक राज्य से दूसरे राज्यों में ले जाया जाता है। यहाँ तक की बाल मजदूरी और बाल वैश्यावृत्ति के लिए इनकी खरीद फरोख्त की घटनाएँ भी सामने आती हैं। जबतक जन-जन के अंतर्मन में बाल मजदूरों के प्रति संवेदना नहीं परस्फुटित होती तबतक उक्त कलंक से मुक्ति मुश्किल होगा।

बाल श्रमिकों के मानक पर विश्व में मतैक्य नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार 15 वर्ष तक श्रमिक को बाल मजदूर माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संगठन के अनुसार 18 वर्ष से कम आयु का श्रमिक बाल श्रमिक कहलाता है। अमरीकी संविधान 12 वर्ष से कम आयु को बाल श्रमिक मानता है वहीं ब्रिटेन में 13 वर्ष से कम आयु वाले श्रमिक को बाल श्रमिक के श्रेणी में रखा जाता है। जब हम भारत की बात करें तो यहां भारतीय संविधान के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु का ऐसा बालक जीविकोपार्जन अथवा पारिवारिक कर्ज चुकाने लिए काम करता है तो वह बाल मजदूर कहलाता है।

D. LALUZ SILVA नेंबालक के बारे में कहा है कि बालक वह है जिसे शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए व्यस्कों पर निर्भर रहना पड़ता है जब तक कि वे खुद को व्यवस्क वातावरण में ने ढाल लें।

बालक शब्द से अभिप्राय उस अवस्था या आयु से है जिसके तहत बालक को मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक विकास के लिए संरक्षण आवश्यक है जब तक कि स्वतंत्र रूप से व्यस्क के समरूप न हो जाए।

कारखाना अधिनियम, 1948 के अनुसार :- श्रमिक का अभिप्राय वैसे व्यक्ति से है जो किसी विनिर्माण-प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त परिषर के किसी भाग की सफाई में या उससे संबद्ध किसी अन्य प्रकार के काम में नियोजित हो, चाहे इसकी जानकारी नियोजनक को हो या नहीं, पारिश्रमिक मिलेया न मिले,श्रमिक कहलाता है।

यदि 'बाल' एवं 'श्रम' दोनों की परिभाषा को आपस में जोड़ दे तो बाल श्रम को सही रूप से परिभाषित किया जा सकता है। यहाँ 'बाल' एक खास उम्र को दर्शाता है और 'श्रम' काम की प्रकृति, परिणाम एवं उत्पादन करने की क्षमता को दर्शाता है।

अतःहम कह सकते है कि बाल-श्रम बच्चों की कुल जनसंख्या का वह भाग जो काम में भाग लेता है चाहे इसके लिए उसे काम के अनुसार मजदूरी मिले या न मिले।

बाल श्रमिक का सम्बंध उन बच्चों से नहीं है जो पारिवारिक जमीन पर खेती में मदद करतेहैं या घरेलू कार्य करते हैं, बल्कि बाल श्रमिक में वे बच्चे शामिल है जो

- स्थायी रूप से व्यस्क के अनुरूप जिंदगी गुजर-बसर कर रहे हैं।
- वैसे स्थिति में कार्यरत हैं जो उनके स्वास्थ्य, शारीरिक एवं मानसिक विकास में हानि पहुंचा रही है।
- कम मजदूरी पर लम्बे घंटे के लिए कार्यरत हैं।
- लगातार बुनियादी शिक्षा एवं प्रशिक्षण के अवसर से वंचित रहते हैं जो शायद केवल उसके लिए एक बेहतर भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर सकता था।

बाल श्रम हर युग में विद्यमान रही है। प्रायः मनुष्य अपने स्वार्थ, विशेषकर आर्थिक लाभ के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। व्यापारियों को अपना उद्योग चलानेके लिए बाल श्रमिक एक सस्ता साधन हैं।

बाल मजदूरों के साथ किसी प्रकार का हड़ताल या यूनियनबाजी या खतरा नहीं होता और कम वेतन पर अधिक समय काम करते हैं जिसके कारण अनेक नियोजक बाल मजदूरों को प्राथमिकता देते हैं लेकिन इस आर्थिक लाभ की कितनी बड़ी सामाजिक कीमत समाज को चुकानी पड़ती है इसका आकलन करना आसान नहीं है।

भारत में बाल श्रमिकों की संख्या कुछखास उद्योगों में अधिक देखने को मिलती है और ये उद्योग बाल श्रमिकों के स्वास्थ्य के लिए बहुत ही खतरनाक हैं फिर भी बाल श्रमिकों की संख्या बढ़ती जा रही है ये उद्योग है :

(1) माचिस एवं आतिशबाजी उद्योग—

इस उद्योग में बच्चे पोटैशियम क्लोरेट, फॉस्फोरस एवं जिंक ऑक्साइड जैसे विषैले खतरनाक रसायनों के साथ ये प्रतिदिन 12 घंटे तक काम करते हैं।

(2) पत्थर खनन उद्योग—

इस उद्योग में काम करने वाले बच्चों को फेफड़े सम्बंधी रोग होने का डर बना रहता है।

(3) मत्स्य पालन—

इसमें बच्चों को दोपहर 4 बजे से अगले दिन 7 बजे सुबह तक काम करना पड़ता है।

(4) हथकरघा उद्योग—

इस उद्योग में काम करने वाले बच्चों को टी.वी., दमा, जलन, नेत्रदोष आदि बिमारियों का सामना करना पड़ता है।

(5) बिड़ी उद्योग—

इस उद्योग में काम करने वाले बच्चों को टी.वी. जैसेबिमारी का सामना करना पड़ता है।

(6) कालीन उद्योग—

इस उद्योग में बहुत अधिक बाल श्रमिक काम करते हैं और उनसे 15–16 घंटे तक काम लिया जाता है। ऐसे में उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

बाल श्रम के कारण की बात करते हैं तो इसके कई कारण सामने आते हैं। कुछ महत्वपूर्ण कारणों में

- ❖ **गरीबी** —बालश्रम समस्या को गंभीर रूप देने में सबसे प्रमुख कारण गरीबी है। गरीबी ही वो कारण है जो बच्चों को कच्ची उम्र में काम करने पर विवश करती है। आर्थिक दबाव के कारण गरीब परिवार के माता – पिता बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, भविष्य निर्माण की गतिविधियों पर धन खर्च करने की स्थिति में नहीं होते हैं। जिस उम्र में बच्चों को पढ़ना चाहिए उस उम्र में गरीब परिवार के बच्चे मेहनत—मजदूरी करना प्रारम्भ कर देते हैं।
- ❖ **परिवार का वातावरण के कलहपूर्ण होना**— परिवार के कलहपूर्ण वातावरण के कारण बच्चों में असंतोष की भावना उत्पन्न हो जाती है। जिस कारण बच्चेघर छोड़ कर अपने बेहतर भविष्य के लिए बालश्रम करने लगते हैं।
- ❖ **परम्परागत उद्योग धंधे**— बहुत से परिवार कुछ उद्योगों को परम्परागत रूप से वंशानुगत रूप से चला रहे हैं। ऐसे परिवारों में बच्चों को अल्प आयु में ही उद्योगों में काम करना पड़ता है ताकि वह भी उत्पादन प्रक्रिया में अपना योगदान दे सकें।
- ❖ **बेरोजगारी**—बेरोजगारी बढ़ने से गरीब परिवारों में जीवन निर्वाह के लिए संकट उत्पन्न हो जाता है। ऐसे में बाल श्रम को पनपने का अवसर मिल जाता है।
- ❖ **नियोजकों की लोभी प्रवृत्ति**—उद्योगों के मालिक अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से बच्चों को काम पर रखते हैं। क्योंकि ये काम व्यस्क जितना करते हैं और उनको मजदूरी कम दिया

जाता है ये हड़ताल तथा यूनियनबाजी नहीं करतेये अधिक वेतन के लिए आवाज भी नहीं उठाते हैं, जिसके कारण मालिक को ज्यादा लाभ मिल जाता है।

- ❖ **नियमों एवं कानूनों का प्रभावी न होना**— बाल श्रम को रोकने के लिए सरकार द्वारा नियम कानून तो बनाए गए हैं लेकिन इन कानूनों का काराईसे पालन नहीं हो पाता है जिसके कारण दोषी लोगों को सजा नहीं मिल पाती जिसके कारण उनके अंदर कानून का डर नहीं रहता है। और बाल श्रममें कमी नहीं हो पाती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि बाल श्रम एक गंभीर समस्या है। जिसके अनेक कारण हैं। परन्तु इस समस्या को अगर खत्म करना है तो शिक्षा के प्रसार को हर एक बच्चे तक पहुँचाना होगा ताकि बच्चा शिक्षा प्राप्त कर अपने ज्ञान को बढ़ा सके और बाल मजदूरी से बच सके साथ ऐसी परिस्थितियों को भी रोकना होगा जिसके कारण बच्चे बाल श्रम करने को मजबूर होते हैं। सरकार को रोजगार काश्रृजन करना चाहिए, गरीबी को खत्म करने की दिशा में काम करना चाहिए तथा जो नियम कानून बाल श्रम को रोकने के लिए बनाये गये हैं। उनको काराई से लागू करना चाहिए जिससे बाल श्रम जैसी बड़ी सामाजिक समस्या को रोकी जा सके। जो बाल श्रमिकहैं उनकी पहचान करके उनको बाल श्रम से मुक्ति दिलाई जाए, तथा उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य की समुचित व्यवस्था की जाए, ताकि वे भी अपना समुचित विकास कर एक सामान्य पूर्वक जीवन जी सकें और देश और समाज के विकास में अपना योगदान दे सकें। कयोंकि आज के बच्चे ही देश के आने वाले कलकी भविष्य हाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह बाल श्रमिकों के प्रति संवेदनशीलता दिखाये और उनकी सहायता करे। बालश्रम की रोक थाम के लिए सरकार को आम नागरिकों की सहायता लेनी चाहिए तथा उनके साथ मिलकर जागरूकता अभियान चलाना चाहिए। गरीबी उन्मूलन, शिक्षा, रोजगार आदि के बारे में सरकार द्वारा चलाई गयी योजनाओं के बारे में बताना चाहिए ताकि लोग इसका लाभ ले सकें। और बाल श्रम को रोकने में सरकार का सहयोग कर समाज से इसको खत्म कर सकें।

संदर्भ सूची

1. गोपाल भार्गव – चाइल्ड लेवर वॉल्यूम 2
2. यूनीसेफ—चाइल्ड लेवर इन इण्डियन बैकग्राउण्ड फार ए प्रजनटेशन रिप्रजेन्टेटिव,यूनीसेफ, पटना एट द मिटिंग ऑफहयूमन राइटस् एसोसियसन
3. बाल अधिकार—भारतीय परिप्रेक्ष्य में एस.पी. श्रीवास्तव प्रोफेसर समाजकार्यविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,लखनऊ
4. बाल श्रम, (प्रतिषेध और विनियमन अधिनियम 1986
5. माइनर वीरन –द चाइल्ड एण्ड द स्टेट इन इण्डिया
6. लक्ष्मीधर मिश्रा—चाइल्ड लेबर इन इण्डिया
7. योजना—बाल श्रम समस्या एवं समाधान
8. कुरुक्षेत्र—बाल श्रमिक का बदहाल बचपन चाइल्ड लेबर, कॉलेज एवं रिमेडी योजना
9. रोली शिवहरे, प्रशांत दुबे – बाल श्रम कुछ कानूनी पहल
10. यूनीसेफ 2003 – दुनिया के बच्चों की स्थिति, प्रत्येक बच्चों के लिए स्वास्थ्य शिक्षा, समानता, संरक्षण तथा मानवता का उत्थान

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों की भाषा शैली

विनोद कुमार यादव

शोधार्थी पी-एच0डी0 (हिन्दी विभाग), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

शोध सारांश

काशीनाथ सिंह के कथा-साहित्य में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदि मुद्दों से मुठभेड़ होती है। विगत सातवें दशकों से वे कथा-साहित्य लेखन में कार्यरत् रहे हैं, उनके ज़्यादातर समकालीनों ने कब का साहित्य लेखन से संन्यास ले लिया। काशीनाथ सिंह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कहीं भी अपने आप की पुनरावृत्ति करते हुए नजर नहीं आते हैं। 'काशी का अस्सी' उपन्यास लिखने वाला साहित्यकार जिनकी भाषा में गाली-गलौज है, भाषा का मस्त मौलापन अंदाज है, फक्कड़पन है, वहीं लेखक 'रेहन पर रघू' 'महुआचरित' 'उपसंहार' जैसा उपन्यास में आकर एक दूसरी भाषा रचता है, यकीन नहीं होता कि 'काशी का अस्सी' लिखने वाला लेखक उपसंहार जैसा उपन्यास लिख सकता है। काशीनाथ सिंह ने न केवल विधागत परम्पराओं को तोड़ने का साहस किया है, बल्कि भाषा एवं शिल्प के स्तर पर भी परम्परागत मानकों का खण्डन किया है। उनके पास लोकभाषा के साथ-साथ उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी आदि अन्य भाषिक संसार के शब्द भी व्यापक स्तर पर मौजूद हैं। निःसंदेह काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में भाषा के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं, जिससे उनके उपन्यासों की भाषा बड़ी सुदृढ़, सरल और प्रभावशाली दिखलाई देती है। इससे पाठक काशीनाथ सिंह के उपन्यासों से पढ़ता हुआ एकाकार सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

विशेष शब्द:-

वैधव्य, अंडोलन, अक्किल, मुलुक, यतीम, तरजुमा, कार्डिन, एबार्सन, अर्नामिंट, टम्परामेंट, कौंसिल

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों की भाषा शैली:-

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों की भाषा आम जनता की भाषा है उपन्यास जिस समग्र रूप में समाज का चित्रण करता है, उसके लिए भाषा के सघन प्रयोग की उसी सीमा तक आवश्यकता होती है। यह कहा जा सकता है कि औपन्यासिक प्रगति का एक आधार उस भाषा की समृद्धि भी है जो उसमें प्रयुक्त होती है। साहित्य और भाषा घनिष्ठ रूप में पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं। इस संबंध में शान्तिस्वरूप गुप्त कहते हैं कि-"भाषा उपन्यासकार के हाथों में एक शक्तिशाली उपकरण है। वह शब्द योजना, वाक्य संरचना, वाक्य विन्यास और ध्वनि पैटर्न के प्रयोग द्वारा अपनीबात को विशेष प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने में समर्थ होता है। पाठक पर विशेष प्रभाव डाल सकता है।" इसीलिए उपन्यास की भाषा सहज, सरल एवं स्वाभाविक होती है तो उपन्यास भावात्मक एवं प्रभावशील बनता है। वस्तुतः भाषा का प्रयोग तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण से होता है तो अधिक श्रेयस्कर होता है परन्तु उसमें सरलता का होना अनिवार्य है जिससे आम

जनता परिचित हो जाय। जब उपन्यासों में ऐसी भाषा सरल और स्वाभाविक होगी तभी परस्पर समन्वय होगा। अन्यथा अलगाव बना रहेगा जिससे पाठक अथवा श्रोता उससे एकाकार नहीं कर पाएगा जिसके परिणामस्वरूप वस्तु उच्चकोटि की नहीं मानी जाएगी।

तत्सम् शब्दः—

ऐसे शब्द जो मूल रूप में संस्कृत के हैं, किन्तु व्यवहार में प्रचलित होने के कारण हिन्दी में ले लिए गये, उन्हें तत्सम् शब्द कहते हैं। काशीनाथ सिंह ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं में हिन्दू, मुस्लिम, अंग्रेजी, ईसाई आदि संस्कृतियाँ विद्यमान हैं। इन संस्कृतियों के साथ ही साथ इनसे सम्बन्धित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ सर्वप्रथम तत्सम् शब्दों का परिचय दिया जा रहा है। काशीनाथ सिंह कृत 'अपना मोर्चा', 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रघू', 'महुआचरित' आदि उपन्यासों में प्रयुक्त कुछ तत्सम् शब्द इस प्रकार हैं—अमूल्य, उत्साह, प्रसंग, बलिष्ठ, दर्शन, अमृत, ज्योति, प्रतीक्षा, घृणा, उन्मुक्त, क्रोध कंठ, आकर्षण, अतिशयोक्ति, संस्कार, आत्मविश्वास, श्रद्धांजलि, अग्नि, आलिंगन, ईश्वर, आश्चर्य संन्यासी, सूर्यास्त आदि।

तद्भव शब्दः—

हिन्दी के वे शब्द जो संस्कृत शब्दों के बिगड़े हुए रूप होते हैं, उन्हें तद्भव शब्द कहते हैं। काशीनाथ सिंह ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने जीवन को अपने कथासाहित्य में यथार्थ रूप में दर्शाया है। इनके उपन्यासों में आये हुए कुछ तद्भव शब्द इस प्रकार से हैं—मुँह, गाँव, अँधेरा, पतोहू, हाँथ, ऊँचा, आँसू, गेहूँ, आँख, खंडहर, मक्खियाँ, महीना, दोपहर खेत, तीरथ, मौत, हँसी, परसों, सपना, आदि। वस्तुतः काशीनाथ सिंह गाँव—देहात के कथाकार हैं, इसलिए उन्होंने तद्भव शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है।

देशज शब्दः—

काशीनाथ सिंह ग्रामीण चेतना के कथाकार हैं। उनके कथा—साहित्य में ग्रामीण जीवन के शब्दों का प्राचुर्य है। उन्होंने वाक्य प्रयोग में ठेठ ग्रामीण भाषा का प्रयोग किया है। देशज शब्द के सम्बन्धों में डा० वासुदेव नंदन प्रसाद ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि—“देशज वे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता, मैं अपने ही देश में बोलचाल से बने हैं, इसलिए देशज कहते हैं।”² काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में देशज शब्दों का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है। 'अपना मोर्चा' उपन्यास में “गेहूँ, मटर, सरसों और चने के टप्पों के ऊपर गेंद की तरह उछलने लगती है हवा चाँद से खेलती है और बढ़ा गाँव अलाव की गर्मी में मोढ़े पर बैठा कान में उँगली डाले गा रहा है।”³ कुछ उपन्यासों के देशज शब्दों को निम्नलिखित प्रकार से देखे जा सकते हैं—हथवा, लोटवा, कटोरा, सोना, कोल्हू, सोनार, चूल्हा, मड़ई, चिलम, दालान, फटहा, विसवाल, अंडोलन, अधरम, पियास, बजरिया, मड़ई, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

विदेशी शब्दः—

काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यासों में विदेशी शब्दों का प्रयोग बड़े सहज ढंग से किया है। लेखक ने नपे—तुले शब्दों द्वारा बोलचाल की भाषा में विचारों की अभिव्यक्ति की है। उनके उपन्यासों में विदेशी शब्दांतर्गत अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यह

समाज की व्यावहारिकता के कारण आ रहे हैं, क्योंकि यहाँ के समाज में ऐसी भाषा ही बोलचाल की भाषा बनी हुई है तब इससे अलग नहीं हुआ जा सकता है।

अरबी शब्द:-

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में अरबी शब्द निम्न हैं—अखबार, अदालत, आईना, औरत, अमीर, आदमी, इंतज़ार, इन्साफ, इस्तीफ़ा, इज़्जत, कुर्सी, कर्ज़, किस्मत, कीमत, कफ़न, ख़त, ख़िदमत, लिफ़ाफ़ा, ग़रीब, रोज़ा, ग़दर, जलसा, जहाज़, तूफ़ान, तक्दीर, ताक़त, दिमाग, फ़कीर, फ़ैसला, हाकिम आदि अरबी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन सबके बावजूद उपन्यासों में शब्दों के माध्यम से बोझिलता नहीं देखने को मिलती है।

फारसी शब्द:-

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में अरबी शब्दों के साथ-साथ फारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'अपना मोर्चा', 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रग्घू', 'महुआचरित', 'उपसंहार' उपन्यास में प्रयुक्त फारसी शब्द निम्नलिखित हैं—अफ़सोस, आवाज़ आफ़त, उम्मीद, उस्ताद, कुश्ती, खुशामत, गर्दन, गुलाब, चिराग़, ज़मीन, ज़िंदगी, नमाज़, फौलाद, फ़रियाद, हफ़ता आदि फारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

भाषा सौन्दर्य के साधन:-

वस्तुतः किसी भी उपन्यासकार की सार्थकता उसमें व्यक्त विचार और भावों को सहज, सुन्दर और आकर्षक ढंग से अभिव्यक्त करने में होती है। काशीनाथ सिंह ने अपने अभिव्यक्ति को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए आलंकारिक भाषा मुहावरे, लोकोक्तियों, राजनीतिक नारों, बिंब, प्रतीक, आदि प्रमुख उपकरणों का सार्थकता के साथ प्रयोग किया है। इससे इनके उपन्यासों की रोचकता और स्पष्टता को बराबर देखा जा सकता है।

लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे का प्रयोग:-

काशीनाथ सिंह ग्रामीण चेतना के कुशल चितरे हैं। ग्रामीण अंचल में लोकोक्तियों और मुहावरों का विशेष प्रयोग होता है। लोकोक्तियों और मुहावरों की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वे भाषा की प्रवाहमयता तथा भाषा संचार के माध्यम से अपने चुटीले अन्दाज के कारण चमत्कार उत्पन्न करते हैं। काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—'पुरवा बयार और रंडरोवन बड़ा असगुन होता है।', 'काम करो बनिए का, मजा ल्यो दुनिया का', 'जहाँ गई डाढ़ों रानी, वहाँ पड़े पाथर पानी', 'बलिया जिला घर बा, केकरा से डर बा', 'न ऊधो का लेना, ना माधो का देना', 'भाई का जियरा गइया अस, बेटवा का जियरा कसइया जस', 'मँगनी की बछिया के दाँत नहीं गिनते'। इस तरह के अनेक उदाहरण उपन्यासों में देखने को मिलता है। काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों का प्रयोग उपन्यास की भाषा में चमत्कार और प्रवाह उत्पन्न करते हैं। इस तरह की भाषा के प्रयोग के द्वारा भाषा में वक्रता और विदग्धता बनी रहती है।

राजनीतिक नारे एवं सूक्तियों का प्रयोग:-

काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में विविध भाषागत नवीनता दिखाई पड़ता है इनके उपन्यासों में राजनीतिक नारे एवं सूक्तियों के प्रयोग से उपन्यास के कथ्य को रोचकता प्रदान करते हैं। राजनीतिक नारे व सूक्तियों का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है—'ठाकुर

बुद्धि यादव बल, झंडू हो गया जनता दल', 'रामलला हम आँगें मंदिर यहीं बनाँएंगें', 'बच्चा-बच्चा राम का भाजपा के काम का', 'रामलला तुम मत घबराना हम तुम्हारे साथ हैं', उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यासों में समुचित राजनीतिक नारे व सूक्तियों का प्रयोग करके भाषा में चमत्कार उत्पन्न किया है।

शैली का प्रभाव:-

उपन्यासकार जिस ढंग से अपने विचार और भावनाओं को अभिव्यक्त करता है उसे शैली कहते हैं। ऐसी शैली एक ओर लेखक के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है तो दूसरी ओर उन पात्रों के चारित्रिक गुण-अवगुणों एवं स्वभावगत विशेषताओं का संकेत करती है जिनके वक्तव्यों और विचारों को उपन्यासकार अपने विवरण विश्लेषण का विषय बनाता है। इस सम्बन्ध में यह कथन देखिए-“शैली का सम्बन्ध सिर्फ रचना से ही नहीं होता बल्कि रचनाकार से भी होता है।”⁴ वर्तमान समय में उपन्यासों की सफलता बहुत कुछ शैली पर ही निर्भर करती है। काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यासों में भी विभिन्न प्रकार की शैली का प्रयोग किया है, जिसमें वर्णात्मक, व्यंग्यात्मक, आत्मकथात्मक, मनोविश्लेषणात्मक शैली आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। लेखक ने अपने उपन्यासों में प्रयुक्त हुई प्रमुख शैलियों का विवेचन इस प्रकार किया है।

वर्णात्मक शैली:-

काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यासों में वर्णात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ घटनाओं का वर्णन, पात्रों का चरित्र-चित्रण और वातावरण का विश्लेषण करना हो। लेखक ने इस शैली को अपना कर अनेक उपन्यासों का प्लाट तैयार किया। इनके उपन्यासों में आये कुछ वर्णात्मक शैली के उदाहरण निम्न प्रकार से देखे जा सकते हैं। 'अपना मोर्चा' उपन्यास में वर्णात्मक शैली का उदाहरण कुछ इस प्रकार है-“भई देखो, पेशा एक साँचा होता है और मैंने तुम्हारे विश्वविद्यालय में ज्यादातर लूले-लँगड़े, ऐँचा-ताने, टेढ़े-बॉकुच चश्मदीद गवाहों जैसा ही लोग देखे हैं, जिन्हें देखकर लिहो-लिहो करने की तबीयत होती है। सोचा अगर वे अध्यापक न होते तो क्या होते?”⁵

'काशी का अस्सी' उपन्यास घटनाओं पर आधारित रचना है। जिसमें लेखक ने धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिवेश को लेकर अस्सी मुहल्ले का यथार्थ वर्णन किया है। एक उदाहरण इस प्रकार है-“जानता हूँ, मास्टर की सुबह और रंडी की शाम नहीं खराब करनी चाहिए। यह उनके धंधे का समय होता है।”⁶

'महुआचरित' उपन्यास में लेखक ने वर्णात्मक शैली का प्रयोग किया है। महुआचरित उपन्यास में महुआ के अन्तर्मन के द्वन्द्व का वर्णन लेखक ने बड़ी मार्मिकता से किया है-“दिल और दलदल एक जैसे होते हैं। दलदल में पाँव फँस जाए तो बाहर आना मुश्किल, दिल में कोई बात धँस जाए तो निकलनी मुश्किल।”⁷ इस तरह से काशीनाथ सिंह ने अपने उपन्यासों में वर्णात्मक शैली का सार्थक प्रयोग किये हैं।

संवाद शैली:-

उपन्यास में संवाद शैली या कथोपकथन का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। संवाद शैली पाठक और उपन्यास की संवेदना के बीच की कड़ी मानी जा सकती है। संवाद के माध्यम से उपन्यास की वर्तमान, भूत व भविष्य की घटनाओं की जानकारी होती है। डॉ उषा सक्सेना

लिखती हैं कि—“कथोपकथन के द्वारा कथानक का सहज स्वाभाविक विकास होता है। विगत घटनाओं की सूचना वर्तमान स्थिति का परिचय तथा भविष्य की योजना पात्रों के परस्पर कथोपकथन के द्वारा ज्ञात होती है।”⁸

काशीनाथ के उपन्यासों में आवश्यकतानुसार कहीं छोटे-छोटे संवाद तो कहीं बड़े-बड़े संवाद मिलते हैं। यही कारण है कि उनके पात्र जीवंत प्रतीत होते हैं। ‘काशी का अस्सी—उपन्यास में संवाद शैली का उदाहरण द्रष्टव्य है—“टिकट देने दिलाने की कला में माहिर एक सज्जन ने पांडेजी से पूछा था एक बार अच्छा बोलो, किस पार्टी का टिकट ल्यौंगे? कांग्रेस से कौन लड़ना चाहेगा जी?”⁹ दरअसल काशीनाथ सिंह के अधिकांश उपन्यास संवादों के माध्यम से पूर्णता को प्राप्त होते हैं। यह संवाद शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

पूर्वदीप्ति शैली:—

अतीत से जुड़ी घटनाओं का वर्णन इस शैली में किया जाता है। “पात्रों के मानसिक संघर्ष को दिखलाने के लिए उपन्यासकार उन्हें अतीत की स्मृतियों से जोड़ता है और वर्तमान परिवेश के प्रति व्यक्त प्रतिक्रियाओं का आकलन करता है।”¹⁰ वस्तुतः विगत की ओर उन्मुख होना ही पूर्वदीप्ति का लक्षण है। विवेच्य उपन्यासों में यह शैली द्रष्टव्य है। ‘अपना मोर्चा’ उपन्यास में एक उदाहरण द्रष्टव्य है—“कला—संकाय की तीसरी मंजिल पर एक कँगूरे के पास खड़ा हूँ और चारों ओर देख रहा हूँ।”¹¹ इस तरह लेखक एक-एक करके घटी हुई घटनाओं का चित्रण करता है।

‘काशी का अस्सी’ उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग किया है। यहाँ पुरानी कथा, प्रसंगों के माध्यम से लेखक ने वर्तमान प्रसंगों को अधिक प्रासंगिक करने के लिए ऐसा किया है। पूर्वदीप्ति शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है—“सावित्रि उन्होंने धीरे से आवाज़ दी ताकि बच्चियों की नींद न टूटे। पड़ाइन कैसे बोलती? वहाँ रहती तब न? वह तो अँग्रेजियन के पेंट—शर्ट, राजस्थानी घाघरे—चोली और रिन की टिकिया के साथ घाट पर थीं लेकिन शास्त्री जी ने उन्हें कोठरी में ही देखा—मालदेन की मैक्सी में, और खुश हुए।”¹² इसलिए कहा जा सकता है कि लेखक ने अपने सभी उपन्यासों में पूर्वदीप्ति शैली के द्वारा घटनाओं, मनोव्यथा, मनोभावना के द्वारा पात्रों का व्यक्तित्व उजागर करने में सफलता पाई है।

बिंब:—

किसी शब्द को सुनकर, देखकर हमारे मन मस्तिष्क में एक चित्र उभरता है जिसे अँग्रेजी में इमेज और हिन्दी में बिंब कहते हैं। प्राचीन समय में एक कहावत है ‘जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि’ यहाँ कवि का पहुँचना बिंब के कारण ही संभव हुआ है। रग्घू में सरला का एक डरावना दुःस्वप्न पीछा नहीं छोड़ता। इस उपन्यास में स्पर्श बिंब का एक उदाहरण यह है कि “दुःस्वप्न में पहरेदार का चेहरा ही नहीं था केवल, हथेलियों की छुअन और मसलन भी थी।”¹³ “भ्रम और भरोसा—ये ही है जिन्दगी के स्रोत! इन्हीं स्रोतों में फूटती है जिन्दगी और फिर वह निकलती है कलकल—छलछल।”¹⁴ दरअसल काशीनाथ सिंह ने अपनी रचनाओं में गहरी संवेदनाओं को विविध बिंबों से मानसिक पटल पर बखूबी उकेरा है। दृश्य, श्रुत्य, स्पर्श बिंबों का प्रयोग उनकी रचनाओं में बहुतायत हुआ है।

प्रतीक:-

किसी अप्रस्तुत या अगोचर वस्तु के समरूप ही अदृश्य वस्तु का अनुभव कराने के लिए हम जिन चिन्हों का प्रयोग करते हैं वह प्रतीक कहलाते हैं। काशीनाथ सिंह की रचनाओं में प्रतीकों के विविध रूप दिखाई देते हैं। 'रेहन पर रघू' उपन्यास में रघुनाथ अपनी बेटी सरला के लिए लड़का ढूँढ रहे हैं लेकिन आधुनिक पढ़ी-लिखी लड़की सरला अपने मन से शादी करना चाहती है। इसलिए वह अपने पिता से कहती है—“पापा मेरे लिए लड़का ऐसे ढूँढ रहे हैं जैसे कोई गाय के लिए सांड ढूँढता है।”¹⁵ यहाँ गाय लड़की का और सांड लड़के के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार लेखक के विविध उपन्यासों में प्रतीक के विविध रूप दिखाई देते हैं।

आलोच्य उपन्यासों में विविध शैलियों का प्रयोग करके काशीनाथ सिंह ने उपन्यासों की शैली की दृष्टि से सरल बनाया है। अतः औपन्यासिक शिल्प के आकर्षण को द्विगुणित कराने के लिए इन शैलियों का प्रयोग बहुत सफल रहा है तथा साथ ही साथ उपन्यासों की गुणवत्ता भी बढ़ी है। आमतौर पर कहा जाता है, कि काशीनाथ सिंह ने न केवल विधागत परम्पराओं को तोड़ने का साहस किया है, बल्कि भाषा एवं शिल्प के स्तर पर भी परम्परागत मानकों का खण्डन किया है। किन्तु उनकी रचनाओं की मुख्य विशेषता उनकी पठनीयता एवं धारदार व्यंग्य है। उनके पास लोकभाषा के साथ-साथ संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि अन्य भाषिक संसार के शब्द भी व्यापक स्तर पर मौजूद हैं। निःसंदेह काशीनाथ सिंह समकालीन कथा-साहित्य के सशक्त उपन्यासकार कहे जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. शांतिस्वरूप गुप्त, उपन्यास स्वरूप संरचना तथा शिल्प पृ०सं० 169
2. डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद, आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना पृ०सं० 147
3. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृ०सं० 57
4. डॉ० पांडुरंग पाटिल, उपन्यासकार देवेश ठाकुर पृ०सं० 204
5. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृ०सं० 16
6. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी, पृ०सं० 83
7. काशीनाथ सिंह, महुआचरित, पृ०सं० 78
8. डॉ० उषा सक्सेना, हिन्दी उपन्यासों का शिल्पगत विकास पृ०सं० 256
9. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी पृ०सं० 35
10. डॉ० इन्दू रश्मि, नई कहानी का स्वरूप और विवेचन पृ० 169
11. काशीनाथ सिंह, अपना मोर्चा, पृ०सं० 13
12. काशीनाथ सिंह, काशी का अस्सी पृ०सं० 132
13. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रघू पृ०सं० 23
14. काशीनाथ सिंह, महुआचरित पृ०सं० 117
15. काशीनाथ सिंह, रेहन पर रघू पृ०सं० 131

समकालीन हिन्दी कहानियों में वृद्ध विमर्श

बैद्यनाथी राम

एम०ए० हिन्दी (इग्नू), पता— भगवतीपुर, जलसैन, रुद्रपुर, मधुबनी, (बिहार) — 847411

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही परंपरागत मूल्यों से जुड़ा रहा है। ये परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्वतः संचारित होती जाती थी। भारतीय समाज में परिवार की अपनी पारंपरिक संस्कार, जीवन मूल्य होता था, जिस पर परिवार के सभी सदस्य चलते थे। परिवार का मुखिया परिवार के ही वृद्ध हुआ करते थे और उन्हीं के बताए मार्ग पर परिवार के सभी स्त्री, पुरुष, युवा चलते थे। संयुक्त परिवार हुआ करता था।

आधुनिक भारतीय समाज में इस तरह की श्रृंखला टूटने लगी। नतीजा यह हुआ कि पारंपरिक मूल्यों का ह्रास हुआ। पश्चिमी जीवन शैली का तेजी से अनुकरण हुआ। उपभोक्तावादी दौर ने समाज में अनेक तरह के बदलाव लाये। संयुक्त परिवार टूटने लगे, परिवार में वृद्ध अप्रासांगिक होते गए तथा कालांतर में पारिवारिक सदस्यों की उपेक्षा के शिकार भी होते गये। वर्तमान में संयुक्त परिवार के लगातार विघटन के कारण बुजुर्गों की स्थिति काफी दयनीय होती गई। उन्हें प्रायः जीवन के अंतिम दिनों में अकेलेपन, हताशा, निराशा, कुंठा एवं अवसादग्रस्त स्थिति से रू-बरू होने के लिए विवश होना पड़ रहा है। ऐसा नहीं है कि बुजुर्गों की पीढ़ी ने अपनी अपूर्ण कुंठित, असीम महत्वाकांक्षाओं का बोझ वर्तमान पीढ़ी पर लाद दिया है। यहाँ वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान युवा पीढ़ी उपभोक्तावाद की चकाचौंध एवं अधिक से अधिक पैसा कमाने की होड़ में बुजुर्गों की अहमियत को सिरे से नकार रहे हैं। वे समझते हैं कि इस दौर के लिए बुजुर्गों के जीवनानुभवों का कोई मूल्य ही नहीं है। पहले पिताओं या बुजुर्गों द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करना एक आदर्श माना जाता था। नयी पीढ़ी ने आदर्श के इस लबादे को उतार फेंक दिया है। तब तो ऐसे में दो पीढ़ियों के संबंधों में बदलाव आना लाजमी है।

समाज के परंपरागत तौर-तरीके खत्म होने के साथ-साथ युवाओं में अपने कैरियर के प्रति स्पष्ट नजरियें में भी क्रमशः बदलाव आया है, स्त्री-पुरुष के बीच दूरी घटी है और यौन स्वतंत्रता बढ़ी है। प्रेम की परिभाषा बदली है। आज का युवा वर्ग जीवन को ज्यादा व्यावहारिक होकर जीने में विश्वास रखता है। इसका साकारात्मक पहलू भी दिख रहा है लेकिन इसके चलते भारतीय समाज में बुजुर्गों के लिए एक बड़ा संकट भी पैदा हो गया है।

स्वतंत्रता के बाद से भारत के मध्यवर्ग की जीवन-पद्धति, जीवन-दृष्टि, मूल्यों-मान्यताओं, सोच और मानसिकता में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। हिन्दी के कहानीकारों ने इस परिवर्तन को बड़ी शिद्दत से महसूस किया है तथा उसे अपनी कहानियों में अभिव्यक्त भी किया है। समकालीन कहानी एवं नई कहानियों में कहानीकारों ने मानवीय संवेदनाओं, जीवन मूल्यों तथा नए-पुराने पीढ़ियों के संघर्ष एवं बुजुर्गों के प्रति सहानुभूति को अपनी कहानियों का कथ्य बनाया है। इस तरह के कहानियों में ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', उषा प्रियंवदा की 'वापसी' तथा शिव प्रसाद सिंह की 'दादी माँ' प्रमुख हैं।

यहाँ हम ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' एवं भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' में दोनों पीढ़ियों के द्वन्द को देख सकते हैं।

ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' में लेखक ने दो पीढ़ियों के बीच वैचारिक संघर्षको उजागर किया है— पुरानी पीढ़ी के पिता को दर्द है कि उसके बेटे पुरानी मितव्यीसंतोषी जिंदगी को छोड़कर फिजूलखर्ची तथा दिखावे की जिंदगी क्यों बिता रहे हैं? वहीं नई पीढ़ी को पिता की मानसिकता, सुविधाएँ होते हुए भी कष्ट का जीवन बिताते देखकर चिढ़ होती है। झुंझलाहट होती है। इन दोनों पीढ़ियों के बीच टकराव, तनाव और अलगाव के कारण हैं— दोनों के बीच के सोच में गहरी खाई, जो कभी पट ही नहीं सकती। पिता रूढ़िवादी हैं, प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों में उनका अडिग विश्वास है।

'पिता' कहानी के पिता असहाय नहीं हैं, वे परिस्थितियों के अनुरूप खुद को ढाल लेते हैं। वे अत्यंत स्वाभिमानी हैं। वे अपने बेटों तक का भी अहसान नहीं लेना चाहते। वे अपनी बेटी के पढ़ाई में बेटे के द्वारा खर्च करने के लिए भेजे गए रूपयों का हिसाब रखते हैं और एक दिन उस बेटे को उतने ही रूपये की एक पासबुक थमा देते हैं। "वायु सेना में नौकरी करने वाला कप्तान भाई, बहन के यूनिवर्सिटी के खर्च के लिए दो वर्ष तक पचास रुपये भेजता रहा था। एक बार अकस्मात कप्तान भाई होली अवकाश मनाने घर आ गया था। पिता ने उसके हाथों में उसके नाम की बारह सौ रूपयों वाली एक पासबुक थमा दी।" ¹ "ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि बेटे आगे चलकर उनपर कोई एहसान न जताए, उनका अपमान न करें, ताने न दें।

पुत्रों ने पिता की सुख-सुविधा के लिए घर में पंखे लगवाए हैं, जिससे पिता को गर्मी की अनुभूति न हो, सोने में परेशानी न हो। मुँह हाथ धोने के लिए वाश-बेसिन लगाया है, नहाने के लिए शॉवर लगवाया है परन्तु यह सारे प्रयास निरर्थक साबित होते हैं, न तो पिताजी को वाश-बेसिन में मुँह-हाथ धोना सुहाता है और न ही शॉवर के नीचे नहाना और न ही पंखे के नीचे घर के अंदर सोना। "आज तक किसी ने पिता को वाश-बेसिन में मुँह हाथ धोते नहीं देखा। बाहर आकर बगिया वाले नल पर ही कुल्ला-दातून करते हैं।" ² इन चीजों के प्रति पिता में कोई उत्साह नहीं है। बेटे जब पिताजी को गर्मी के समय में भी रात को घर के बाहर सोते देखते हैं, रात को चौकीदारों की तरह पहरा देते देखते हैं, बाहर नल पर मुँह-हाथ धोते देखते हैं, अपने स्वभाव और आदत के अनुरूप नहाते समय तेल चुपड़े बदन पर बाल्टी-बाल्टी भर पानी डालते देखते हैं तो उन्हें पिता के उस स्वभाव पर रोष होता है। वे उन्हें कनखियों से देखते हुए नजरअंदाज कर देते हैं। उनमें पिता से नजरे मिलाने की भी साहस नहीं होती है।

नए के प्रति पिता को वितृष्णा है— "लड़कों द्वारा बाजार से लाये गए मंहगे फल और बिस्कुट पिता कुछ भी नहीं लेते। कभी लेते भी हैं तो बहुत नाक-भौं सिकोड़कर, उनके बेस्वाद होने की बात पर शुरू से ही जोड़ देने लगते हैं।" ³ बेटे द्वारा मंहगे कपड़े देने के बाद जब उन्हें अच्छे दर्जी से सिलवाने के लिए कहते हैं तो भी वे सस्ते दाम पर सिलाई करने वाले दर्जी से कपड़ा सिलवा लेते हैं, इसी तरह की हरकत वे नाई से बाल कटवाने एवं रिक्शे से आने जाने के समय भाड़ा में अत्यधिक मोल-भाव कर करते हैं। "चौक से आते वक्त चार आने की जगह तीन आने और तीन आने में तैयार होने पर, दो आने में चलने वाले रिक्शे के लिए पिता घंटे-घंटे खड़े रहेंगे।" ⁴ यही सब बातें नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से तोड़ती है।

पुरानी पीढ़ी में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि वह अपनी आयके अनुरूप ही खर्च करने के हिमायती होते हैं और उतने में ही संतुष्ट रहते हैं। दूसरी ओर नई पीढ़ी

की इच्छाओं का विस्तार काफी होता है और आय का साधन आमतौर पर सीमित है। भारतीय मध्य वर्ग की त्रासदी यही है कि उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ तो अनन्त हैं पर उसके वनिस्पत आमदनी कम। तब ऐसे में कुंठा और हताशा की प्रवृत्तिका शक्तिशाली होना स्वाभाविक है। यह स्थिति भी नई एवं पुरानी पीढ़ी के संघर्ष, अंतर्विरोध को जन्म देती है।

दो पीढ़ियों का संघर्ष उनके फासले को और भी बढ़ा देता है। 'पिता' कहानी में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है। 'पिता' कहानी में भी नई पीढ़ी में पिता के प्रति कटुभाव है। उनके मन में विद्रोह है फिर भी वह पिता का खुलकर विरोध नहीं कर पाते, इसलिए कि उसे पिता से अभी बहुत कुछ पाना है। अभी उनके सामने बहुत लम्बा जीवन है और वह पिता को नाराज कर अपना नुकसान नहीं करना चाहता। यहाँ स्पष्टतः स्वार्थ दीखता है। स्वार्थ एक ऐसा तत्व है जो उसे पिता से बाँधे हुए है अन्यथा वह पिता को दुत्कारने से भी शायद नहीं चूकता। अतः हम कह सकते हैं कि नई पीढ़ी उनकी अटपटी हरकतों को इसलिए सहन नहीं करती कि पिता वृद्ध हैं, श्रद्धेय हैं, बल्कि वे तो अपने लाभ के लिए, स्वार्थवश पिता के उन असंगत व्यवहारों को भी सहन करती है। अपनी इस कहानी द्वारा ज्ञानरंजन ने सही अर्थों में पारिवारिक संबंधों को एक नएआयाम देने एवं परिवार में वृद्धों की स्थिति को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

इसी प्रकार कहानीकार भीष्म साहनी ने अपनी कहानी 'चीफ की दावत' में भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में वृद्धों की स्थिति, आधुनिक बोध एवं मानवीय संवेदना को केन्द्र बनाकर नये मानव-मूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कहानीकार ने आर्थिक विपन्नता, मिथ्याडम्बर, अंतर्विरोध और कटूता को जिस यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया है वह सराहनीय है।

कहानी 'चीफ की दावत' एक मध्यवर्गीय परिवार से जुड़ी है। कथानायक मिस्टर शामनाथ, आधुनिकता के बोझ से दबे हैं। मध्यवर्गीय आधुनिकता के दबाव में मिथ्या गौरव के प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण उनका तालमेल पुरानी पीढ़ी की अपनी माँ से नहीं हो पाता।

मिस्टर शामनाथ ने नौकरी में पदोन्नति पाने के लोभ से चीफ को दावत दी है। उनका चीफ विदेशी है। वह अमेरिकन है। उनके साथ अनेक देशी छुटभैये अफसर भी शामनाथ के यहाँ आनेवाले हैं। शामनाथ आधुनिक विचारों के व्यक्ति हैं तथा परिस्थितियों से समझौता नहीं करते वरन् वे उसी में अपने को ढालकर चलते हैं।

अपनी सीमित आय के बाबजूद वे आधुनिक ढंग से रहते हैं। चीफ के आने से पहले घर की सारी तैयारी पूरी हो चुकी होती है। 'अब घर का फालतू सामान आलमारियों के पीछे ओर पलंग के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने सहसा एक अड़चन खड़ी हो गई माँ का क्या होगा?'⁵ क्योंकि उसकी समस्या उनकी माँ है जिन्हें वे किसी भी तरह आधुनिक नहीं बना सके। चीफ के आने पर माँको कहाँ रखा जाय यही उनकी मुख्य समस्या है। शामनाथ आधुनिकता बोध के अहंकार में इस कदर डूबा हुआ है कि उसे लगता है माँ अनपढ़ है, माँ का पहनावा गंवाई-देहाती है, वह सोये हुए में खर्राटे लेती है, माँ को देखकर कहीं चीफ की नजर में शामनाथ की बेजईती न हो जाय। इस से बचने के लिए अन्त में माँ को आधुनिक बनाया जाता है। जिस माँ ने उसे जन्म दिया, गाँव में रहकर उसे पाला-पोसा, अपने जैवरबेचकर उसे पढ़ाया, वही माँ आज गंवाई-देहाती बन गई। वे उसके आधुनिक ढाँचे मेंफिट नहीं बैठती, इसलिए चीफ के सामने माँ को वह कैसे ला सकता है? माँ के कारण उन्हें शर्मिन्दा होना पड़ेगा। इसी कारण माँ को अप्रासांगिक घोषित कर देता है। पूरीपार्टी से माँ को अलग करके बरामदे में बिठा दिया जाता है। पार्टी दौर के बाद जबसब लोग खाना खाने के लिए चलने लगते हैं तभी अकस्मात

चीफ और शामनाथ की दृष्टि माँ पर पड़ जाती है, जो अस्त-व्यस्त स्थिति में कुर्सी पर बैठे-बैठे सो गई रहती है। माँ के बैठने का तरीका मुंह से आ रही खर्राटों की आवाज और माँ के सिर से पल्ला खिसक जाने के कारण माँ के आधे गंजे सिर पर अस्त-व्यस्त बिखरे बाल को "देखते ही शामनाथ क्रुद्ध हो उठे। जी चाहा कि माँ को धक्का देकर उठा दें और उन्हें कोठरी में धकेल दें, मगर ऐसा करना संभव न था, चीफ और बांकी मेहमान पास खड़े थे।"⁶ चीफ, माँ से बड़े प्रेम से मिलते हैं। माँ को भारतीय संस्कृति का प्रतिरूप मानकर वेलोक-कला की जानकारी उनसे प्राप्त करते हैं। चीफ उनसे लोकगीत भी सुनते हैं औरवे फुलकारी भी मांगते हैं। माँ यहाँ बेटे के द्वारा बार-बार अप्रासांगिक करार देने, अपमानित करने से ग्लानि का अनुभव करती है और दावत समाप्त होने पर जब माँ बेटे को कहती है कि मुझे हरिद्वार भेज दो तो बेटे का आधुनिक बोध उभर आता है।

और बड़े ही खीझ और क्रोध के साथ माँ से बोलता है "क्या कहा माँ? यह कौन-सा राग तुमने फिर छेड़ दिया?"⁷ "तुम मुझे बदनाम करना चाहती हो, ताकि दुनिया कहे की बेटा माँ को अपने पास नहीं रख सकता।"⁸ और शामनाथ माँ से कहता है कि "तुम चली जाओगी तो फुलकारी कौन बनायेगा ? साहब से तुम्हारे सामने ही फुलकारी देने का इकरार किया है।"⁹ और अगर साहब को मैं फुलकारी नहीं दूंगा तो मेरा तरक्की कैसे होगा ? और इस प्रकार जब माँ को पता चलता है कि उसके द्वारा फुलकारी बनाये जाने पर साहब प्रसन्न होंगे और बेटे की पदोन्नति होगी तो वह अशक्त आँखों से भी फुलकारी बनाने हेतु समर्पित भाव से तैयार हो जाती है। और बेटे को आश्वस्त करती है "तो मैं बना दूंगी, बेटा, जैसे बन पड़ेगा, बना दूंगी।"¹⁰

यहाँ कथाकार भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' का मुख्य उद्देश्य मध्यवर्ग की उस भावना के खोखलेपन को दिखाना है जिसमें लोग पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करके भारतीयता को भुला रहे हैं। इसके अतिरिक्त नई पीढ़ी के अंतर्विरोध, पुरानी पीढ़ी की उपेक्षा एवं माता-पिता के वात्सल्यता को कहानी में प्रस्तुत करके प्राचीन भारतीय मान्यताओं को नये रूप में स्वीकारने पर बल दिया है। साथ ही कथा साहित्य में वृद्ध विमर्श का मार्ग भी प्रशस्त किया है।

संदर्भ :

1. इग्नू के एम० ए० हिंदी पाठ्यक्रम की पाठ्यपुस्तक- एम० एच० डी० -03, उपन्यास एवं कहानी, खंड - 07, हिंदी कहानी विविधा, पृष्ठ सं० - 60, कहानी- "पिता"
2. वही - पृष्ठ सं० - 56
3. वही - पृष्ठ सं० - 57
4. वही - पृष्ठ सं० - 56
5. वही - पृष्ठ सं० - 146, कहानी- " चीफ की दावत"
6. वही - पृष्ठ सं० - 150
7. वही - पृष्ठ सं० - 154
8. वही - पृष्ठ सं० - 154
9. वही - पृष्ठ सं० - 154
10. वही - पृष्ठ सं० - 155

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के ऐतिहासिक उपन्यासों में सांस्कृतिक मूल्य

डॉ० विकास कुमार

सम्पादक—International Literary Quest एवं World Translation

इतिहास के अन्तर्गत अतीत के तथ्यों का कालक्रम से संग्रह किया जाता है। जिसका प्रमुख आधार प्राप्त शिलालेख, मुद्रा, ताम्र-पत्र, हस्तलिखित प्रतियाँ, यात्रियों का विवरण आदि निहित रहती है। इस कारण इतिहास में यथार्थ का समन्वय आवश्यक है। इन्हीं प्राप्त सामग्रियों के आधार पर ही वह युग विशेष को हमारे सम्मुख साकार कर सकता है। वह किंचित मात्र भी इतिहास को न घटा सकता है और न बढ़ा सकता है न ही कोई परिवर्तन कर सकता है।

इतिहास विश्वास की नहीं, विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म-विश्लेषण है। जैसे नदी में प्रति क्षण नवीन जल बहने पर भी नदी का अस्तित्व और उसका नाम नहीं बदलता वैसे ही किसी में जन्म-मरण की निरन्तर क्रिया और व्यवहार के परिवर्तन से वह जाति नहीं बदल जाती।¹

ऐतिहासिक उपन्यास दो शब्दों के योग से बना है— इतिहास और उपन्यास। अर्थात् जिस उपन्यास में इतिहास हो वह ऐतिहासिक उपन्यास कहा जायेगा। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों का प्राण ऐतिहासिक वातावरण है। उपन्यासकार अपने उपन्यासों में जितनी कुशलता के साथ ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि कर सकेगा वह ऐतिहासिक उपन्यास उतना ही अधिक प्रभावशाली होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास को हम तभी सफल मानेंगे जब उसमें इतिहास तथा उपन्यास दोनों की विशेषताएँ निहित होंगी। उसमें इतिहास तत्त्व भी होगा और उपन्यास तत्त्व भी, इतिहास की पृष्ठभूमि में इतिहास लिखा जाता है। इतिहास घटित होता नहीं दिखाया जाता है। इतिहास तो केवल आधार भूमि है जिसको लक्ष्य बनाकर उपन्यास लिखा जाता है। “ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की सच्चाई को रखते हुए भी प्रधानतया उपन्यास है यह एक निर्विवाद सत्य है। फलतः जिसके पास उपन्यास कला का अभाव है, वह लेखक यदि इतिहास का निष्णात पण्डित भी हो तब भी उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासकार बन सकेगा, इसमें सन्देह नहीं है।”²

ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास, मानव-मन और जीवन की वास्तविकता को उपन्यास कला के ढंग में रंग कर रखना पड़ेगा। तभी वह सकल उपन्यास की श्रेणी में आ सकेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से, ऐतिहासिक उपन्यासकार को तभी ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना चाहिए जब तक कि उसे भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन और उस सामाजिक स्थिति का सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना संभव हो। सफल ऐतिहासिक तत्त्व प्राप्त होगा। साथ

ही कल्पना का प्रयोग होते हुए भी इतिहास दिखलाई देगा।³ श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के शब्दों में— “औपन्यासिक पात्रों के निर्माण में कल्पना ही काम करती है, पर पात्रों के चरित्र विकास में तत्कालीन परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों के पात्रों के चरित्र में हम लोग तत्कालीन समाज की सारी विशेषताएँ जान लेते हैं। उस युग की विचारधारा, आदर्श और प्रचलित रीति-नीति के कारण मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन की गति, किस प्रकार एक विशेष परिस्थिति में पड़ कर क्रमशः विकसित होती है यह हमें ऐतिहासिक उपन्यासों से ज्ञात हो सकता है।”⁴

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है कि “उपन्यास के अन्दर इतिहास के मिल जाने से जो एक विशेष रस संचारित हो जाता है, उपन्यासकार एक मात्र उसी रस ऐतिहासिक रस के लालची होते हैं, उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यास में इतिहास की उस विशेष गन्ध और स्वाद से ही एकमात्र सन्तुष्ट न हो और उसमें से अखंड इतिहास को निकालने लगे तो वह साग के बीच में साबित जी, धनिया हल्दी और सरसो ढूँढेगा। मसाले के साबित रखकर जो व्यक्ति साग को स्वादिष्ट बना सकते हैं वे बनाएँ और जो उसे पीसकर एक सम कर देते हैं उसके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नहीं। क्योंकि, यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है मसाला तो उपलक्ष्य मात्र है।”⁵

इतिहास के अँचल में छिपने या अतीतजीवी होने की प्रवृत्ति सदैव पलायनवृत्ति का द्योतक नहीं होती। अतीत को वर्तमान से अधिक गौरवपूर्ण मानकर उसके पुनः स्थापना की प्रवृत्ति के साथ ही अतीत को वर्तमान का उपजीव्य बनाने, जीवन की नयी व्याख्याओं को इतिहास के परिवेश में प्रस्तुत करने या इतिहास के घटना-सत्य को जीवन रस से सम्पृक्त करके उसे नया अर्थ प्रदान करने की प्रवृत्तियाँ मिल-जुलकर लेखकों को इतिहास की ओर ले जाती हैं।⁶ इतिहास को कृत्रिम रूप देकर कोरी कल्पना का आश्रय लिया जाएगा तो ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास पठनीय और आकर्षक अवश्य होंगे किन्तु अतीत के प्रति किसी प्रकार का लगाव या मोह उसके हृदय में नहीं रहेगा। हिन्दी के राहुल सांकृत्यायन तथा चतुरसेन शास्त्री जैसे मूर्धन्य उपन्यासकार भी इसी पक्ष का समर्थन करते हैं कि इतिहास में यथा संभव परिवर्तन कर उपन्यास लिखना चाहिए। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के मतानुसार, ऐतिहासिक उपन्यास, उपन्यास है, उसमें इतिहास नहीं ढूँढना चाहिए। ऐसा करना मूर्खता है। इतिहास में परिवर्तन होता रहता है। फिर भला इतिहास कैसे दिया जा सकता है ? ऐतिहासिक उपन्यास कोई इतिहास नहीं, जिससे इतिहास ज्ञान सीखा जाए। उसमें तो एक कहानी मिलेगी। इतिहास काल विशेष की चीज है। ऐसी चीज क्यों न दी जाए जो युगों से ऊपर की हो, जो शाश्वत हो, सार्वभौम हो, वह है ‘इतिहास-रस’। अतः पाठकों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उपन्यास काव्य या कहानी को पढ़कर वे ऐतिहासिक ज्ञान अर्जन करेंगे। ऐसी पुस्तकों में तो उन्हें इतिहास के स्थान पर इतिहास रस की ही प्राप्ति होगी।⁷

इतिहास के कठोर सत्य को यदि लेखक अपना ले और उसके आधार पर उपन्यास लिखे तो वह पुस्तक उपन्यास न होकर स्वयं एक इतिहास रह जाएगी। पढ़ने वाले फिर ‘रसहीन’ या ‘कल्पनाहीन’ इतिहास को उपन्यास में न ढूँढकर इतिहास ही पढ़ना अधिक उचित समझेंगे।

इसलिए रस की कल्पना की है वह उचित ही है। ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पना को इस रूप में अपनाता है कि वह इतिहास में मिलजुल कर स्वयं इतिहास स्वरूप हो जाए। ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहास मानव-मन और जीवन की वास्तविकता को उपन्यास कला के रंग में रंगकर रखना पड़ेगा। सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार में इतिहास की सच्चाई भी मिलती है और कल्पना का मनोरंजन भी।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास भी हो और कल्पना भी। अर्थात् इतिहास में कल्पना हो, पर वह कल्पना इतिहास की विरोधनी न हो, उसकी पोषिका हो, फिर भी यह स्मरणीय है कि ऐतिहासिक उपन्यास पहले है इतिहास बाद में। यदि हमें इतिहास के ही दर्शन करने हैं या हमें इतिहास ही खोजना है तो इतिहास के ग्रन्थ यथेष्ट है। इतिहास का 'कुछ' हम उपन्यास में खोजते हैं, 'कुछ' वही है, जिसे आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'इतिहास रस' कहा है।

खवास का ब्याह (पूर्णाहुति)

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का यह पहला ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसका प्रकाशन सन् 1932 ई० में हुआ था। इसका एक परिवर्द्धित रूप 'पूर्णाहुति' के नाम से भी सन् 1948 ई० में प्रकाशित हुआ।

'खवास का ब्याह' राजपूत काल के उत्तरार्द्ध के वैभवपूर्ण इतिहास पर आधारित उपन्यास है, जिससे तत्कालीन राजपूतों के जीवन के रेखाचित्र का बोध होता है। वह युग राजपूतों की वीरता, वैभव, आत्मगौरव तथा शक्ति के चरमोत्कर्ष का था। इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का सफल चित्रण करना है।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक महाराज पृथ्वीराज चौहान के जीवन से सम्बन्धित है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "इलाहाबाद प्रवास में मैंने पृथ्वीराज रासों का अध्ययन किया और उसी पर आधारित 'खवास का ब्याह' नामक उपन्यास लिखा।"⁸

कन्नौज के राजा जयचन्द की कन्या संयोगिता पिता की एकमात्र दुलारी पुत्री थी। पिता के असाधारण दुलार ने उसे हठी बना दिया था। एक दिन संयोगिता अपनी कर्नाटकी दासी से महाराज पृथ्वीराज के रूप-सौन्दर्य, तेज, वैभव, पराक्रम, दानशीलता का आकर्षक वर्णन सुनती है और उसी समय से पृथ्वीराज की कल्पना में खोकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगती है। वह निश्चय कर लेती है कि यदि विवाह करूंगी तो पृथ्वीराज के साथ अन्यथा नहीं। उधर पृथ्वीराज भी संयोगिता का रूप वर्णन सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए विकल हो उठता है। इधर जयचन्द अपनी कन्या संयोगिता के लिए स्वयंवर रचता है। साथ ही राजसूय-यज्ञ भी आरम्भ करता है। किन्तु द्वेषवश वह पृथ्वीराज को नहीं बुलाता। उसका अपमान करने के लिए पृथ्वीराज को स्वर्ण प्रतिमा बनाकर वह द्वारपाल के स्थान पर खड़ा कर देता है। राजकुमारी संयोगिता सभी राजाओं की उपेक्षा कर जयमाल पृथ्वीराज की स्वर्ण प्रतिमा को पहना देती है। पृथ्वीराज संयोगिता को हरण करने के लिए चन्द्रबरदाई के साथ परोक्ष रूप में 'खवास' बनकर कन्नौज

आते हैं। यहीं संयोगिता तथा पृथ्वीराज का नाटकीय ढंग से मिलन होता है। पृथ्वीराज उसका अपहरण कर अपनी सेना के साथ जयचन्द की अपारवाहिनी को रौदता हुआ अपनी राजधानी दिल्ली जा पहुँचता है। जयचन्द का हृदय अपने पुत्री के आँखों में दैन्य भाव को देखकर द्रवित हो जाता है। वह अपने पुरोहित को विवाह की सारी सामग्री तथा अतुल दहेज सम्पदा देकर दिल्ली पृथ्वीराज के पास भेजता है। फिर पृथ्वीराज और संयोगिता का विधिवत् विवाह संस्कार कराया जाता है। नव-विवाहिता संयोगिता के अनुपम रूप के सागर में डूबकर राजा पृथ्वीराज सारे संसार को भूल जाता है।⁹

गजनी का शासक शहाबुद्दीन गोरी, पृथ्वीराज से सात बार टक्कर ले चुका था। पृथ्वीराज ने सातों बार ही शहाबुद्दीन गोरी को पकड़ कर छोड़ दिया था। पृथ्वीराज नव-विवाहिता संयोगिता के रूप में स्वयं को भूलकर राज्य कार्य को एकदम विस्मृत कर देता है। इसी अवसर पर शहाबुद्दीन गोरी भारत की दुर्बल स्थिति को देखकर आक्रमण कर देता है। दोनों में भयंकर युद्ध होता है किन्तु अन्त में पृथ्वीराज, शहाबुद्दीन गोरी द्वारा पराजित होकर बन्दी होता है। गौरी उसे बन्दी बनाकर गजनी ले जाता है। वहाँ पर उसके साथ अमानुषिक अत्याचार होते हैं, उसको नेत्रहीन कर दिया जाता है। इसी समय पृथ्वीराज का मित्र चन्दबरदाई छद्म वेश में उसके समीप पहुँच जाता है। यहीं वह पृथ्वीराज के शब्द-भेदी बाण के चमत्कार का प्रदर्शन करवा कर, शहाबुद्दीन गोरी को मरवा देता है। अन्त में पृथ्वीराज और चन्दबरदाई स्वयं आत्महत्या कर लेते हैं।

इस प्रकार पृथ्वीराज और चन्दबरदाई ने साका रचकर वीर-यज्ञ की 'पूर्णाहुति' दी। एक दिन एक ही नक्षत्र में जन्में, साथ-साथ पले, बड़े और सुख-दुःख के साथी रहे, फिर एक साथ, एक ही क्षण में लोहे की तीखी धार का रस-पान कर अमर हुए।

प्रस्तुत उपन्यास मूलतः 'पृथ्वीराज रासो' पर आधारित है जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया है। यदि उसमें साम्य उत्पन्न किया जाए तो सम्पूर्ण घटनाएँ रासो के आधार पर प्रमाणिक है किन्तु रासो ग्रन्थ इतिहास की दृष्टि से प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता जैसा कि विद्वानों तथा इतिहासकारों ने कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस ग्रन्थ को पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा सन्देह किया है और उसे 16वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रन्थ माना है।¹⁰ रासों में चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आ जाने से यह सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासों में वर्णित घटनाओं तथा संवत्तों को बिल्कुल भाटों की कल्पना मानते हैं।¹¹ 'पृथ्वीराज रासो' चाहे जैसा ग्रन्थ हो मेरा प्रयोजन उसके ऐतिहासिक सत्यता को प्रमाणित करना नहीं है बल्कि प्रस्तुत उपन्यास में सांस्कृतिक मूल्यों को दिखाना है।

प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य जी ने तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यों को उठाया है। संयोगिता की शिक्षिका एक स्थान पर उसे सांस्कृतिक मूल्य 'विनय' की शिक्षा देती हुई कहती है- "हे कुमारी, जैसे भक्ति के बिना कर्म शुभ नहीं होता उसी भाँति स्नेहहीन स्त्री का जीना वृथा है। बिना विनय के जीवन का सुख नहीं मिलता है। हे राजकुमारी, अभिमान से स्नेह भंग होता है, सज्जन भी दुर्जन दीख पड़ते हैं। जुड़ा हुआ नाता टूट जाता है और आत्मिक गुणों का विकास

होता है। हे पुत्री, जीवन में 'विनय' दीपक के समान है। जिस प्रकार दीपक बिना घर, प्राण बिना देह और बुद्धि बिना उपभोग शुभ नहीं, उसी प्रकार विनय बिना स्त्री शुभ नहीं। जैसे जीवन का सार आत्मा है, वैसे ही सुख का सार विनय है, हे प्यारी राजकुमारी विनय ही से दो तन एक प्राण हो जाते हैं।¹²

धार्मिक अन्धविश्वास तथा ब्राह्मणों की संकुचित तथा संकीर्ण शिक्षाओं के कारण जाति के अन्दर एक ऐसी मानसिक शिथिलता पैदा हो गयी थी कि जन-साधारण के साथ-साथ शासक वर्ग भी इसकी राजनीतिक तथा सामरिक स्वधीनता तथा सुरक्षा की ओर से उदासीन हो गये थे। पृथ्वीराज का बार-बार गोरी को पकड़कर छोड़ देने के पीछे केवल धार्मिक संस्कार थे कि हारे हुए शत्रु का वध वर्जित है। ब्राह्मण ज्योतिष के आधे-अधूरे ज्ञान से जन-साधारण को भयभीत कर रहे थे। "ब्राह्मण ने कहा- हाँ, देखो। यह राजनंदिनी की गणना है- मंगल, बुध, शुक्र, शनि और चन्द्रमा। ये ग्रह चौथे स्थान में गोचर में पड़े हैं। गुरु और केतु केन्द्र में तथा राहु अष्टम है। जन्म से पंचम राहु और केतु होने से यह स्पष्ट है कि उसका जन्म महारक्तपान के लिए ही हुआ है।"¹³

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत उपन्यास में प्रत्येक दिशाओं एवं कोणों को देवताओं से सम्बन्ध कर भारतीय संस्कृति के सनातन रूप को मुखरित किया है- "पूर्व दिशा का देवता इन्द्र हैं, अग्निकोण का अग्नि, दक्षिण का यम, नैऋत्य का राक्षस, पश्चिम का वरुण और वायव्य का वायु है, उत्तर का कुबेर और ईशान का ईशान है, आकाश में ब्रह्मा और पाताल में शेष हैं।"¹⁴

प्राचीन समय में कन्याओं का स्वयंवर रचना और उसके द्वारा मनचाहा वर चुनने की छूट देना 'सांस्कृतिक मूल्य' माना जाता था। क्षत्रियों राजकुमारों द्वारा सुन्दर कन्याओं का हरण कर विवाह करना भी संस्कृति के अन्तर्गत आता था, जो आज पूर्णतः बदल गया है। पृथ्वीराज, संयोगिता का अपहरण कर अपनी सेना के साथ, जयचन्द की अपारवाहिनी से लड़ते हुए, अपनी राजधानी दिल्ली जा रहा था, उसी समय संयोगिता की कातर दृष्टि पिता जयचन्द की आँखों में समा जाती है और वह लौटकर अपनी राजधानी कन्नौज आ जाता है। "जयचन्द की आँखों में प्राणों से प्यारी पुत्री का वह सूखा, करुण मुख धूम गया। उन्होंने आँखों से आँसू गिराकर सेना को युद्ध से विरक्त किया और वहीं से पृथ्वी की पाँच परिक्रमा देकर यह कहते हुए कन्नौज को लौट चले कि- हे कन्नौज के यज्ञ को बिगाड़ने वाले और मेरी प्राण प्रिय पुत्री को हरने वाले पृथ्वीराज, दिल्ली का राज्य अपनी प्रतिष्ठा और लाज आज तुझे दान देकर मैं कन्नौज को जाता हूँ।"¹⁵ वह अपने पुरोहित को विवाह का सामग्री तथा अतुल देहज देकर दिल्ली पृथ्वीराज के पास भेजते हैं। इस प्रकार एक भारतीय पिता का अपनी पुत्री के प्रति जो सांस्कृतिक मूल्य था, उसके द्वारा पूरा किया जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्ध में सम्पूर्ण विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्रों का सहयोग था। जो बरबर बन कर पुनः समाप्त हो गये। आचार्य जी ने मुख्य अणुबम का हिरोशिमा और नागासाकी पर गिरना तथा अजेय शक्ति किस प्रकार से वैज्ञानिक आविष्कारों का शिकार बनी, उस पर विशेष रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा की है। 'ईदो' उपन्यास 'सोना और खून' शृंखला को जोड़ने वाला द्वितीय महायुद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित है। विज्ञान मनुष्य के विनाश

का कारण बना हिटलर जिस अणुबम के प्रयोग का प्रयत्न करता रह गया। अमेरिका उसमें सफल हुआ किन्तु मानवता का संहार करके। इसी के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।

संदर्भ :

1. यशपाल : दिव्या, प्राक्कथन
2. ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार : डॉ. गोपीनाथ तिवारी, पृ0 3
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 293
4. हिन्दी कथा साहित्य : पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी, पृ0 227
5. पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'साहित्य शिक्षा' रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक लेख, पृ0 86 से उद्धृत
6. हिन्दी का गद्य-साहित्य : डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ0 201
7. वैशाली की नगरबधू : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भूमिका
8. मेरी आत्म कहानी : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ0 183
9. यही पर 'खवास का ब्याह' उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है और आगे की कथा इसका परिवर्द्धित रूप 'पूर्णाहुति' का है।
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0 23
11. वही, पृ0 23
12. खवास का ब्याह : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ0 18-19
13. खवास का ब्याह : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ0 20
14. वही, पृ0 31
15. वही, पृ0 129

आठवें दशक का राजनैतिक स्थिति एवं प्रमुख उपन्यास

डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

सम्पादक—International Literary Quest एवं World Translation

स्वतंत्रता के युग में और विशेष रूप से आठवें दशक में भारत की राजनीतिक परिदृश्य अत्यन्त संकटकालीन परिदृश्य था, जिस पर आर्थिक घटनाचक्रों ने अधिक प्रभाव डाला था। इस दशक में वस्तुओं के मूल्य में तीस प्रतिशत की वृद्धि आई, किन्तु श्रमिकों, किसानों की आमदनी दस प्रतिशत भी नहीं बढ़ी। हड़तालों का एक सिलसिला शुरू हो गया। 1974 में हड़तालियों की संख्या तीन करोड़ दस लाख पहुँच गई। 1974 में अखिल भारतीय रेलवे हड़ताल विशेष उल्लेखनीय है। कपड़ा मजदूरों, जूट मजदूरों की भी अखिल भारतीय हड़तालें हुईं। गाँव के किसानों और खेत मजदूरों के प्रदर्शन भी बढ़े। यहाँ तक कि संसद पर होने वाले प्रदर्शनों की संख्या बढ़ गई। 1974 ई० में राष्ट्रीय रेलवे मजदूरों की हड़ताल में कुल पन्द्रह लाख रेल कर्मचारियों ने भाग लिया।

1971 के लोकसभा चुनाव में इन्दिरा गांधी ने एक नारा दिया और वह था- “गरीबी हटाओ कांग्रेस लाओ।” 1971 के अन्त में भारत-पाकिस्तान युद्ध हुआ जिसके लक्षण चुनाव के समय प्रकट होने लगे थे इन्दिरा गाँधी ने इस समय में राष्ट्रीय उन्माद की स्थिति उत्पन्न की और जनता ने उन्मादपूर्ण ढंग से इन्दिरा गांधी का समर्थन किया। इन्दिरा गांधी के समर्थकों ने उन्हें बड़े आकार में प्रस्तुत किया और कहा- “इन्दिरा गांधी आई हैं, नई रोशनी लाई हैं।” इन्दिरा गांधी को प्रबल बहुमत मिला, भारत पाकिस्तान, युद्ध में पाकिस्तान की पराजय हुई, बंगला देश का निर्माण हुआ, पाकिस्तान की एक लाख सेना बन्दी बनायी गयी और इन्दिरा गांधी का विश्व में बड़ा प्रभाव बढ़ा किन्तु भारत के भीतर उनकी सरकार कुछ नहीं कर सकी और 1972 के जून तक उनका सारा प्रभाव उड़ गया। 1972 में बंगाल विधानसभा के लिये हुए चुनाव में कांग्रेस ने पुलिस के बल से वोटों की बड़ी लूटपाट की जिसकी सारे देश में निन्दा हुई। कांग्रेस की जीत तो हो गई लेकिन बंगाल की जनता में कांग्रेस का सम्मान गिर गया और उसकी साख पर सारे देश में बुरा प्रभाव पड़ा उधर भारत-पाक युद्ध के कारण मूल्य में भारी वृद्धि होने लगी। भ्रष्टाचार में भी उसी अनुपात में वृद्धि हुई, फलस्वरूप कांग्रेस विरोधी आन्दोलन जगह-जगह खड़े होने लगे। विरोधी दल फिर सक्रिय हो गये। केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध सबसे बड़ा जन-आन्दोलन छात्रों और नवयुवकों ने ‘नवनिर्माण समिति’ के नेतृत्व में आरम्भ किया। यहाँ तक कि गुजरात में ट्रेनों का आवागमन तक अवरूद्ध हो गया। इस परिस्थिति में 1974 में प्रसिद्ध जननेता गांधी जी के अनुयायी, शिष्य और पहले के प्रमुख समाजवादी ने कांग्रेस के लिये गंभीर खतरा पैदा कर दिया। इस आन्दोलन ने केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस की सत्ता का तख्ता उलट देने के लिये ‘सम्पूर्ण क्रान्ति’ की आवाज उठाई। गुजरात में व्यापक उत्पात के परिणामस्वरूप विधानसभा भंग कर दी गई और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

इस दशक का सबसे बड़ा राजनीतिक परिदृश्य ‘आपातकाल’ की घोषणा है। 1971 में रायबरेली के चुनाव में इन्दिरा गाँधी जीतीं और राजनारायण हारे। यशपाल कपूर नाम के एक सरकारी कर्मचारी ने इन्दिरा गाँधी के चुनाव की देखरेख की थी। भ्रष्टाचार के आरोप में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इन्दिरा गाँधी के

चुनाव को जून 1975 को अवैध घोषित कर दिया। कांग्रेस के अन्दरूनी झगड़े और वंशानुगत शासन के लोभ में इन्दिरा गांधी ने जगजीवन राम या कमलापति त्रिपाठी को सत्ता न देकर देश में आपात स्थिति लागू कर दिया और उच्च न्यायालय के आदेश की अवमानना कर दी तथा उनका विरोध कर रहे संगठन कांग्रेस, भारतीय लोक दल, जनसंघ, समाजवादी पार्टी आदि के नेता गिरफ्तार कर जेलों में बन्द कर दिये गये। यहाँ तक कि भी उपप्रधानमंत्री रहे मोरारजी देसाई भी गिरफ्तार कर लिये गये। उनके साथ अटल बिहारी वाजपेयी, चन्द्रशेखर, जयप्रकाश, वीजू पटनायक, चरण सिंह, जार्ज फर्नाण्डीस आदि बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। यह आपातकाल 1977 तक चली। इस आपातकाल में इन्दिरा गांधी ने चुपचाप किन्तु सक्रिय रूप से अपने बेटे संजय गांधी को अपने बाद देश का नेता बना दिया। उसने इस संकट की स्थिति में देश में बड़ा अत्याचार किया। परिवार नियोजन, गंदी बस्तियों की सफाई, भ्रष्टाचार उन्मूलन के नाम पर उसने देश में पूरी तानाशाही धन की लूटपाट की। फलस्वरूप देश में बड़ा असंतोष बढ़ा। यहाँ तक कि कांग्रेस के भीतर भी घोर असंतोष उत्पन्न हुआ। जब 1977 में इन्दिरा गांधी ने चुनाव की घोषणा की तो सभी विपक्षी दलों ने मिलकर जनता पार्टी नामक एक नये दल का गठन कर दिया और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चुनाव का सामना किया। असंतुष्ट कांग्रेसियों ने भी जगजीवन राम के नेतृत्व में लोकतांत्रिक कांग्रेस बनाकर जनता पार्टी के साथ चुनाव में हिस्सा लिया और इन्दिरा गांधी को बुरी तरह परास्त किया। जीत के बाद मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने, किन्तु अलग-अलग दलों की अलग-अलग नीति के कारण थोड़े समय में ही जनता पार्टी की सरकार में आन्तरिक संघर्ष बढ़ गया जिससे इसकी प्रतिष्ठा गिर गई और उच्छृंखल राजनारायण फिर संजय गांधी और इन्दिरा गांधी के सामने झुक गये, जिससे जनता पार्टी की साख ध्वस्त हो गई। मोरारजी देसाई के पतन के बाद चौधरी चरण सिंह प्रधानमंत्री बने, किन्तु उनका दल संभल नहीं सका और उन्हें बाध्य होकर तीन ही साल के भीतर 1980 में लोकसभा का चुनाव कराना पड़ा, जिसमें इन्दिरा गांधी भारी बहुमत से विजयी हुईं और उनका सत्ता में पुनः आगमन हुआ। उनके शासन में आने पर प्रधानमंत्री तो इन्दिरा गांधी थीं लेकिन शासन उनके पुत्र संजय गांधी का ही चलता था, जिनके साथ देशभर के अपराधियों, मनबढ़े युवकों और नौकरशाहों का एक झुण्ड लग गया था। दुर्भाग्यवश 1980 में वायुयान दुर्घटना में संजय गांधी की मृत्यु हुई और उसके बाद उनके बड़े भाई राजीव गांधी को कांग्रेस पर लादकर उसका महासचिव नियुक्त किया गया। संजय की मृत्यु के पश्चात् इन्दिरा गांधी और मेनका गांधी में भारी विवाद हुआ। मेनका गांधी अलग रहने लगीं और 'संजय मंच' बनाकर राजनीति में उतरी। उधर राजीव गांधी कश्मीर में 'नेशनल काँग्रेस', पंजाब में 'अकाली दल' और भारतीय स्तर पर 'साम्यवादी दल' को तोड़ने की राजनीति करने लगे। इससे प्रेरणा पाकर कहीं नक्सलवादी, कहीं खालिस्तान, कहीं कश्मीर मुक्ति मोर्चा, कहीं गोरखा परिषद का उपद्रव खड़ा हो गया। 1980 के बाद उग्रवादी राजनीति भारतीय राजनीति की सबसे बड़ी नयी विशेषता के रूप में सामने आई, जिसके चलते 1984 में इन्दिरा गांधी, 1991 में राजीव गांधी और इस बीच अनेक बड़े-बड़े नेताओं और पदाधिकारियों की हत्या हुई।

राजनीतिक क्षेत्र में लौटने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि 1975 के आपातकाल में कुल तीस हजार से अधिक कार्यकर्ताओं को जेलों में बन्द किया गया और छब्बीस उग्रवादी या साम्प्रदायिक संघटनों पर प्रतिबन्ध लगाया गया। कांग्रेस ने इस दौर में भारत पर दक्षिणपंथी और फासिस्ट खतरे का नारा दिया तथा इसी आड़ में मजदूरों, किसानों और साम्यवादी दलों तथा रूस को अपने पक्ष में मिलाने की राजनीति की। गरीब जनता को उत्साहित करने के लिये एक बीस सूत्री कार्यक्रम की घोषणा भी की गई। इस बीस सूत्री मुख्य कार्यक्रम को घोषित करते हुए कहा गया कि कांग्रेस का उद्देश्य गरीबी के विरुद्ध है। लक्ष्य गरीबी हटाना और पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना है। यह बीस सूत्री कार्यक्रम मुख्यतः गरीबों के लिये है।

सातवीं योजना में प्राप्त अनुभव के आधार पर इस कार्यक्रम का निर्माण किया गया था। ये कार्यक्रम इस प्रकार थे-

- (1) ग्रामीण निर्धनता का उन्मूलन।
- (2) वर्षा पर आधारित कृषि का विकास करना।
- (3) सिंचाई के जल का अच्छा उपयोग।
- (4) अधिक उत्पादक
- (5) कृषि सुधार
- (6) खेतिहर मजदूरों के लिये विशेष कार्यक्रम
- (7) स्वच्छ पेयजल
- (8) सबके लिये स्वास्थ्य
- (9) दो बच्चों का परिवार
- (10) शिक्षा का प्रसार
- (11) अनुसूचित जाति एवं जनजाति को न्याय
- (12) महिलाओं के लिये समानता
- (13) निर्धनों के लिये आवास
- (14) गन्दी बस्तियों में सुधार
- (15) वन संरक्षण
- (16) पर्यावरण संरक्षण
- (17) उपभोक्ता की हित रक्षा
- (18) गांव में ऊर्जा का विस्तार
- (19) उत्तरदायी प्रशासन

इस बीच हमारी सामाजिक विघटन की स्थिति को बचाने के लिये पं० नेहरू के समय में ही एक 'राष्ट्रीय एकता परिषद' की स्थापना की गई थी, जिसका उद्देश्य था समय-समय पर उठने वाली छोटी-छोटी समस्याओं के आधार पर होने वाले राष्ट्रीय विवादों को समझना और उसके लिये समाधान देना। इस समस्याओं में पाकिस्तान से आये नागरिक, शिक्षा नीति, पाठ्य-पुस्तक, नदी जल विवाद, क्षेत्रीय दमन, अल्पसंख्यक, उर्दू भाषा, हिन्दू-मुस्लिम दंगा, अनुसूचित जाति और जनजाति की रक्षा, हिन्दू-मुस्लिम सिक्ख-ईसाई की भावात्मक एकता आदि की समस्याओं को समय-समय पर सरकारी सुविधा देने के लिये इस एकता परिषद की बैठकें होती थीं। अक्टूबर 1973 में इन्दिरा गांधी के शासन काल में इसकी एक महत्वपूर्ण बैठकें हुईं। यह 'एकता परिषद्' अभी भी कार्यरत है। क्योंकि यह एक स्थायी समिति है, किन्तु यह एक भावात्मक और निरर्थक संगठन बनकर रह गया। इसमें सभी दलों के नेता और कुछ बुद्धिजीवी सम्मिलित हैं। यद्यपि इस संगठन के पास शक्ति नहीं है किन्तु इसका राजनीतिक महत्व अत्यधिक है।

इस प्रकार जब हम आठवें दशक के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिदृश्य का विश्लेषण के पश्चात् निष्कर्ष पाने का प्रयत्न करते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि देश की स्थिति पुराने संवैधानिक और लोकतांत्रिक संघर्षों से आगे बढ़कर जनशक्ति के प्रदर्शन, सत्ता की चुनौती, आपातकालीन अधिकारों के दुरुपयोग का प्रभाव इस दशक के उपन्यासों पर भी पड़ता है।

आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास में कथ्य, विजन और सर्जनशीलता की दृष्टि से नयापन है। इस दौर के उपन्यासों में अनेक विषयों को समाहित किया गया है। आठवें दशक के प्रमुख हिन्दी उपन्यासों में विश्वशान्ति, मनुष्य मात्र का कल्याण, सत्य, अहिंसा, सामाजिक सद्भाव, कर्तव्य के प्रति ईमानदारी, मध्यवर्गीय परिवार की समस्याएँ, पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों का परिवर्तनशील दृष्टिकोण, नई पीढ़ी का विद्रोह, समकालीन जीवन में अपराधियों को संरक्षण देने वाली शासन तंत्र का चित्रण, नव दम्पति के बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष की कथा, मानव के धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने का चित्रण, प्रेम और दाम्पत्य की समस्या का चित्रण, नैतिक रूढ़ियों एवं बलात्कार की शिकार स्त्रियों की समस्या, युवा आक्रोश ग्रामीण जीवन के सामाजिक-आर्थिक अंतर्विरोध का चित्रण, अपराध एवं रोमांस मिश्रित कहानी, पर्वतीय क्षेत्र के दलित समाज के अधिकारों की लड़ाई का चित्रण, विवाह संस्था का विरोध और मुक्त यौन सम्बन्ध का अंकन, पाकिस्तान में स्थानान्तरित भारतीय मुसलमानों के मोहभंग की कथा, आपातकाल और जनजीवन पर पड़े उसके प्रभाव का चित्रण, अण्डमान-निकोबार द्वीप की आदिवासी लड़की की कथा, पहाड़ी जीवन की व्यथा कथा, भारत विभाजन की साम्प्रदायिक विभीषिका का महाकाव्यात्मक अंकन, सामन्ती जाटों एवं पंजाबी शरणार्थियों के दुःख और संघर्ष, वामपंथी आक्रोश, अदालतों में फैले जहरीले अंतहीन भ्रष्टाचार, छात्र आन्दोलन स्त्री के राजनीतिक और पारिवारिक दायित्व एवं द्वन्द्व का चित्रण, मध्यवर्गीय दम्पति के बीच तीसरे व्यक्ति का प्रवेश से विसंगति एवं भटकाव का चित्रण, लोकतंत्र का असलियत का चित्रण इत्यादि एक साथ इस दौर में आना यथार्थ से संलग्नता इस दशक की पहचान बन गई।

स्त्री-अस्मिता के विविध दृष्टिकोण

डॉ० हिमानी भाटिया

हिन्दी विभाग, असिसटेन्ट प्रोफेसर, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँरा राजस्थान

स्त्री का अर्थ :- स्त्री शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने मत इस प्रकार दिये हैं। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार स्त्री शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार हुई -

स्त्यायेते शुक्रशेणितेयस्याम, स्त्यै + ड्रप् + डीय् ।

उन्होंने स्त्री का अर्थ इस प्रकार बताया है - (1) नारी, औरत (2) किसी भी जानवर की मादा-गज स्त्री, हरिण स्त्री आदि (3) पत्नी-स्त्रीणां भर्ता धर्म दा राश्च सुंसाम् (4) स्त्रीलिंग या स्त्रीलिंग का कोई शब्द आपः स्त्री भूमिः अमर।¹

रामचन्द्र वर्मा ने 'मानक हिन्दी शब्दकोष' में स्त्री का व्यापक अर्थ प्रस्तुत किया है -

स्त्री (सं.) (भाव, स्त्रीत्व, वि. स्त्रैण) (1) मनुष्य जाति की वयस्क मादा 'पुरुष' का विपर्याय। (2) उक्त जाति की कोई विशेष सदस्या। जैसे- पुरुष स्त्री का गुलाम बन जाता है। (3) पत्नी, जोरू (4) मादा जंतु। पुरुष या नर का विपर्याय (5) एक वर्ग वृत्त जिसके प्रत्येक चरण में 2-2 गुरू वर्ण होते हैं। कामा। (6) दीमक (7) प्रियंगुलता (8) व्याकरण में स्त्रीलिंग का संक्षिप्त रूप।²

'बृहत् हिन्दी कोश' में स्त्री का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है -

स्त्री. (सं.) औरत (शरीर, रचना, स्वभाव इत्यादि विशेषताओं के कारण स्त्रियों के 4 भेद ये हैं - पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी) पत्नी मादा पशु सफेद चींटी, दीपक, प्रियंगु, एक वृत्।³

राजपाल हिन्दी कोश में :- स्त्री (1) मनुष्य जाति की वयस्क मादा, औरत नारी (2) मनुष्य जाति की विशेष सदस्या (3) पत्नी जोरू।⁴

'यास्क' की दृष्टि में स्त्री का अर्थ 'लजालु'⁵

पाणिनी की दृष्टि में 'स्त्यै' का अर्थ है - शब्द करना अथवा इक्ठ्ठा करना (स्त्यै शब्द संघातयोः)।⁶

पंतजलि ने पाणिनी के अष्टाध्यायी के 'स्त्रियाम्' सूत्र के भाष्य में स्त्री के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए कहा है कि लोक में कुछ शारीरिक चिहनों (स्तन और केश (भग) को स्त्री कहा जाता है।

पंतजलि ने स्त्री का अन्य अर्थ प्रकट करते हुये कहा है कि शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंध सबका समुच्चय ही स्त्री है। (शब्दस्पर्शरूपरसगंधानां स्तयानं स्त्री)⁷

पंतजलि के मतानुसार स्त्री को स्त्री इसलिए कहा जाता है, क्योंकि गर्भ की स्थिति उसके अंदर होती है। (सत्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्रीं)⁸ स्त्री शब्द का प्रयोग हमें ऋग्वेद में भी मिलता है।

जिसका अर्थ होता है याज्ञिक पत्नी ।

याज्ञवलक्यम् स्मृति में लिखा है –

‘स्त्री शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में प्राप्त होता है, जिसका अर्थ याज्ञिक पत्नी लिया गया है। नारी शब्द नृ अथवा नर से बना है। ‘यास्क ने नर’ शब्द को ‘नृत्य’ से बना माना है। काम की पूर्ति के लिए पुरुष हाथ पैर नचाता है। इसलिए उसे नर कहा जाता है। नर की कामवासनाओं में सहयोगी होने के कारण स्त्री को नारी का जाता है’⁹

वस्तुतः हिन्दी साहित्य और संस्कृत साहित्य में ‘महिला’ के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों में ‘स्त्री’ या ‘नारी’ शब्द ही सर्वाधिक प्रचलित है। स्त्री के अन्य पर्यायवाची शब्दों में ‘मैना, ग्ना, योषा, वामा, अबला, सुंदरी, प्रमदा, ललना, मानिनी इत्यादि मुख्य हैं। नर के धर्म वाली या नर से संबंध होने के कारण स्त्री का ‘नारी’ नामकरण हुआ है। नारी को ‘मैना’ पुरुष द्वारा सम्मान देने के कारण कहा गया है।¹⁰ नारी से पुरुष संसर्ग करते हैं, इसलिए यह ‘ग्ना’ कहीं जाती है।¹¹ स्त्री को ‘योषा’ इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह स्वयं को पुरुष के साथ जोड़ती है।¹² स्त्री को ‘वामा’ भी कहा गया है, क्योंकि वह सौंदर्य बिखेरती है।¹³ जिस स्त्री में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक बल ज्यादा हो उसे ‘अबला’ कहा गया है। जिसे देखते ही पुरुष का हृदय द्रवित हो उठे उसे ‘सुंदरी’ की संज्ञा दी गई है।¹⁴

हल्के-से हल्के भाव से पुरुष को उत्तेजित कर देने की विशेषता रखने वाली स्त्री ‘प्रमदा’ कहलाती है।¹⁵

इसी प्रकार जिस स्त्री में लालसा कामना, इच्छा अधिक हो, उसे ‘ललना’ कहा गया है।¹⁶ क्षण-क्षण में रूठने वाली और मान रखने वाली स्त्री ‘मानिनी’ तथा कामना जागृत करने वाली ‘कामिनी’ कहलाती है।

गृहस्थी चलाने वाली नारी को ‘गृहिणी’, मन रमाने वाली को ‘रमणी’, श्रृंगार होने के कारण ‘भामिनी’ कहा जाता है। माता, पत्नी और पुत्र के रूप में नारी सम्मानीया, पूज्या एवं आदरणीया होने के कारण ‘महिला’ कहीं जाती है। नारी का एक अन्य नाम मानवीय अस्मिता, नैतिकता इत्यादि के कारण ‘मानवी’ भी है।

वैदिक काल में भी नारी का स्थान सर्वोत्तम है, इसी युग में भारतीय विधान संहिता के नियामको के प्रसिद्ध महर्षि मनु ने घोषणा की थी जहाँ नारी की पूजा होती है। वहाँ देवता रमण करते हैं। “यत्र नार्यस्तु, पूणयन्ते रमन्ते तत्र देवता” वैदिक काल में नारी को पुरुष के समान सभी क्षेत्र में अधिकार प्राप्त थे। वह पति की अर्द्धांगिनी सहयोगिकी गृह लक्ष्मी शक्ति स्वरूपा समझी जाती थी। समाज में उसके विचार को सम्मान दिया जाता था।

अस्मिता का अर्थ :-

‘अस्मिता’ शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ बताते हुए वामन शिवराम आपटे ने लिखा है कि – अस्मिता शब्द की व्युत्पत्ति ‘अस्मि + तल + टाप्’ से हुई है, जिसका अर्थ अहंकार है।¹⁷

‘अस्मि’ शब्द का विस्तृत रूप है ‘अस्मिता’। ‘अस’ (होना) धातु वर्तमान काल एकवचन और उत्तम पुरुष वाचक शब्द है, जिसका अर्थ है— मैं अथवा अहम्।¹⁸

‘राजपाल हिन्दी शब्द कोश’ में अस्मिता शब्द के (1) अहंभाव, अपनी सत्ता का भाव, आपा (2) अहंकार, अभिमान अर्थ बताये गये हैं।²⁰

‘मानक हिन्दी कोश’ — ‘अस्मि + तल् + टाप्’ से हुई है। ‘अस्मिता का इस कोश में अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। (1) मन का यह भाव या मनोवृत्ति की मेरी एक पृथक् और विशिष्ट सत्ता है, अर्थात् मैं हूँ। अहंभाव (2) अभिमान / अहंकार / घमण्ड²¹

डॉ. सुरेन्द्रनाथ सिंह का मत है, “अस्मिता का अर्थ है — अहंता विद्यमानता अथवा होने का भाव अर्थात् वस्तु के स्वरूप का सम्यक् संबोध कराने वाली तत्वमयता उसकी अस्मिता है।²²

इसी प्रकार विभिन्न विद्वानों के अनुसार ‘अस्मिता’ शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गये हैं किन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने ‘अस्मिता’ का अर्थ अस्तित्वबोध, अहंता, आत्मसत्ता के भाव से अवश्य बताया है। वस्तुतः अस्मिता का अर्थ अस्तित्व बोध, निजत्व, मैं की सत्ता या सेल्फ आइडेंटिटी से है।

उपर्युक्त अर्थों के आधार पर हम कह सकते हैं कि अस्मिता शब्द जहाँ निजत्व का बोध करवाता है वही जीवन के अन्य पहलुओं से भी इसका संबंध रहता है जो समय-समय पर अपना रूप बदलते रहते हैं। व्यक्ति और समुदाय अस्मिता को प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहते हैं और अस्मिता के प्रति जागरूकता इन्हें दिशाहीन होने से बचाती है।

आधुनिक युग में व्यक्ति को अस्मिता प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। आज के समय में अस्मिता के प्रश्न अधिक उलझे हुए हैं।

स्त्री अस्मिता विविध दृष्टिकोण

‘स्त्री अस्मिता’ के अर्थ, स्वरूप एवं स्त्री अस्मिता के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत एवं विचार जानने के उपरांत यह जानना आवश्यक है कि स्त्री अस्मिता विषयक विविध दृष्टिकोण क्या हैं ? यहां दृष्टव्य है — स्त्री के प्रति सामंती, दारवादी, मार्क्सवादी, पूंजीवादी, समाजवादी और आधुनिकतावादी दृष्टिकोण का संक्षेप में विश्लेषण :-

1. **सामंती दृष्टिकोण :-** स्त्री के प्रति सामंती दृष्टिकोण मूलतः ‘भोगपरक’ था। उस समय नारी को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी, वह स्वयं के विवेक से कोई काम नहीं कर सकती थी। वह सिर्फ पुरुषों के विलाप का केन्द्र बिन्दु थी। सामंत युग में स्त्री को पुरुष सिर्फ भोगने की वस्तु मात्र समझता था या यह कह लो कि बिस्तर की वस्तु मात्र और सामंती समाज इस दृष्टिकोण का पक्षधर था।

2. **उदारवादी दृष्टिकोण :-** उदारवाद सामन्तवाद के बिल्कुल विपरीत प्रतिक्रिया थी जिस सामन्तवाद में नारी को भोग विलास का साधन माना जाता था, ठीक उसके विपरीत उदारवादी दृष्टि में स्त्री की अस्मिता को स्वीकारते हुए उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता और अधिकार प्रदान किये गये। एडमस्मिथ, लॉक, स्पेन्सर, मिल सरीखे प्रमुख उदारवादी विचारक नारी-स्वतन्त्रता और नारी गरिमा के पक्षधर थे।

उदारवाद से अभिप्राय 'मर्यादित स्वतन्त्रता एवं समानता' से है। उदारवादी दृष्टिकोण पुरुषों एवं स्त्रियों में समानता का पक्षधर है। उदारवादी विचारधारा ने 'स्त्री' को विवेकशील माना है। उन्होंने उदारवादी युग में नारी को स्वतंत्रता से जीने का दर्जा दिया है। भारत में भी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी एवं गोखले सरीखे उदारवादी नेताओं ने नेतृत्व में चलाये गये आन्दोलनों फलस्वरूप स्त्रियाँ आगे आईं और वे स्वतंत्रता, समानता एवं अधिकार हेतु जागृत हुईं।

3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण :- वैज्ञानिक समाजवाद के जनक 'कार्लमार्क्स' एवं उनके सहयोगी फेडरिक एंगेल्स के दर्शना पर आधारित विचारधारा मार्क्सवाद ने अपने समय की वैचारिक प्रवृत्तियाँ आदर्शवाद एवं उदारवाद का विरोध करते हुए। 'स्त्री अस्मिता' पर भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया।

एंगेल्स के मत में "स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करें और उसके लिये आवश्यक है कि समाज की आर्थिक ईकाई लेने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये।"²³ वस्तुतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्त्री मुक्ति एवं स्त्री अस्मिता के संदर्भ में स्त्री पुरुष के बीच आर्थिक एवं सामाजिक शोषण समाप्त कर स्त्री पुरुष के समान अधिकार की व्याख्या करता है। तथा स्त्रियों की आत्म निर्भरता में ही स्त्री मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होना बताया है।

4. पूंजीवादी दृष्टिकोण :- सामंतवादी व्यवस्था में स्त्री जहां "भोग" की वस्तु थी, वही पूंजीवादी व्यवस्था में वह 'एक वस्तु' मानी गई ऐसी वस्तु जिसकी खरीद-फरोख्त की जा सके पूंजीवादी व्यवस्था ने उपभोक्तावादी-संस्कृति को जन्म दिया, जिसमें नारी की अस्मिता, उसकी स्वतंत्र सत्ता का अपहरण हो गया और उसे 'फैशन की वस्तु' देह की वस्तु' मान लिया गया। उपभोक्ता संस्कृति के मायाजाल में स्त्री क्रय-विक्रय की वस्तु बनकर अपने स्वत्व, अपनी निजता को दाव पर लगा दिया और अपने तन का सौदा करने के लिए अभिशप्त हो गई।

5. समाजवादी दृष्टिकोण :- स्त्री अस्मिता के संबंध में सामाजिक विचारधारा का उदय मुख्य रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान हुआ स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान स्त्रियों की चेतना घर की चार दीवारी से निकलकर राष्ट्रीय आन्दोलन तक व्याप्त हो गई और वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में बढ-चढ हिस्सा लेने लगी अब वे शोषण, अन्याय, अत्याचार के खिलाफ खुलकर आगे आने लगी। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के तहत राष्ट्रीय मांगों के साथ-साथ स्त्री अधिकारों का प्रश्न भी ज्वलंत प्रश्न के रूप में प्रकट हुआ। समाजवादी दृष्टिकोण स्त्रियों की अस्मिता उनके व्यक्तित्व की सत्ता में स्वीकार करता है।

6. आधुनिकतावादी दृष्टिकोण :- स्त्री अस्मिता के संदर्भ में उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण स्त्री पुरुष की समानता की वकालत करता है। यह किसी भी दशा में स्त्रियों को पुरुषों से हीन अथवा कम नहीं आंकता उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि सभी वर्ग की स्त्रियों के लिए विकास के समुचित अवसर उपलब्ध हो ताकि पुरुषों पर स्त्रियों की निर्भरता कम से कम हो सके, उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास हो सके, पुरातन सामाजिक परम्पराएं मान्यताएं एवं रूढियाँ शनैः शनैः समाप्त हो सकें तथा समाज में शोषण, अन्याय एवं असमानता दूर हो सके।

संदर्भ सूची :

1. वामन शिवराम आप्टे— संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.1138
2. सं. रामचन्द्र वर्मा — मानक हिन्दी कोश (पाँचवा खण्ड), पृ. 298
3. सं. कालिका प्रसाद — वृहत् हिन्दी कोश, पृ. 1576
4. डॉ. हरदेव बाहरी — राजपाल हिन्दी कोश, पृ. 854
5. स्त्रियः स्त्यायतेः अपत्रपणकर्मणः निरुक्त
6. पाणिनी — अष्टाध्यायी सूत्र संख्या 4/1/3
7. पंतजलि महाभाष्य, पृ. 89
8. उपरिवतु — पृ. 98
9. ऋग्वेद — पृ. 69
10. मानयन्ति एनाः पुरुषाः निरुक्त 3/21/2
11. ग्ना गच्छन्ति एनाः —
12. योषा यौतेः मिश्रणार्थस्य, सा हि मित्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम् — निरुक्त 3/51/1
13. वयति सौंदर्यम् ।
14. सु + ✓ उन्द (गीला करना) अर + डीप् । सुष्ठु नन्दयति इति नैरुक्ताः क्षीर स्वामी 3/1/52
15. प्रमद् सम्मदौ हर्षे च
16. ✓ लल् इच्छायाम्
17. वामन शिवराम आप्टे — संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 133
18. उपरिवत् पृ. 132—133
19. सं. श्यामसुन्दर दास — हिन्दी शब्द सागर — पृ. 386
20. हरदेव बाहरी — राजपाल हिन्दी शब्दकोश — पृ. 71
21. सं. रामचन्द्र वर्मा — मानक हिन्दी कोश पृ. — 286
22. डॉ. सुरेन्द्रनाथ सिंह प्रसाद के नाटको में धार्मिक—दार्शनिक अस्मिता (लेख) पृ. 53
23. मार्क्स, एंगेल्स संकलित रचनाएँ (भाग-3) पृ. 226—227

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में राष्ट्रवाद एवं मानवतावाद का समाज पर प्रभाव

ज्योत्स्ना राय

शोध छात्रा, हिन्दी, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर ४०१०

शोध सार

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य की आरम्भिक प्रवृत्ति प्रेम एवं वैयक्तिक प्रणयनुभूमि प्रगतिशील भावधारा पर प्रतिष्ठित होकर बाद की कवितताओं में मानव-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप में परिणत हो गयी है। विश्व में बढ़ते हुए साम्राज्यवाद औपनिवेशिक विस्तार के कारण परस्पर राष्ट्रों में कटूता और युद्ध की भयावह परिणति मानव जीवन के लिए घातक बन गयी है। दो राष्ट्रों के मध्य युद्ध तथा असहयोग की भावना का प्रभाव समस्त विश्व में व्याप्त होता है। फलस्वरूप समस्त मानव जाति विध्वंसात्मक कार्यवाहियों के परिणाम भुगतती हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कविता विश्व की समस्याओं, राष्ट्र के खतरों तथा मानवीय संकटों से त्रस्त होकर शांति, सद्भाव और परस्पर सहयोग की कामना करता है ताकि विश्व में मानव जाति का विकास अवरुद्ध न हो सकें। इसी संदर्भ में हम "कल्पान्तर" तथा "पृथ्वीकल्प" द जैसी काव्य – कृतियों को ले सकते हैं। अन्य संकलनों की कविताएँ कभी विश्व मानवतावादी दृष्टि के प्रचार- प्रसार के लिए उल्लेखनीय है।

“मेरी मानवता पर रखा
गिरि-सा सत्ता का सिंहासन
मेरी छाती पर रखा हुआ
साम्राज्यवाद का रक्तकलश
तेरी जंजीरों में बँधकर
कंकाल हुई मेरी काया”

कवि गिरिजाकुमार माथुर ने राष्ट्रवाद एवं मानवतावाद को लेकर कई रचनाएं की जो मानव जीवन को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

गिरिजाकुमार माथुर प्रेम, प्रकृति और परिवेश के साथ-साथ राष्ट्र प्रेम के भी कवि हैं। राष्ट्र के प्रति सतत् जागरूक दृष्टि उनकी कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। भारत का प्राचीन गौरवमय इतिहास, भारत की प्राचीन संस्कृति, उस आर्य संस्कृति की अनार्य संस्कृति पर विजय, आधुनिक युग में जनशक्ति के समक्ष अंग्रेजी साम्राज्य की पराजय आदि का विशद वर्णन उनके उत्तरवर्ती काव्य में मिलता है। राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति नहीं तो भारतभूमि के यशोगान के रूप में हुई है और कहीं युवा-जागृतिमंत्र उच्चरित करने में हुई है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रसन्नता में भी कवि देश की सीमाओं, शत्रुओं के प्रति सावधान रहने का संकेत करता है। कहीं ऐसा न हो कि हम जीत के जश्न में असावधान हो जायें और शत्रु घात लगाकर हम पर फिर से आक्रमण कर दे। “पन्द्रह अगस्त 1947” कविता में कवि जागृति का संदेशवाहक बनकर आता है।

“आज जीत की रात पहरूए
सावधान रहना
खुले देश के द्वार
अचल दीपक समान रहना
ऊँची हुई मशाल हमारी
आगे कठिन डगर है
शत्रु हट गया, लेकिन उसकी
छायाओं का डर है
शोषण से मृत है समाज
कमजोर हमारा घर है
किन्तु आ रही नई जिन्दगी
यह विश्वास अमर है।”¹

नयी कविता के विकास में गिरिजाकुमार माथुर की प्रवृत्ति विषयक योगदान

कवि शत्रु की छायाओं से सुरक्षित रहने की सीख देता है। अपने समाज की कमजोरियों को जानकर शोषण से मुक्त समाज की स्थापना करने को कटिबद्ध दिखायी देता है। इसके अतिरिक्त “ढाकवनी” “एशिया का जागरण” “बुद्ध” “विजयादशमी” याज्ञवल्क्य और गार्गी” “नए साल की सांझ” “इन्दुमती” “महाप्राण निराला” “दो चित्र” तथा “जन्मभूमि” आदि कविताएँ देशानुराग और राष्ट्रीय प्रेम तथा समर्पण को व्यक्त करती है। “एशिया का जागरण” कविता में कवि भारतीय संस्कृति को तथा तपस्वियों के जप-तप आदि के प्रति श्रद्धा प्रकट करता है।² वह भारत की गुलामी को भगाने के लिए जन ज्वार के मन में उठती हुई आजादी के हिलोरों को पहचानकर पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ स्वतन्त्रता संघर्ष में अपना योगदान देता है—

“मेरे अन्तर में मान जगा
अपनी विराट संस्कृतियों का
जागी विभूति सम्राटों की
तप जागा कर्मठ यतियों का
मुड़ गये समय के चपल चरण
आया कृतान्त बन मुक्तिकाल
मिट्टी का हर कन सुलग उठा
जल उठी एशिया की मशाल।”³

देश के इतिहास वर्णन, देश की स्वतन्त्रता का स्तवन आदि के समाज ही राष्ट्रीयता की भावना का निरूपण देश के जन जीवन के चित्रण में भी होता है। “ढाकवनी” कविता में जनजीवन का यह रूप स्वस्थ सामाजिक जीवन की कामना के रूप में प्रस्तुत हुआ है—

“आईनों से गाँव होने पर न रहते धूल कूड़ा,

जम न पाता जिन्दगी पर युगों का इतिहास घूरा
मृत्यु सा सुनसान बनकर जो बनैला प्रेत फिरता
खाद बन जीवन फसल की लोक मंगल रूप धरता
हरे होते पीले ऊसर स्वस्थ को जाती मनुजता
लाल मिट्टी, लाल पत्थर, लाल कंकड़, लाल बजरी
फिर खिलेंगे ढाक के वन, फिर उठेगी फाग कजरी।”⁴

वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना नयी कविता की एक प्रवृत्ति रही है। नये कवियों ने राष्ट्र प्रेम पर समसमायिक रचनाएँ लिखी है। गिरिजाकुमार माथुर की राष्ट्रीयता तथा देशानुराग व्यापक संदर्भों में परिलक्षित होता है। वह देश की स्वतन्त्रता की कामना “एशिया के जागरण” के रूप में करता है, जन जीवन में आस्था प्रकट करता है। अन्त में कवि की राष्ट्रीय सजगता” ये मिट्टी केसर है “ में देखिए” अनझार इस कमल की/कोई पंखुरी बिखरे ना/ बूँद-बूँद भरे इस संस्कृति कलश में/जहर कोई घोले ना।”⁵

कवि राष्ट्रीयता को सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही सफल पाता है। तभी तो अमृतमयी संस्कृति बनाने को उत्सुक दिखायी दे रहा है।

संदर्भ सूची :

1. गिरिजाकुमार माथुर : भीतरी नदी की यात्रा पृ0-5-नेशनल पब्लिशिंग हाउस
2. वही नाश और निर्माण पृ0-62-भारतीय ज्ञानपीठ काशी-1946
3. गिरिजाकुमार : धूप के धान पृ0-125-126 भारतीय ज्ञानपीठ काशी -1955
4. वही शिलापंख चमकीले पृ0- 35-38-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1961
5. वही नाश और निर्माण पृ0- 50-भारतीय ज्ञानपीठ काशी-1946

Importance of Microfinance in India

Dr. Suresh Kumar

Assistant Teacher, Raj Inter College, Bettiah, West Champaran, Bihar

Microfinance in India plays a major role in the development of India. It act as an anti-poverty vaccine for the people living in rural areas. It aims at assisting communities of the economically excluded to achieve greater level of asset creation and income security at the household and community level. As it has been discussed above that microfinance in India is providing Loans, Insurance access to saving account. Microfinance institutions and self help groups are leading to other traditional banking channels as they are catering the need of credit to poor people. It has contribute a let in enhancing the quality of life of the poor people. Microfinance not a financial system but a tool to alleviate poverty from the country and bring social change and especially to uplift the status of women in our country so they can self reliance.

The Concept of Microfinance focuses on women also by granting the loan. It act as a tool for the empowerment of poor women as women are becoming independent. They are able to contribute directly to the well beings of their families and are able to confront all the gender inequalities. The major target of Microfinance are the poor rural and urban households and women too.

Key Words :- Microfinance, SHG-Bank Linkage programme, Microfinance Institution.

Introduction :- Today Indian is considered to be the largest growing market for microfinance in the worldwide. In the last few decades it has been growing at a steady pace with financial inclusion gaining the central focus for the government of India. Microfinance as the most effective means of achieving the goal, this vibrant industry is exhibiting various business model. 27 percent of total population in India still continues to be below the poverty line. Microfinance has come as a break through in the practices of poverty eradication, economic empowerment and inclusive growth. Microfinance is considered to revolutionary because it aims at servicing the poorest of the poor, who were up till now considered unfit for financing of any kind except charity.

Microfinance :- The concept of microfinance were introduced by the noble prize winner, Muhammad Yunus in Bangladesh in the form of "Grameen Bank". Microfinance is defined as, financial services such as saving account, insurance funds and credit provided to poor and low income clients so as to help them increase their income, thereby improving their standard of living. The basic feature of the microfinance is that these are the loans given without security.

Microfinance is the provision of financial services to the poor people these financial services may take the the form of micro saving, micro credit and micro insurance. It is also referred to as the alternate commercial sector targeting the poor. Microfinance is holistic concept. It includes not only micro credit but so support services as saving, insurance, technical assistance and capacity buildings.

Objectives of Microfinance :- Main objective of microfinance are poverty alleviation and improving socio-economic status of poor people. Promotes Socio-Economic Development at grass root Level. Develop and strength SHGs. Provide Livelihood trainings to weaker section. Empower and Mainstream women. Organize and Co-ordinate networking of grass root level organization and removing illiteracy.

Principles of Microfinance :-

- (i) Effective and powerful tool to fight poverty.
- (ii) About building permanent local financial institution that can attract domestic deposits recycle them into loans and provide other financial services
- (iii) Building financial system that serves the poor.

Microfinance includes the following products (Components of Microfinances) :-

- (1) **Micro Loans :-** Microfinance loans are as these are provided to borrower with no collateral. The borrower is not bound to pledge something as a security for repayment of the loans it offers a better overall loan repayment rate than traditional banking product.
- (2) **Micro Saving :-** The importance of micro savings are that the poor people with low income can operate their account with no minimum balance. These accounts do not bound people to maintain their accounts with certain amount of money in it.
- (3) **Micro Insurance :-** Micro insurance is type of coverage provided to borrowers of micro loans. These insurance plans have lower premiums than traditional insurance policies.

The importance of micro insurance is that it is the machinery to protect the poor people from all the mishap that might take place in future, example : Acidents, chronic disease etc. It addresses to all kind of risks that people of low income groups.

Features of Microfinance :- Important features of Microfinance are given below .

- (1) The keystone feature of the micro loans under microfinance is that it does not require any collateral.
- (2) The purpose of Microfinance is to lend a helpful hands towards, people. So generally the borrowers of Microfinance are the people belonging to under developed part of Indial.

- (3) The money which can be availed under microfinance are usually the small amount. The money given in the form of micro loans under microfinance to the poor section of the society.
- (4) The tenure of the loan is really short as the amount given in the form of microfinance is too small. The borrowers have to repay the amount of loan in the prescribed time period given by the banks. They need not worry about the assets that are required to be kept in banks for security purpose.
- (5) The main focus of microfinance loans is to generate income for the poor people of undeveloped part of India so they can work smoothly.

Channels of Microfinance :- There are two channels through which microfinance is being operate in India.

- (1) SHG-Bank linkage programme
 - (2) Microfinance Institutions
- (1) **SGH-Bank Linkage Programme :-** SHG Bank Linkage Programme initiated by NABARD (as, a test Project in 1989) in active collaboration with non-Government, aimed at enhancing the coverage of rural poor under institutional credit thereby focusing on poverty alleviation and empowerment.

On this basis full flaged project involving a partnership among SHGS, Banks and NGOs was launched by NABARD in 1992. NABARD promoted the movement on a large scale launching a pilot project for linking the existing groups (500) with the banks allowing them to lend to the SHGs without may Collateral and since then, this is known as the Indian Microfinance Model.

The Linkage program started in Gujarat, Maharashtra, Andhra Pradesh, Rajashtan, Tamilnadu and Kerala and now a days it has expanded into one of the world's large Microfinance network

Apart from NABARD, There are three other major organizations in the Public sector which to provide loans to financial intermediaries for onward lending to SHGs.

- (1) Small Industries Development Bank of India (SIDBI)
- (2) Small Industries Kish (RMK)
- (3) Housing and Urban Development Corporation (HUBCO)

SHG-Bank Linkage Models :- Broadly, four different Model have emerged under the linkage programe in the country.

- (1) SHG-Bank Linkage Promoted by a mentor institute (NGOs)
- (2) SHG-Bank Direct Linkage

- (3) SHG-Mentor Institution Linkage and
- (4) SHG-Federation Model (Kudumbashree Model)

Each of the model can be Qualitatively assessed to arrive the strategic significance and scope for widespread adoption. Criteria for evaluation may include factor like.

- (1) Transaction cost of borrowing for SHGs and poor.
- (2) Costs of Co-ordination and Management.
- (3) Risk of funds and guarantee of repayment.
- (4) Social and economic impact on SHG movement.
- (5) Smoothness and ease of providing credit to the poor and its repayment.

Kudumbashree Model :- The state poverty Eradication Mission Kudumbashree was launched by the State Government of Kerala in 1998 with the active support of Government of India. The objective was to eradicate absolute poverty in 10 years. In this Model Three Tier structure at local level to district level.

- (1) Neighbourhood Group (SHG)
- (2) Area Development society (Including 15-20 SHGs)
- (3) Community development society (Federation of all group)

Kudumbashree is a government agency that has a budget and staff paid by the government. The three tier are also managed by unpaid volunteers.

Kudumbashree training courses include.

- (1) Women's rights
- (2) Knowledge of constitutional and legal provision
- (3) Training banking practices
- (4) Training in skill to set up micro-enterprises
- (5) Led to Women Empowerment

The SHG-Bank Linkage Programme has gained considerable movement in southern region of the country though the northern states too are also now catching up fast and an overwhelming (78%) of the listed SHGs are Women Self Help Groups (WSHG) that is the SHG which constitute of only Women members. Since the inception of NABARD promoted SHG Linkage programme there has been an appreciable both in the formation of SHG and their linkage with the banks.

The concept and importance of SHG has been accepted and adopted by policy makers and they will form the backbone of rural poverty alleviation strategies, implemented by Govt. of India.

Microfinance Institution :- A microfinance institution is a financial institution specializing in banking services for low-income groups or individuals. A microfinance institution provided account services to small. Balance accounts that would not normally be accepted by Traditional banks and offer transaction services for amounts that may be smaller than the average transaction fees charged by mainstream financial Institution.

Microfinance institution (MFIs) are financial companies that provide small loans to people who do not have any access to banking facilities. “Small Loan” varies between countries. In India all loans that are below Rs. 1 Lakh can be considered as microloans.

The Micro Credit institutions (MFIs) in India today offer a variety of products, follow different pricing strategies, adopt varied credit delivery models and have different legal forms and organizational structure. The Indian micro credit sector characterized by a variety of Micro Credit service providers. These include various apex financial institution like SIDBI and NABARD Government owned societies like Rashtriya Mahila Kosh, formal sector Financial Institutions, Commercial Banks, Regional Rural Banks in addition to member based institution like co-operative mutually Aided co-operative societies, SHG Federation, Private sector companies like Specialized, NBFCs, Societies, Trusts etc. Beside the existence of such a large number of players in the organized / semi-organized sector, the rural credit market in India is still largely dominated by the all pervading network of indigenous money lenders.

Type of Microfinance Institutions :- The Microfinance Institutions have been getting registered under different legislations, categorized under three heads

(1) **Non-for-Profits MFIs :-**

- (i) Societies registered under the Societies Registration Act, 1860 or similar state Acts.
- (ii) Public Trust registered under the Indian Trust Act, 1882.
- (iii) Non-Profit companies registered under section 25 of the Companies Act, 1956.

(2) **Mutual Benefit Companies :-**

- (i) State Credit Co-operatives
- (ii) National Credit Co-operatives
- (iii) Mutually Aided Co-operative Societies

(3) **For Profit MFIs :-**

- (i) NBFCs registered under the Companies Act, 1956

Goal of Microfinance Institutions :- The primary goals of MFIs are the following.

- (1) Evaluate the options available to help eradicate poverty at a faster rate.
- (2) Mobilise self employment opportunities for the underprivileged.
- (3) Empowering rural people by training them in simple skills so that they are capable of setting up income generation business.
- (4) Help in the provision of resources that offer support to the lower section of the society. There is special focus on Women in this regard as they have emerged successful in setting up Income generation enterprises.
- (5) Transform into a financial institution that assists in the development of communities that are sustainable.

Benefits of MFIs :- Some of Key benefits of microfinance institution include the following

- (1) It provides easy access to credit.
- (2) It make future investment possible.
- (3) It serves the under financed section of the society.
- (4) It helps in the generation of employment opportunities.
- (5) In includes the discipline of saving.

Groups organized by MFIs in India :- There are several types of groups organized by MFIs for offering credit, insurance and financial training to the rural population in India.

- (1) **Joint Liability Group (JLG) :-** This is usually an informal group that consists of 4-10 individual who seek loans against mutual guarantee. The loans are usually taken for agricultural purpose. Farmer rural workers and tenants fall into this category of borrowers. Each individual in a JLG is equally responsible for the loan repayment in a timely manner.
- (2) **Self Help Group (SHGs) :-** These groups are classified as non-profit organizations. The group takes care of the debt recovery. There is no collateral in this kind of group lending. Interest rates are generally low as well.
- (3) **Rural Co-operatives :-** This system had compete monitoring structures and were beneficial only to the creditworthy borrowers in rural India.

Microfinance companies in India :-

- (1) Equites small finance = offers small loan between Rs. 2,000 and Rs.35,000
- (2) ESAF microfinance and investments (P) Ltd. - offer loan between Rs. 1,000 and Rs. 1 Lakh.

- (3) Fusion microfinance Pvt. Ltd. – offer Loan amount between Rs. 3,000 and Rs. 60,000.
- (4) Annapurna microfinance Pvt. Ltd. – offer Loan amount between Rs. 1,500 and Rs. 25 Lakh.
- (5) Arohan financial services limited – offer Loan amount between Rs. 1,100 and Rs. 50,000.
- (6) BSS microfinance limited – offer Loan amount between Rs., 8,000 and Rs. 60, 000.
- (7) Asirvad microfinance Limited – offer Loan amount between Rs. 2,498 and Rs. 45,000.
- (8) Cashpor micro credit.
- (9) Bandhan financial services limited.
- (10) Fincare Business services limited.

Distribution Approach of MFIs :- The following generic approach to offer loans to the unbanked and under banked population in India as are follows.

- (i) The Basic self-help Group Model and its minor variations (PRADAN, NBJK, LEAD and others)
- (ii) GRAMEEN Replicator Approach (SHARE, ASA, CASHPOR India)
- (iii) Co-operative Grameen Hybrid Model (MAHILA, VIKASA)
- (iv) Federated SHG approach (DHAN Foundation)
- (v) Rural Industries Promotion (SHG) framework (My RADA)
- (vi) Urban Co-operation Banking Model (SEWA Bank)
- (vii) Multi-state Co-operative solidarity Group Model (ICNW)
- (viii) Enabling Co-operative Networking framework (CDF and MACS)

Conclusion :- We know financial institutions are the integral part of our economy as they play a key role in economic development. Therefore, Indian financial institutions are very strong but their operations are adverse, somewhere we are lacking in their implications. However, microfinance plays the major role in the alleviation of poverty from society. Many banks in India have initiated to lend money to microfinance institutions. The impact of microfinance programmes through SHGs has been effective in making positive social change for all members, irrespective of direct borrowers of micro credit. In the rural context, SHGs have facilitated the poor, especially women, to overcome existing constraints by providing access to formal credit institutions. These groups provide considerable social protection and income opportunities to members. The promotion of income-generating activities for poor rural women is

perceived as a powerful medium to resolve several socio-economic problem such as reduction in poverty provision of goods and services appropriate to local needs redistribution of Income and opportunity in the community etc.

References :-

- (1) Harper, Malcoml ; Self Help Groups, some Issues from India, small enterprise Development, volume VIII, No.2, 1997, PP-76
- (2) Jha,T.N., Micro credit finance model in Bangladesh : Lesson for India, yojana, Feb, PP=115-116
- (3) Gupta R; An informal Journal Through SHG's Indian Journal and agricultural Economic, Vol-56(3), July-Sep. 2001, PP=54-55
- (4) Bansal, 2003 "SHG-Bank Linkage Programme in India : An overview," Journal of Microfinance, Vol 5, No.-1 PP-25
- (5) Nanda, Y.C. "Significance of Establishing Linkages of SHGs with banks Lucknow, 1995 of SHGs with banks, Lucknow. 1995 PP-201
- (6) NABARD, Linking SHG with Banks, Bombay, 2003 PP-22

भारतीय पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास

सिम्ली रानी

शोधार्थी (इतिहास) NET (UGC)

पत्रकारिता जन संपर्क के सशक्त माध्यम के रूप में न केवल प्रभावी भूमिका का निर्वाह करती है, वरन् जनतांत्रिक शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए उचित वातावरण का निर्माण भी करती है। जो समाज में शीर्षस्थ हैं और जन-जीवन के विभिन्न पक्ष, जिनसे नियंत्रित एवं संचालित है। उनके समस्त क्रिया-कलापों पर पत्र-पत्रिकाओं की सतर्क दृष्टि रहती है। इस तरह विचारों के संघर्ष के आधुनिक युग में पत्रकारिता और पत्र-पत्रिकाएँ इस विचार संघर्ष की सहायक अस्त्र हैं। सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में पत्र-पत्रिकाएँ जनता की पथ-प्रदर्शक, शुभचिंतक एवं निस्वार्थी साथी की भूमिका का भी निर्वाह करती है।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार आधुनिक समाज के सामाजिक संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने आस-पास घटित होने वाली घटनाओं के बारे में सदा जानने का इच्छुक रहता है। जानने की यह उत्कंठा जन-संचार के विभिन्न साधनों के द्वारा ही पूरी हो पाती है।

पत्रकारिता : अर्थ एवं परिभाषा

पत्रकारिता अंग्रेजी के 'जर्नलिज्म' का अनुवाद है। 'जर्नलिज्म' शब्द में फ्रेंच शब्द 'जर्नी' या 'जर्नल' यानी दैनिक शब्द समाहित है। जिसका तात्पर्य होता है, दिन-प्रतिदिन किए जाने वाले कार्य। पहले के समय में सरकारी कार्यों का दैनिक लेखा-जोखा, बैठकों की कार्यवाही और क्रियाकलापों को जर्नल में रखा जाता था, वहीं से पत्रकारिता यानी 'जर्नलिज्म' शब्द का उद्भव हुआ। 16वीं और 18वीं सदी में पीरियोडिकल के स्थान पर डियूरलन और 'जर्नल' शब्दों का प्रयोग हुआ। बाद में इसे 'जर्नलिज्म' कहा जाने लगा। पत्रकारिता का शब्द तो नया है, लेकिन विभिन्न माध्यमों द्वारा पौराणिक काल से ही पत्रकारिता की जाती है।

समाज में प्रतिदिन होने वाली ऐसी घटनाओं और गतिविधियों को जानने के लिए पत्रकारिता को बहु उपयोगी साधन कहा जा सकता है। इसलिए पत्रकारिता को जल्दी में लिखा गया इतिहास भी कहा जाता है। समाज से हर पहलू और आत्मीयता के साथ जुड़ाव के कारण ही पत्रकारिता को कला का दर्जा भी मिला हुआ है।

महात्मा गाँधी के अनुसार- पत्रकारिता का अर्थ सेवा करना है।

डॉ० बद्रीनाथ कपूर के अनुसार- "पत्रकारिता पत्र-पत्रिकाओं के लिए समाचार लेख आदि एकत्रित तथा सम्पादित करने, प्रकाशन आदेश आदि देने का कार्य है।"

हिन्द शब्द सागर के अनुसार- "ज्ञान और विचार शब्दों तथा चित्रों के रूप में दूसरे तक पहुँचाना ही पत्रकारिता है।"

सीजी मूलर "सामयिक ज्ञान के व्यवसाय को पत्रकारिता मानते हैं। इस व्यवसाय में आवश्यक तथ्यों की प्राप्ति, सावधानी पूर्वक उनका मूल्यांकन तथा उचित प्रस्तुतीकरण होता है।

आधुनिक पत्रकारिता को परिभाषित करते हुए पत्रकार **आर. आर. खाडिलकर** ने कहा है— "ज्ञान और विचार, शब्दों तथा चित्रों के रूप में दूसरे तक पहुँचाना पत्रकला है।

पत्रकारिता के उद्देश्य

पत्रकारिता के उद्देश्य विभिन्न परिवर्तनों के साथ युगानुरूप बदलते रहते हैं। गांधी जी ने कहा था "पत्रकारिता एक सेवा है" यदि इसे गांधी जी से भी पूर्व 19वीं शताब्दी की प्रारम्भिक हिन्दी पत्रकारिता का सिंहावलोकन किया जाय तो यह तथ्य निर्विवाद रूप से सत्य है कि उस काल की अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ यथा 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'भारत मित्र', 'सारसुधानिधी', 'समय-विनोद', 'उचितवक्ता', 'भरतेन्दु' अदि किसी व्यवसायिक दृष्टिकोण से नहीं, वरन् विशुद्ध जनसेवा, जन-जागृति एवं जन-समर्पण की भावना से निकाली गई थीं।

भारत में पत्रकारिता का उद्भव

भारत में समाचार पत्रों का इतिहास यूरोपीय लोगों के भारत में प्रवेश के साथ ही प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम भारत में प्रिंटिंग प्रेस लाने का श्रेय पुर्तगालियों को दिया जाता है। पुर्तगाली मिशनरियों द्वारा स्थापित प्रेस में धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन ज्यादा होता था। भारत में मुद्रण कला का आरंभ 16वीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने किया। पत्रकारिता की प्रमुख प्रेरक शक्ति, भारत में प्रेस की स्थापना (6 सितम्बर, 1556 ई0) थी। सन् 1557 में गोवा में भारत की पहली प्रेस स्थापित हुई। इसी प्रेस से सन् 1557 में छपी सेंट जेवियर कृत 'दाकैत्रीना क्रिस्टाओ' भारत-भूमि में मुद्रित सर्वप्रथम पुस्तक थी। देश में दूसरा प्रेस सन् 1578 में तमिलनाडु के तिनेवेली जिले के पौरीकील नामक स्थान पर लगा। तीसरा प्रेस मालाबार के विपिकाटो में पादरियों ने सन् 1602 में स्थापित किया।

ब्रिटिश भारत में पहला अँग्रेजी छापाखाना सन् 1674 में मुंबई में स्थापित हुआ। इसके लगभग सौ वर्ष पश्चात् सन् 1772 में चेन्नई में और 1779 में कोलकाता में सरकारी छापाखाने की स्थापना हुई। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारत के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में मुद्रण की पर्याप्त व्यवस्था हो चुकी थी। मगर भारत का पहला अखबार इस के 100 साल बाद, 1776 (कहीं 1766 भी लिखा गया है) में प्रकाशित हुआ। इस प्रकाशक ईस्ट इंडिया कंपनी का भूतपूर्व अधिकारी विलेम बॉल्ड्स था। यह अखबार अँग्रेजी भाषा में निकलता था, तथा कंपनी व सरकार के समाचार फैलाता था। नागरी टाइप का प्रयोग सबसे पहले यूरोप में प्रकाशित पुस्तक अथानासी किर्चरी कृत 'चाइना इलस्ट्रेटा' (1667 ई.) में हुआ था। भारत में नागरी लिपी के टाइप हुगली के विल्किन्स एवं पंचानन कर्मकार के प्रयासों से निर्मित हुए। 18वीं शताब्दी में भारत में मुद्रण के क्षेत्र में अनेक बड़े प्रयास हुए। ईसाई धर्म प्रचारकों ने मुंबई, विपिनकोटा, तमिलनाडु, कोलकाता आदि में अनेक प्रेस पुस्तकों के प्रकाशन के लिए स्थापित कर लिए थे, किन्तु सन् 1780 ई. के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किसी भी भाषा में प्रारंभ नहीं हो पाया था। इसका मुख्य कारण ईस्ट इंडिया कंपनी की पत्रकारिता के प्रति स्वतंत्रता विरोधी नीति थी। उसके अधिकारी वर्ग को यह भय और आशंका रहती थी कि अँग्रेजी पत्रों द्वारा भ्रष्टाचार, लूट, पक्षपात आदि निन्दनीय भ्रष्ट कार्यों की इंग्लैंड तक सूचना पहुंच जाएगी।

भारत में अंग्रेजी पत्रकारिता का आविर्भाव

भारत में, हिन्दी एवं अंग्रेजी पत्रकारिता की जन्म भूमि होने का गौरव, देश की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता को प्राप्त हैं। इसके दो प्रमुख कारण थे। प्रथम कारण यह था कि सन् 1775 ई. में छपाई का कार्य कलकत्ता में प्रारंभ हो चुका था। तथा सन् 1777 ई. में जेम्स आगस्टस हिक्की ने कलकत्ता-कारागार से अपने ऋणों का भुगतान कर, जेल में मुक्ति पाने हेतु एक प्रेस की स्थापना की। उन्होंने 26 जनवरी सन् 1780 ई. को भारत के प्रथम समाचार पत्र "बंगाल गजट: कैलकटा जनरल एडवरटाइजर" को स्थापित कर भारतीय पत्रकारिता की नींव डाली। इस समाचार पत्र ने पश्चिम के पत्रों की परम्परा स्वीकार करते हुए भारतीय पत्रों के आदर्श तथा उनका भविष्य निर्धारित किया। उन्होंने प्रथम अंक में लिखा था— "अपने मन और आत्मा की स्वतंत्रता के लिए अपने शरीर को बंधन में डालने में मुझे आनन्द आता है। हिक्की ने पत्र के माध्यम से भारत स्थित यूरोपियनों के नैतिक पतन को उद्घाटित किया। अपने पत्र की नीति के विषय में उनका यह वक्तव्य— "यह राजनीतिक और व्यापारिक साप्ताहिक पत्र खुला तो सबके लिए है, पर प्रभावित किसी से नहीं है। "हिक्की-गजट" तत्कालीन गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स का कठोर आलोचक था। अपने सम्बन्ध में उक्त पत्र की निर्भीक आलोचना देखकर वारेन हेस्टिंग्स क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने 14 नव0 सन् 1780 ई. को "हिक्की-गजट" पर प्रथम प्रहार कर पत्र को डाक से भेजने की सुविधा को छीन लिया। जब डाक द्वारा पत्र भेजने की सुविधा समाप्त कर दी गई तो आगस्टस हिक्की ने अपने स्तम्भों में सरकारी नीति की और भी तीव्र टीका तथा कठोर आलोचना आरम्भ कर दी। हिक्की को अपनी निर्भीकता का मूल्य यह चुकाना पड़ा कि वे प्रथम ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें पत्रकार के कर्तव्यों की पूर्ति करते हुए, भारत में प्रतिष्ठित अपने ही देश की सरकार का कोपभाजन बनकर कारागार की यात्रा करनी पड़ी। इस प्रकार हिक्की ने पत्रकारिता को एक नयी दिशा प्रदान की और इसीलिए भारत के पत्रकारिता के इतिहास में उनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है।

अंग्रेजों द्वारा सम्पादित समाचार पत्र

समाचार पत्र	स्थान	वर्ष
टाइम्स ऑफ इंडिया	बम्बई	1861
स्टेट्समैन	कलकत्ता	1878
मद्रास मेल	मद्रास	1868
पायनियर	इलाहाबाद	1876

हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव (1826-1867)

भारत-भूमि पर हिन्दी-समाचार पत्रों के प्रकाशन से पूर्व उर्दू एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं के पत्रों का प्रकाशन का एक तारतम्य सा बंध गया था। वहीं बहुत ही कष्टदायी परिस्थितियों में अर्थात् एक कछुआ-गति से हिन्दी-पत्रकारिता का उद्भव एवं विकास-कार्य प्रारम्भ हुआ था। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय स्पष्ट रूप से राजनीतिक पत्रों का विवरण है, इसके पूर्व के पत्र ऐतिहासिक क्रम में राजनीति एवं साहित्य का मिला जुला स्वरूप था जो 1826 से 1867 तक स्पष्ट मिला है, इसके बाद 1868 से 1885 तक का विवरण मिलता है तथा 1886 से 1900 तक का विवरण प्राप्त होता है।

1826 से 1867 तक की पत्र-पत्रिकाएँ

1. उदन्त मार्तण्ड 1826 साप्ताहिक, कलकत्ता ।
2. बंगदूत 1829 कलकत्ता ।
3. प्रजामित्र 1834 साप्ताहिक, कलकत्ता ।
4. बनारस अखबार 1845 साप्ताहिक, बनारस ।
5. मार्तण्ड 1846 साप्ताहिक, कलकत्ता ।
6. मालवा अखबार 1849 साप्ताहिक, मालवा ।
7. सुधाकर 1850 साप्ताहिक, काशी ।
8. बुद्धिप्रकाश 1852 साप्ताहिक, आगरा ।
9. समाचार सुधार्वण 1854 दैनिक कलकत्ता ।
10. प्रजाहितैषी 1855 साप्ताहिक, अगरा ।
11. तत्वबोधिनी पत्रिका 1865 बरेली ।
12. ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका 1866 मासिक लाहौर ।
13. वृत्तान्त विलास 1867, मासिक जम्मू ।

1868 से 1885 तक के पत्र-पत्रिकाएँ

1. कवि वचन सुधा, मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक 1868 काशी ।
2. जगत समाचार, 1869, साप्ताहिक, आगरा ।
3. सुलभ समाचार, 1871, साप्ताहिक, कलकत्ता ।
4. बिहार बन्धु, 1871, मासिक, बांकीपुर ।
5. चरणाद्रि चन्द्रिका 1873, साप्ताहिक, बनारस ।
6. हरिश्चन्द्र मैगजीन, 1873, मासिक बनारस ।
7. बालाबोधिनी, 1874, मासिक बनारस ।
8. भारत बन्धु 1874, साप्ताहिक, अलिगढ़ ।
9. काशी पत्रिका 1875 साप्ताहिक, काशी ।
10. हिन्दी प्रदीप 1877 मासिक इलाहाबाद ।
11. कायस्थ समाचार 1878 मासिक इलाहाबाद ।
12. आर्य मित्र 1878 मासिक बनारस ।
13. उचित वक्ता 1878 साप्ताहिक, कलकत्ता ।
14. भारत सुधा प्रवर्तक 1879 फर्रुखाबाद ।
15. सारसुधानिधी 1879 साप्ताहिक कलकत्ता ।
16. क्षत्रिय पत्रिका 1880 बांकीपुर ।
17. आनन्द कादम्बिनी 1881 मासिक मिर्जापुर ।
18. भारतेन्दु 1883 वृन्दावन ।

19. देवनागरी प्रचारक 1882 मेरठ।
20. ब्राह्मण 1883 मासिक कानपुर।
21. काशी समाचार 1883 साप्ताहिक काशी।
22. इन्दु 1883 मासिक लहौर।
23. कान्यकुब्ज प्रकाश 1884 लखनऊ।
24. हिन्दोस्थान 1885 दैनिक कालाकांकर, प्रतापगढ़।
25. भारतोदय 1885 दैनिक कानपुर।

1885 से 1900 के मध्य प्रकाशित हिन्दी अखबार

1. आर्यावर्त 1887 साप्ताहिक कलकत्ता।
2. रहस्य चन्द्रिका 1888 पाक्षिक बनारस।
3. हिन्दी बंगवासी 1890 साप्ताहिक कलकत्ता।
4. नागरी नीरद 1893 साप्ताहिक मिर्जापुर।
5. साहित्य सुधानिधि 1894 मासिक काशी।
6. श्री वेंकटेश्वर समाचार 1895 साप्ताहिक मुम्बई।
7. विद्या विरोध 1895 मासिक बांकीपुर।
8. नागरी प्रचारणी पत्रिका 1896 त्रैमासिक काशी।
9. समस्यापूर्ती 1897 बांकीपुर।
10. रसीक पत्रिका 1897 साप्ताहिक कानपुर।
11. उपन्यास 1898 मासिक काशी।
12. पण्डित पत्रिका 1898 मासिक काशी।
13. सरस्वती 1900 मासिक इलाहाबाद।

हिन्दी पत्रकारिता के विकास काल (1900– 1947)

वर्ष 1900 हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में महत्पूर्ण है। 1900 में प्रकाशित सरस्वती पत्रिका अपने समय की युगान्तरकारी पत्रिका रही है। वह अपनी छपाई, सफाई, कागज और चित्र के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई। इसे बंगाली बाबू चिन्तामणि घोष ने प्रकाशित किया था, तथा इसे नागरी प्रचारिणी सभा का अनुमोदन प्राप्त था। इसके सम्पादक मण्डल में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिका प्रसाद खत्री, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरी दास गोस्वामी तथा प्रसिद्ध हिन्दी लेखक बाबू श्यामसुन्दर दास थे।

इस समय जो भी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती उनके सामने अनेक बाधाएँ आ जातीं, लेकिन इन बाधाओं से टक्कर लेती हुई हिन्दी पत्रकारिता धीरे-धीरे गति पाती गई।

आदि युग-हिन्दी पत्रकारिता के उद्भव काल अर्थात् 30 मई 1826 को पं. जुगल किशोर शुक्ल द्वारा उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन आरंभ करने से 1872 तक उसका आदि युग रहा।

भारतेन्दु युग-हिन्दी साहित्य के समान ही हिन्दी पत्रकारिता में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपना एक अलग ही स्थान है।

मालवीय युग— 1887 में कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह ने मालवीय जी कि संपादकत्व में 'हिन्दोस्थान' नाम समाचार पत्र का प्रकाशन आरंभ किया था।

द्विवेदी युग— पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 1903 से सरस्वती का प्रकाशन करने के साथ ही पत्रकारिता को एक नया स्वरूप मिल गया।

गांधी युग— मोहनदास करमचन्द गांधी अर्थात् महात्मा गांधी का हिन्दी पत्रकारिता बड़ा योगदान रहा है। गांधी युग 1920 से 1947 तक माना जाता है उन्हीं वर्षों में ही विश्व पत्रकारिता जगत में भारतीय पत्रकारिता की विशेष पहचान बनी।

आधुनिक युग— स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर अब तक के वर्षों की हिन्दी पत्रकारिता की विकास यात्रा को आधुनिक युग में रखा जाता है। इस युग में पत्रकारिता के विषय क्षेत्र का विस्तार और नए आयामों का उद्भव हुआ है।

हर दिन नए-नए अखबार एक नए स्वरूप में लोगों के सामने आ रहे हैं। खोजी पत्रकारिता का समावेश भी तेजी से अखबारों का अपना चपेटे में ले रहा है। ज्यादातर अखबार इंटरनेट पर भी अपने साने संस्करण उपलब्ध करा रहे हैं।

संदर्भ सूची

1. जान पी. ब्रेडली, द्वारा संपादित, दि इंटरनेशनल डिक्शनरी ऑफ थेट्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1958, पृ. 517
2. वाल्टर लिपमैन, पब्लिक ओपीनियन, हाबिनसंस पब्लिशिंग ग्रुप लिमिटेड, लंदन, 1982, पृ. 365
3. अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार-पत्रों का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ.1
4. रामचंद्र तिवरी, पत्रिका संपादन कला, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृ. 58
5. रमेश कुमार जैन, हिन्दी पत्रकारिता का आलोचनात्मक इतिहास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 1982, पृ. 15
6. अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्र कला, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1979, पृ.1
7. वी. अय्यर, द इंडियन प्रेस, एस. चौद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1953, पृ.4, 5 व 28, 29
8. काशीनाथ जोगलेकर का लेख, भारतीय प्रेस-कल और कल, हिन्दुस्तान, 11 अगस्त 1996, पृ. 291
9. अम्बिकादत्त बाजपेयी, समाचार-पत्रों का इतिहास, पूर्वोद्धत पृ.1
10. वीरेन्द्र वर्मा, प्राचीन हिन्दी पत्र संग्रह, सम्पादक, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, 1959, पृ . 23-324
11. मीरा रानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2005, पृ. 143-144
12. संजीव भानावत, पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम

Of Woman Born: Feminist Deconstruction and Reconstruction of the Creation myth in Doris Lessing's *The Cleft*

Lata Dubey

Associate Professor, Department of English, Banaras Hindu University

In this paper I'll make an attempt to explore how Doris Lessing, the British Nobel Laureate, revisits the conventional themes of gender differences and politics in her novel *The Cleft*. As a twenty-first century historiographer Lessing rewrites the creation myth about how the two sexes developed, positioning women as the first sex and men as the interlopers. Lessing's inquiring and restless intellect and her refusal to be pigeonholed as a feminist writer or within a genre have made her one of the most relevant social commentators of the present century. By writing honestly about the ways in which women struggle with gender roles, motherhood and sexuality, she throws open the doors to a more complex understanding of social interactions and validates women's expressions as way to political transformation.

The Cleft recounts a fascinating story of the creation that at once deconstructs and reconstructs the Biblical Myth. In ancient Rome during the time of Nero, the narrator, a Roman historian near the end of his life, takes on the ambitious task of relating the story of human creation along the way revealing the little known story of the clefts, an ancient community of women who were impregnated by the wind or waves in their seaside community of women living in a utopian paradise. Perhaps it has been felt that an account of our beg... that makes females the first and f.. stock is unacceptable. In Rome now, a sect- the Christians insist that the first female was brought forth from the body of a male. Very suspect stuff . . . Some male invented that the exact opposite of the truth. I have always found it entertaining that females are worshipped as The senator tells how the cleft women impregnated by the wind or waves in their seaside community to give birth to female children only that is until one day a "deformed" baby is born the first male. This even causes a seismic change in the cleft society one in which males and females slowly learn to co-exist and then to get together in the traditional way resulting in offspring with qualities of both sexes. This bold and satirical challenge to the Biblical legend is all about gender identity and how that affects almost every aspect of our lives.

Research shows that the basic template for the body and brain of a human foetus is female in its structure. As a result men have some redundant female features such as nipples. Men also have mammary glands which do not function but retain the potential to produce milk. (189)

The fluidity of Human nature is the principal concern of Doris Lessing in *The Cleft*. As a fitting example of science fiction, the text underscores a myth of origin based on the idea that human beings were originally parthenogenetic that is produced by asexual reproduction. Many plants reproduce asexually, as do some animal species including types of grasshopper and lizard. These members of the species consist entirely of females. Discovering an analogy between humans and other species-plants and animals switch from asexual to sexual reproduction for instance one can consider the paradigmatic case of volvox. When the ponds in which they live are threaten to dry they switch over to another. The process that produces new variants are able to survive draught.

Similarly, in *The Cleft*, a genetic mutation which produces male children (monsters) seems to be related to increased environmental instability, for example, an explosion which takes place in the clefts' burial ground due to a build-up of poisonous gases. When the "monsters" breed with the females "clefts" they produce "the new ones" whose vigorous and enquiring nature..... likely to enable them to respond more proactively than "the old one" to environmental change.

In her depiction of the monsters, female and male, Lessing seems to set on play extremely familiar sex gender stereotypes the women are passive and unenquiring the man adventurous and risk taking. Reviewing the novel, Ursula Le Guin writes that it "appears to be as prescriptive as Desmond Morris and more essentialist than Freud himself. Anatomy is destiny. Gender is absolute binary women are passive, incurious, timid and instinctually nurturant and without men, they scarcely rise above animal mindlessness. Men are intellectual inventive, daring, rash, independent and need women only to relieve libido and breed more men an archive; women nag" (Le Guin 2007)

The celebrated writers Allan and Barbara Pease make highly remarkable observations in this regard. Men and women are different. Not better or worse – different just about the only thing. They have in common is that they belong to the same species. They live in different worlds, with different values and according to quite different set of rules."

The question of relationship between natural and cultural, biological and social has been treated throughout the wrap and woof of Lessing's works. Right from *The Golden Notebook*, her *magnum opus*.

The premise of the Cleft as creation myth, sparked by a recent scientific article is that "The basic and primal human stock was probably female. And that males came along later, as a kind of cosmic afterthought"(Preface to the novel) This reversal of the Biblical myth put in the mouth of the pagan scholar has scant use for the upstart Christians, who "insist that the first female was brought forth for the body of a male." He knows better, as he is writing a history based on an ancient "strictly secret" document called "The Cleft".

In some creation myths the creator is female. The logic of this is contained in the obvious role of the female as birth-giver. In pre-patriarchal times when it seems likely that goddesses rather than gods reigned as the supreme beings, there would have been numerous myths of female creations. With the emergence of patriarchal cultures, these female creators would have been replaced by male figures. In Neolithic goddess culture examples of Great Mother as creator has been framed.

George Bernard Shaw in his play *Back to Methuselah* endorses upon this view in a conversation between Eve and the Serpent:

“... Listen. I am old. I am the old serpent, older than Adam, older than Eve. I remember Lilith, who came before Adam and Eve. I was her darling as I am yours. She was alone: there was no man with her... Her pangs were terrible: her groans drove sleep from Eden. She said it must never be again: that the burden of renewing life was past bearing: that the burden was past bearing: that it was too much for one. And when she cast the skin, lo! there was not one new Lilith but two: one like herself, the other like Adam. You were the one: Adam was the other.” (*Collected Plays* 347)

The very structure of the novel seems to reflect this gendered division of labour the frame narrator is a Roman senator and historian who is transcribing and commenting on a fragmentary record taken from oral tradition. The senator has been described by Lessing in an interview as “very reactionary” and yet as his own history leaks through into the narrative, it becomes “male” ambition and forces, working him to become a senator and sparing little thought for his wife and children.

Despite an infuriating absence of character and plot, Doris Lessing writes movingly of the human desire for change, revolutionary and evolutionary and for things to stay the same. In the end, she conveys a powerful belief in the impermanence of any situation in which human beings find themselves and the paradoxically unchanging nature of human relations.

Lessing might have been influenced by *Charlotte Perkins Gilman's* whose utopian feminist novel, *Herland* depicts an all female society that reproduces via parthenogenesis. This text is politically correct and offers a stronger plot and clearer delineation of character. Much before Lessing as early as in the first decade of the twentieth century one finds an interesting evidence of a witty utopian fantasy in ‘Sultana’s Dream’ by Rokeya Shakhawat Hossain (1880 – 1993). Hossain delves deep into the similar theme, “This is a lady land, free from sin and harm – virtue itself reigns here.” (343)

The novel on the cover jacket boasts of a portrayal of a “mythical society free from sexual intrigue free from jealousy, free from petty rivalries a society free from men.” But it is ironical to note that only these foundation stones of human interactions form the framework of the narrative constituent.

Despite an infuriating absence of character and plot, Doris Lessing writes movingly of the human desire for change, revolutionary and evolutionary and for things to stay the same. Ultimately she conveys a powerful belief in the impermanence of any situation in which human beings find themselves and the paradoxically unchanging nature of human relation. Quite interestingly, the structure of the novel reflects the gendered division of labour. The narrator of the discourse is a Roman Senator and historian who transcribes and comments on a fragmentary record taken from female oral tradition. He himself has played both male and female role. In his first marriage, he demonstrates a typically “male” ambition and focus working hard to become a senator and sparing little thought for his wife and children. However after both his sons are killed fighting for the empire he begins to think about what he has lost in not knowing these young men when he marries again he is quite cautious and not determined neglect the children of this marriage. His new wife turns out to have “motherly feelings” after her children are born, they are handed over to nursery and acting just as he did in the first marriage she gives no further thought. By contrast he gets involved in their care and counts them the “best blessings of my life.”

WORKS CITED

- Lessing, Doris. *The Cleft*. Fourth Estate, 2007.
- Leeming Adams David and Margaret Adams Leeming. *A Dictionary of Creation Myths*. Oxford U P, 1994.
- Shaw, Gerorge Bernard. *Back to Methuselah* in *Collected Plays*.
- The Holy Bible*. The New Revised Standard Version. Thoams Nelson, (Gen. Ed.) Bangalore: Theological Publications in India. 1995
- Millett, Kate. *Sexual Politics*. London. Virago. 1991
- Milton, John. *Paradise Lost*. 1567. Ed. Alastair Fowler, New York, London. 1987
- Beauvoir, Simone De, *The Second Sex*
- Pease Allan, Barbara. *Why Men Don't Listen and Women Can't Read Maps*. Bhopal: Manjul Publishing House Pvt Ltd. 2003
- Hossain Sakhawat Rokeya “Sultana’s Dream” in Lalita K. Tharu, Susie *Woman Writing in India Vol. 1*. Early Twentieth Century, Oxford University Press. 1991.
- Ursula Le Guin.

NEW POINTS:

Cosmic afterthought

This at once inspires Lessing to offer for origin of the human race. She calls upon the sensitive reader to take a dive into the deeply embedded mythical society free from sexual intrigue, free from jealousy, free from petty rivalry, a society free from men. She readily invents a cult of ancient women called the Clefts, a name derived, in part from that essential part of female anatomy.

As a fable, *The Cleft* is set in a period that predates written records as the novelist embarks upon the task of correcting the omission in the predicament of contemporary women and how they lack a sense of history. The title of the novel refers to a word loaded with meaning and suggestion. As this word refers on the one hand to the women as a group and to the obvious detail that distinguishes female anatomy and on the other to an important geographical feature of their island, a cut in the earth associated with the mysteries of the menses and birth. Added to this in earlier times, it referred to human sacrifice. Interestingly enough, without explanation, the Clefts reproduce a male child, he is promptly taken to a cliff to die viewing his genitalia as birth defects. Lessing deconstructs the creation myth while she defamiliarizes the early encounters between the sexes by evading such popular terms as passion, desire and love.

The novel, however is not cast in the conventional mould. Barring a few fleeting allusions to the Senator's own family, there are no identifiable characters. The principal personages of the second part, the Cleft Maronna and Squire Horse, are types. The real strength of the novel is its discourse on history. The novelist wonderfully manipulates multiple perspectives as she portrays the Senator grappling with chronicles of even at the dawn of time. Needless to say that the book bears a true test to the creative genius of a writer at the fag end of his/her highly prolific writing career.

Julie Phillips in her review suggests how Lessing embarks upon the journey of her narrator, citing an epigraph from Robert Graves Man does, women is. As a variant of oracular essential that has taken a tool for the past four decades Lessing seems to endorse upon this. The brief foreword to the novel reflects on men because "they lack the solidity of women, who seem to have been endowed with a natural harmony with the ways of the world. . . Men in comparison are unstable and erratic. Is Nature trying something out?" The reviewers further suggest one of many. Lessing's talent is to describe women at odds with the ways of the world. But herein, she herself is engaging in trying something out. The novel claims to be a fable of the prehistoric past. In this unknown time, a group of seal-like females live in a communal life incuriously beside the sea, near a rock formation called the Cleft.

As a befitting illustration of a speculative fiction, the novel ranks high and wins a secure position for its creator. Sophie Harrison in a review "Between a Rock and a Hard Place" has opined that, *the Cleft* is about what Freud might think it was about; 'woman' is the most delicate way of putting it. As a versatile genius among the

contemporary novelists, Lessing has been intuitively curious about the difference between the society but her thinking appears to have hardened lately. She admits to wondering “if men were not a younger type, a junior variation (www.thetimes.com) .” *The Cleft* at once stems out of this speculation. That’s precisely why the creative imagination of the novelist weaves out a world in which the earliest forbears were women, inhabiting a society consisting exclusively of women, a kind of prehistoric Handmaid’s Tale:

They lived in the shore of the warm sea on an island that was in fact very large, but they never went far from home-shore. They were of the sea, sea creatures, eating fish and seaweeds and some shore growing fruits. They used tall caves with sandy floors but they might as easily sleep out on the rocks as under the cave roofs. As for their own capacity to give birth, they had never questioned it. That was how the things had always been nothing changed could change, would change... They lived in an eternal present. For how long? Useless to ask . . .
(*The Cleft* 30-31)

Many reviewers, commentators and critics have raised eyebrows because herein Lessing has done away with fundamental intersectics of fiction. She has preferred to cast characters as types, disembodied voices with no clear identities. They scarcely feel of drama, intrigue. The action seems to be minimal as far as possible. The entire novel is narrated by a Roman Senator, a male historian who has come into possession of ancient legends in manuscript fragments. But the undercurrent storyline of the Senator’s domestic life establishes few links between the two time frames such as the mythical founders of Rome being breastfed by a wolf, or the symbolic importance of the eagle in imperial Rome.

पीढ़ीगत समाज का पारिवारिक स्वरूप

डॉ० रामाकान्त प्रसाद

ग्राम— बडुई, पोस्ट— दरिगांव, थाना— सासाराम, जिला— रोहतास, बिहार

पीढ़ीगत संघर्ष का तात्पर्य एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी के बीच वैचारिक विभेद अलगाव एवं टकराव से है। जिसका परिणाम समाज पर पड़ता है और समाज में मानव जीवन के लिए जो आवश्यक एवं प्रथम संस्था के रूप में जो परिवार है, उस पर पीढ़ीगत संघर्ष का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों से प्रभाव पड़ता है। इसका प्रभाव नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही हैं, नकारात्मक प्रभाव से परिवार विघटित होता है, पारिवारिक संगठन टूटता है तथा परिवार रूपी संस्था से व्यक्ति को जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सुरक्षा उपलब्ध रहती है, उसका अभाव हो जाता है तथा मानव जीवन में अकर्मण्य सदस्यों के लिए एक विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है और उनकी स्थिति बहुत ही दयनीय हो जाती है। पीढ़ीगत संघर्ष का सकारात्मक पक्ष यह है कि समाज में सक्षम, योग्य एवं क्रियाशील प्राणी संघर्ष की प्रक्रिया में, दूसरे शब्दों में संघर्ष के कारण जो पारिवारिक स्वरूप में परिवर्तन आते हैं, उसका लाभ उठाते हैं और अपनी क्षमता एवं योग्यता का सदुपयोग करके अपना व्यक्तिगत विकास बहुत तेजी से करते हैं।

महिलाओं में पीढ़ीगत संघर्ष एक आदिकाल से चला आ रहा है। पीढ़ीगत संघर्ष समाज में महिलाओं के बीच किसी-न-किसी रूप में सदैव सभी सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त रहा है, लेकिन सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार थी कि नयी पीढ़ी की महिलाएँ पुरानी पीढ़ी की महिलाओं के अधीन ही रहकर अपना जीवन निर्वाह करने के लिए इच्छा या अनिच्छा से बाध्य रहती थीं क्योंकि महिलायें एवं उनके पतिगण पुरानी पीढ़ी पर सभी प्रकार से निर्भर रहते थे, अतएव नयी पीढ़ी के लोगों के पास पुरानी पीढ़ी के लोगों की बात मानने एवं उनके अधीन रहने के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प ही नहीं था और जिसके पास आज भी विकल्प का अभाव है वे लोग पुरानी पीढ़ी के लोगों के विरुद्ध सामान्यतः अपना विचार व्यक्त करने के अधिकारी नहीं हैं। आज समाज में पारिवारिक स्वरूप बहुत तेजी से बदल रहा है जिनके अनेक कारण हैं, लेकिन उन कारणों का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से परिवार के स्वरूप एवं आकार पर पड़ रहा है और परिवार के स्वरूप एवं आकार के परिवर्तित होने से परिवार के सदस्यों के सोचने-समझने, निर्णय लेने एवं अन्य निर्णय को क्रियान्वित करने के तरीकों में बहुत ही क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है और

हो रहा है। संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में बदल रहा है और एकाकी परिवार में भी वृहद एकाकी परिवार से अब केवल पति-पत्नी और बच्चों में सिमटता जा रहा है।

महिलाओं में शिक्षा का प्रसार, आर्थिक निर्भरता, राजनैतिक स्वतंत्रता, पुराने धार्मिक मूल्यों में शिथिलता, जातीय बंधन से उन्मुक्तता, सांस्कृतिक प्रतिमानों का प्रभाव भी होना, महिलाओं में राजनैतिक चेतना का विकास होना एवं उनके सोचने और समझने की बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होना तथा पुरुषों के समान समाज में सामाजिक एवं संवैधानिक अधिकार प्राप्त होना, आदि अनेक कारण हैं, जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है। महिलाओं में भी कई समूह हैं या दूसरे शब्दों में कई पीढ़ी की महिलाएँ समाज में एक साथ रहती हैं, जिनका आपस में वैचारिक विभेद है। जिसके कारण उनके सोचने और समझने की सीमाएँ हैं। इसके साथ ही साथ आर्थिक तत्व भी महिलाओं में पीढ़ीगत संघर्ष का एक कारण है क्योंकि परिवार में आर्थिक स्रोतों पर नियंत्रण को लेकर भी महिलाओं में प्रायः संघर्ष देखने को मिलता है जिसका परिणाम व्यक्ति के पारिवारिक जीवन पर पड़ता है और व्यक्ति उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है। पीढ़ीगत संघर्ष में जाति, आयु, शिक्षा, पारिवारिक स्वरूप, वैवाहिक स्थिति, आय आदि तत्व पीढ़ीगत संघर्ष को जन्म देते हैं, जिनका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव परिवार पर पड़ता है चूँकि व्यक्ति परिवार का जन्मजात सदस्य है इसलिए इसका सीधा प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है।

समाज में व्यक्ति अपनी क्षमता एवं आवश्यकता के अनुरूप ही सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार करता है एवं अस्वीकार करता है। इसके साथ ही साथ मानव अपने जैविकीय आवश्यकताओं के अनुरूप भी वर्तमान परिवेश से सामंजस्य स्थापित करता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी विकास एवं उपलब्ध सामाजिक विकल्प के परिप्रेक्ष्य में ही सामाजिक प्राणी परिवर्तन के प्रति अपना विचार बनाता है एवं उसी के अनुरूप कार्य करने का प्रयास भी करता है। क्योंकि परम्परागत समाज में सामाजिक प्राणी के पास विकल्प अपेक्षाकृत कम रहते हैं जबकि परिवर्तन की प्रक्रिया जितनी ही तेज होगी उतना ही व्यक्ति के सम्मुख विकास करने के अधिक विकल्प उपलब्ध रहते हैं।

पुरानी पीढ़ी के लोग अपने साधनों एवं आवश्यकताओं तक अपने को सीमित रखते हैं क्योंकि उनके जीवन-यापन का एक निश्चित प्रतिमान बन चुका होता है और वे उन परम्परागत प्रतिमानों से हटकर सामान्यतः सोचने एवं कार्य करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। युवा वर्ग के लोग अपने साधनों एवं अपनी आवश्यकताओं से अभिप्रेरित होकर सामाजिक कार्य करना चाहते हैं। नयी पीढ़ी के लोग चूँकि अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तनशील होते हैं, इसलिए वे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपने विकास के लिए अधिक से अधिक विकल्प का चुनाव करने का

प्रयास करते हैं। पुरानी पीढ़ी के लोग नयी पीढ़ी से यह अपेक्षा करते हैं कि नयी पीढ़ी के लोग उनके ही पदचिन्हों पर चलें और उन्हीं के अनुरूप सोचें और कार्य करें। लेकिन नयी पीढ़ी के लोगों को कुछ अपनी सीमायें (क्षमतायें एवं आवश्यकतायें) होती हैं जिनके कारण वे चाह कर भी पुरानी पीढ़ी के लोगों के समान समाज में अपना जीवन यापन नहीं कर सकते। क्योंकि व्यक्ति की अपेक्षाओं एवं सीमाओं के साथ ही साथ समाज की भी कुछ सामाजिक प्राणी से कुछ अपेक्षाएँ होती हैं जिसके साथ सामाजिक प्राणी को सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है क्योंकि जो व्यक्ति सामाजिक अपेक्षाओं की पूर्ति करने में असमर्थ होता है, उसे समाज में उपेक्षित होना पड़ता है। इसलिए समाज में चैतन्य प्राणी समसामयिक व्यवहार करता है और जिस तरह से व्यक्ति अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए समाज में परिवर्तन एवं परिमार्जन करता है उसी तरह से सामाजिक अपेक्षाओं के अनुसार व्यक्ति को भी अपने आप में परिवर्तन करना पड़ता है। इसके साथ ही साथ पीढ़ीगत अन्तराल के कारण व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं के कारण भी पीढ़ीगत संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पीढ़ीगत संघर्ष एक सर्वमान्य तथ्य है जिसको किसी भी स्थिति में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि पुरानी पीढ़ी एवं नयी पीढ़ी के बीच काल भेद आवश्यकताओं में भिन्नता, शारीरिक क्षमताओं में भिन्नता, परिस्थितियों की भिन्नता, सामाजिक अपेक्षाओं की भिन्नता, तकनीकी विकास के कारण भिन्नता अनुकरण करने की सीमायें आदि अनेक ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर नयी पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के लोगों से भिन्न व्यवहार करते हैं। इसके अतिरिक्त पुरानी पीढ़ी के लोग जो नयी पीढ़ी पर अपना अधिकार स्थापित किए रहते हैं और युवा वर्ग पुराने लोगों की बातों को अक्षरशः रहता है, वह जब अपने आप में सक्षम हो जाता है और सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में वह भागीदार हो जाता है तो पुरानी पीढ़ी के लोगों के नियंत्रण को अस्वीकार करने लगता है क्योंकि नयी पीढ़ी के लोग सामाजिक नियंत्रण पर तभी अपना अधिकार स्थापित कर पाते हैं जब पुरानी पीढ़ी के लोगों का सामाजिक नियंत्रण शिथिल होने लगता है जबकि पुरानी पीढ़ी के लोग यह मानने के लिए सामान्यतः तैयार नहीं होते हैं कि नयी पीढ़ी पर से उनका नियंत्रण शिथिल हो चुका है क्योंकि किसी भी व्यक्ति के अधीन तभी तक रहना चाहता है जब तक वह उनकी तुलना में कमजोर है या अक्षम है लेकिन जिस क्षण अधीनस्थ सक्षम हो जाता है उस समय वह अपने अग्रज के प्रति मात्र कर्तव्यनिष्ठ रह जाता है। ऐसी स्थिति में यदि नयी पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के लोगों की अधीनता स्वीकार नहीं करते हैं तो पुरानी पीढ़ी के लोग नयी पीढ़ी के लोगों को उच्छृंखल या अन्य शब्दों में सम्बोधित करते हैं और दोनों पीढ़ियों के बीच मानसिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

त्रुज्जी द्वारा संपादित 'यूथ एंड सोश्लोलाजी' 1972 पृ0 15 में समाजशास्त्र की केन्द्रीय समस्या से संबद्ध अधिकांश साक्ष्य का संक्षेपण किया गया है कि समाज किस प्रकार अपने सातत्य को बनाये रखते हैं। उसने युवाओं के आंदोलन के चरित्र पर अपना अध्ययन केन्द्रित करते हुए उसे समाज परिभाषित अनुत्तरदायी भूमिकाओं से समाज परिभाषित वयस्क भूमिकाओं में परिणत करने का प्रयास किया है। आइजेन स्टार्ट ने दर्शाया है कि युवा मात्र प्राणिशास्त्रीय का सांस्कृतिक श्रम विभाजन अस्मिता निर्धारण, सनातन गुणों, शक्ति, बल व सामर्थ्य आदि के प्राप्त करने से अंतरंग संबंध है।

चूँकि समाज में परिवार आधारभूत समाजीकरण करने वाला एकक है, पारिवारिक भूमिकाओं व सामाजिक भूमिकाओं में संयोजन का काम मुश्किल का है उन समाजों में जहाँ गोत्र-संबंध पूर्व सामाजिक स्तर प्रदान करने में भूमिका की कसौटी नहीं बनते और न ही बड़े सामाजिक समारोहों को आयोजित करने का आधार प्रस्तुत करते हैं, दूसरे आधार विकसित किए गए हैं। जहाँ पर विभेदीकृत राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक संरचनायें विद्यमान नहीं होती वहाँ गोत्र संबंध कोई महत्व नहीं रखते। इस प्रकार के जटिल गोत्र संबंधहीन समाज में युवा संस्कृतियाँ जन्मती हैं। संक्रान्ति के चरण का विकास करने की यह प्रवृत्ति आगमन की प्रक्रिया को सहज बना देती है। अध्येता आइजेन स्टार्ट के अनुसार जहाँ तीव्र आधुनिकीकरण, नगरीकरण, प्रव्रजन, गतिशीलता (मोविलिटी) विद्यमान है जो पुरानी पीढ़ी ने युवा पीढ़ी के बारे में छवि बना रखी है, उस पर अध्येता चिंतित हैं।

आज के उपलब्धि उन्मुख समाजों में व्यक्तिगत अभिक्रम एवं उर्ध्वगमन पर बल दिए जाने का परिणाम यह होता है कि तरुण अपने भावी व्यवसाय के बारे में निर्णय ले लेता है। उसे अनिश्चितताओं व स्पर्धा से ग्रस्त व्यवसायों में से एक चुनना पड़ता है। आदर्शवादी युवा इन तथ्यों से अनभिज्ञ होता है। अभिभावक भी इनके विषय में स्पष्ट जानकारी नहीं रखते। वे भविष्य की संभावनाओं के बारे में भिन्न मूल्यांकन करते हैं, परिणामतः संघर्ष होता है, तरुणाई में चयन की आवश्यकता व्यवसायिक क्षेत्र से लेकर जीवन के प्रत्येक चरण में होती है तथा अभिभावक इन समस्त निर्णयों में रूचि रखते हैं। समोआ का नूतन युग में प्रवेश पुस्तक में मागरेट मीड के अनुसार उस संस्कृति में जहाँ जीवन के तमाम चुनाव परंपरा से पूर्ववत् तय होते हैं वहाँ थोड़ी संभावनाएँ होती हैं और चयन का उत्तरदायित्व शीघ्र अपेक्षित नहीं होता वहाँ अभिभावक युवा द्वन्द्व अपेक्षाकृत बहुत कम होता है।

परिवार में महिलायें यदि एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रही हैं तो पारिवारिक वातावरण स्वर्ग के समान होता है और यदि आपस में सामंजस्य स्थापित करके सहयोगात्मक भावना के साथ नहीं रहती हैं तो उस परिवार के सभी सदस्यों का जीवन मानसिक तनाव एवं

अशांति भय रहता है। महिलाएँ चूँकि अपना अधिकतर समय परिवार में ही व्यतीत करती हैं इसलिए इनके व्यक्तित्व का प्रभाव बालकों के कोमल एवं किसलय मानसिक पटल पर भी बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध होता है। अतएव महिलाओं का बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण में बहुत ही प्रभाव पड़ता है। पुरानी पीढ़ी की महिलाएँ नयी पीढ़ी की महिलाओं पर अपना अधिकतम नियंत्रण रखना चाहती हैं जबकि नयी पीढ़ी की महिलायें पुरानी पीढ़ी की महिलाओं को पिछड़ेपन की श्रेणी में रखती हैं और उनकी बातों को आज के परिप्रेक्ष्य में अर्थहीन एवं प्रभावहीन बताती हैं। इसके विपरीत पुरानी पीढ़ी की महिलायें वर्तमान पीढ़ी की महिलाओं को उच्छृंखल एवं पतन के रास्ते पर चलने वाली कहती हैं। पुरानी पीढ़ी की महिलायें प्रायः यह कहती रहती हैं कि नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी का अनादर कर रही हैं और पुराने मूल्यों को न मानकर अपना भविष्य अंधकारमय करती चली जा रही हैं जबकि नयी पीढ़ी की महिलायें पुराने मूल्यों को न मानकर अपना भविष्य अधारमय करती चली जा रही हैं जबकि नयी पीढ़ी की महिलायें पुराने मूल्यों एवं मान्यताओं को एक सीमा के बाद मानने को किसी कीमत पर तैयार नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय परिवार में महिलाओं के बीच एक पीढ़ी अंतर का द्वन्द्व बराबर बना हुआ है जिसके परिणामस्वरूप पारिवारिक जीवन बहुत ही तनावपूर्ण है। उन परिवारों में यह स्थिति और भी विषम है जिन परिवारों में शैक्षणिक आधार पर एक पीढ़ी का दूसरी पीढ़ी के साथ और भी अधिक अंतर बना हुआ है। भारतीय संयुक्त परिवार के टूटने का सबसे प्रमुख कारण इन्हीं अंतर के मूल्यों का है।

मुगल साम्राज्य की स्थापना : एक ऐतिहासिक विवरण

डॉ० आदित्य कुमार सिंह

पूर्व शोध छात्र, इतिहास विभाग, मानविकी संकाय, म०गां०का० विद्यापीठ, वाराणसी

भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना स्वयं में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। 1192-93 ई० में तराइन विजय के बाद भारत में स्थायी रूप से मुस्लिम सल्तनत की स्थापना हुई। मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व 'दिल्ली सल्तनत' भारत में मुस्लिम साम्राज्य एवं शक्ति का सन् 1206-1526 ई० तक के काल का विस्तृत इतिहास है। इसमें दास वंश (1210-1290 ई०), खलजी वंश (1290-1320 ई०), तुगलक वंश (1320-1414 ई०), सैय्यद वंश (1414-1451 ई०), लोदी वंश (1451-1526 ई०) का इतिहास निहित है। जिसने इस्लामी साम्राज्य को भारत में व्यवस्थित किया। दिल्ली सल्तनत ने भारतीय शासन व्यवस्था, आर्थिक और सामाजिक जीवन को पूर्णतया प्रभावित किया। पूर्व स्थापित प्राचीन राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों में मूलभूत परिवर्तन हुए और मुस्लिम सत्ता ने एक नवीन शक्ति के रूप में अपने आपको स्थापित किया। भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव के लिए महमूद गजनी एवं स्थापना हेतु मोहम्मद गौरी के नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। महमूद गजनी जिसने भारत की सम्पदा पर प्रहार कर यहाँ की शक्ति को कमजोर किया वहीं दूसरी ओर भारतीय सम्पदा से प्राप्त शक्ति का प्रयोग कर मोहम्मद गौरी ने भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव डालने में सफलता प्राप्त की। वह वस्तुतः भारत में मुस्लिम साम्राज्य का संस्थापक था। उसने अपनी भारत-विजयों का संगठन किया। वह पहला मुस्लिम विजेता था जिसने शासन संगठन की ओर ध्यान दिया। उसने भारत के विजित प्रदेशों का शासन-भार अपने प्रिय और विश्वसनीय दास कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथ छोड़कर स्वयं गजनी लौट आया। ऐबक मात्र विजित प्रदेशों के शासन के लिए ही नहीं छोड़ा गया था, अपितु अपने इच्छानुसार उसे बढ़ाने के लिए भी।¹ कुतुबुद्दीन ने अपने आपको 1206 में सुल्तान घोषित किया। उसने एक नए राजवंश की स्थापना की जिसे गुलाम वंश कहते हैं। इस वंश के प्रसिद्ध शासक इल्तुतमिश और बलवन भी दास थे। दास वंश के शासकों ने भारत में लगभग 86 वर्षों तक राज्य किया। दिल्ली सल्तनत धर्म प्रधान थी।² कुरान के नियम प्रचलित थे जो शस कहलाते थे। इस्लाम राजधर्म था और इसके प्रचार के लिए सतत् प्रयास किया गया। दिल्ली सल्तनत का शासन पुलिस शासन था। आन्तरिक विद्रोहों का दमन तथा बाह्य आक्रमणों का सामना करना मुख्य राजकाज थे।³

इसके पश्चात् खिलजी वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। खिलजी तुर्कों से भिन्न नहीं थे। गुलाम शासकों के दिल्ली सिंहासन के डगमगाते ही स्थिति का लाभ उठाकर एक तुर्क खिलजी सरदार जलालुद्दीन फिरोज 1290 ई० में दिल्ली का शासक बन बैठा। 1296 ई० में उसका भतीजा अलाउद्दीन खिलजी उसको धोखे से मरवाकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। अलाउद्दीन ने तलवार और रक्त का शासन आरम्भ किया। उसने शीघ्र ही गुजरात, रणथम्भौर, मेवाड़, मालवा और मध्य भारत को जीत लिया। उसके बाद उसने दक्षिण में देवगिरि, वारंगल और भावर आदि भी अपने राज्य में मिला लिया। उसकी मेवाड़-विजय इतिहास में अपना विशेष महत्व रखती है। अलाउद्दीन एक

सफल सेनापति और प्रतिभा-सम्पन्न शासक था। 1316 ई० में उसकी मृत्यु के बाद खिलजी राजवंश समाप्तप्राय हो गया।⁴

1320 ई० में अलाउद्दीन के समय का एक शक्तिशाली अमीर गाजी तुगलक दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। लेकिन जल्दी ही उसके महत्वाकांक्षी पुत्र जूना ख़ाँ ने उसे एक षड्यंत्र रचकर मरवा दिया और स्वयं 1325 ई० में मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। यद्यपि उसने लगभग 26 वर्ष राज्य किया, फिर भी वह एक लोकप्रिय शासक न बन सका। शासक के रूप में मुहम्मद तुगलक नितान्त असफल रहा। उत्तराधिकार में उसे एक विशाल साम्राज्य मिला था किन्तु शीघ्र ही उसका आकार छोटा हो गया। तुगलक ने हर क्षेत्र में सुधार करने की योजनाएँ बनायीं लेकिन उनको ठीक से अमल में न ला सका।⁵

1351 ई० में मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी फिरोज तुगलक गद्दी पर बैठा। वह एक योग्य शासक था। उसने 37 वर्ष राज्य किया और उसके बाद तुगलक वंश के सभी शासक अयोग्य निकले। वर्ष 1414 ई० में यह राजवंश समाप्त हो गया। तुगलक वंश का अन्तिम सुल्तान महमूदशाह फरवरी, 1413 ई० में इसकी मृत्यु के बाद खिज़्र ख़ाँ ने दिल्ली की गद्दी प्राप्त कर ली और एक नए राजवंश की स्थापना की जिसे सैय्यद वंश कहते हैं।⁶ सैय्यद वंश के सुल्तानों ने 1451 ई० तक शासन किया।

1461 में बहलोल लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। वह भारत में प्रथम पठार राज्य का संस्थापक कहा जाता है। 1489 ई० में उसके पुत्र सिकन्दर लोदी ने दिल्ली सल्तनत की बागडोर संभाली। वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी और योग्य शासक था। वह अन्त तक अपने साम्राज्य विस्तार के लिये युद्ध करता रहा। इसमें वह बहुत हद तक सफल भी हुआ। वह इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार न्याय करता था। सुल्तान एक धर्मांध मुसलमान था और हिन्दुओं का दमन उसकी शासन-नीति का मुख्य अंग था। जगह-जगह हिन्दू मन्दिरों का विध्वंस करके मस्जिदें बनवा दीं। वह मुस्लिमों त्यौहारों पर बहुत सा भोजन और धन बांटता था। एक योग्य, उदार और ईश्वर में श्रद्धा रखने वाला शासक होने के बावजूद सुल्तान अपनी धार्मिक अत्याचारों की नीति के कारण बहुसंख्यक जनता की सहानुभूति न प्राप्त कर सका।

1517 ई० में सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका बेटा इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा। उसका मुख्य उद्देश्य अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये विजय-कार्यों को पूर्ण करना था। प्रारम्भिक सफलताओं ने उसे निरंकुश शासक बना दिया। उसने अफगानी परम्परा को त्यागकर अमीरों को दरबार में अपने हाथों की कैची के रूप में सीने पर रखकर नम्र भाव से खड़े होने पर बाध्य किया। अपमानित अफगान अमीरों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में इब्राहिम की विजय हुई और फलस्वरूप वह पहले से भी अधिक उद्वण्ड हो गया। विद्रोह की ज्वाला अन्दर-ही-अन्दर धधकती रही। विद्रोही सुल्तान को पदच्युत करने का षड्यन्त्र करने लगे। पंजाब के सूबेदार दौलत ख़ाँ लोदी ने काबुल के राजा बाबर को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया। बाबर भी भारत-विजय का स्वप्न देख रहा था। परिणामस्वरूप 21 अप्रैल 1296 ई० को पानीपत के प्रसिद्ध युद्ध में इब्राहिम लोदी बाबर से पराजित हुआ और मारा गया। उसकी मृत्यु के साथ दिल्ली सल्तनत का भी अंत हो गया।⁷

इस प्रकार दिल्ली में क्रमशः दास, खलजी, तुगलक, सैय्यद एवं लोदी- पाँच राजवंशों ने 320 वर्षों (1206-1526 ई०) तक राज्य किया। दास वंश 84 वर्ष, खलजी वंश 30 वर्ष, तुगलक वंश 92 वर्ष, सैय्यद वंश 38 वर्ष एवं लोदी वंश ने 75 वर्ष तक शासन किया।

इस प्रकार भारतीय इतिहास में जिस मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हुई थी, वह लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों के पश्चात् दम तोड़ने लगा। मुहम्मद गोरी ने अपने खून और पसीने से जिस विशाल प्रासाद की नींव डाली थी, अल्तमश, बलवन, अलाउद्दीन खिलजी और गियासुद्दीन तुगलक ने जिसे अपनी अदम्य प्रतिभा और अपूर्व संगठन-शक्ति से खड़ा किया था वह मुहम्मद तुगलक के अंतिम दिनों तक आते-आते खोखला होकर लड़खड़ाने लग गया। फिरोजशाह के उत्तराधिकारियों का शासन-काल क्या था, मानों देश के दुर्भाग्य और दुर्दिन की जाँच का काल था। देश के राजनीतिक क्षितिज पर विपत्ति के बादल मँडराने लग गये थे। अशांति और अराजकता ने धीरे-धीरे सुव्यवस्थित शासन का स्थान ले लिया था। ठीक ऐसे ही समय में तैमूर के खूँखार आक्रमण ने इस ढहती दीवार को आखिरी धक्का दिया। तलवार का पुजारी तैमूर समरकंद से मौत और बरबादी का पैगाम लेकर दिल्ली पहुँचा, दिल्ली लूट ली गयी, करोड़ों की सम्पत्ति बरबाद की गयी, लाखों आदमी मौत के घाट उतार दिये गये और इस तरह दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में कुछ दिनों तक मौत का नंगा नाच होता रहा। तैमूर तो आया और चला गया, लेकिन गियासुद्दीन तुगलक द्वारा स्थापित राजवंश इस चोट को बर्दाश्त नहीं कर सका और देखते-देखते दम तोड़कर धराशायी हो गया।

अंतिम तुगलक सम्राट सुल्तान महमूद के पश्चात् दिल्ली की गद्दी पर क्रमशः सैय्यद और लोदी-वंश के शासकों ने अपना आधिपत्य जमाया, किन्तु इनका शासन बुझते दीप की अंतिम लौ की भाँति था। सिकन्दर लोदी ने एक बार फिर मुसलमानों के खोये गौरव को लौटाने की चेष्टा जरूर की, लेकिन भाग्य अब इनका साथ छोड़ चुका था। उसके उत्तराधिकारी इब्राहिम लोदी ने गलती पर गलती की। ठीक ऐसे ही वक्त उसके प्रतिद्वन्द्वी दौलत खाँ लोदी और इब्राहिम के चाचा आरामशाह ने अपनी साध और महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए काबुल के बादशाह बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया और इस तरह दिल्ली सल्तनत की कब्र पर एक नये सशक्त तुर्की साम्राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। दिल्ली सल्तनत का संस्थापक गोरी भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति में भारत आया था। इतिहास इसी तरह करवट बदलता रहता है।

वास्तव में दिल्ली सल्तनत के पतन की कहानी मुहम्मद तुगलक के शासन-काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। उसके मनमाने कार्यों ने देश की राजनीतिक एकता को तहस-नहस कर डाला था। उसके उत्तराधिकारी फिरोजशाह के अव्यावहारिक तरीकों ने इस विशृंखलता की गति को रोकने के बजाय और भी तेज कर दिया। जागीर-प्रथा और दास-प्रथा की पुनः स्थापना, गैर-मुसलमानों पर जजिया कर तथा उससे भिन्न मतावलम्बी मुसलमानों पर अत्याचार, उसके कुछ ऐसे निंद्य तथा मूर्खतापूर्ण कार्य थे, जिन्होंने इस आहुति में घी का काम किया। सैय्यद और लोदी भी आये, लेकिन सड़ी-गली शासन-व्यवस्था में कुछ भी सुधार ला सकना उनके वश की बात नहीं थी। लूट और अत्याचार का बाजार गर्म था। मुट्ठी-भर लोग लाखों जनता के भाग्य-विधाता बने हुए थे। प्रान्तों के शासक तथा हिन्दू सामंज गीधों की भाँति असहाय जनता की लाश नौचकर अपने पेट भर रहे थे। आपसी फूट और कलह से तबाह इस लड़खड़ाने घर को तैमूर के खूनी आक्रमण ने सदा के लिए धराशायी कर दिया। शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के अभाव में एक बार फिर चारों ओर छोटे-छोटे राज्यों का उदय होने लगा और वास्तव में इन्हीं राज्यों का इतिहास मुगल-भारत के पूर्व का इतिहास है।

मुगल साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत की अवस्था अनेक बातों में मौर्योत्तर अथवा गुप्तोत्तर जैसे युगों के समान थी। जैसा कि सर्वज्ञात है हमारे देश में किसी विशाल साम्राज्य के पतन के उपरान्त और नवीन साम्राज्य की स्थापना के पूर्व प्रायः अनेक लघु राज्य अस्तित्व में आ जाते थे। मौर्य, गुप्त तथा गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्यों के पतनोपरान्त ऐसा ही हुआ था। यही अवस्था दिल्ली सल्तनत का विघटन होने पर देखने में आती है। लेकिन ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों की तुलना में इस समय स्थित एक बात में भिन्न थी- राजपूत-काल में भारत के अधिकांश पर स्वदेशी वंश शासन कर रहे थे जबकि सोलहवीं शती के प्रारम्भ में जितने लघु राज्य थे उनमें अधिकतर मुस्लिम थे। इनमें बहुत से शासक अब भी अपने को 'भारतीय' नहीं समझ पा रहे थे। बाबर ने अपने 'बाकियात' में तत्कालीन युग के पांच मुस्लिम(दिल्ली, गुजरात, बहमनी, मालवा और बंगाल) और दो हिन्दू (बीजानगर-विजयनगर तथा मेवाड़) राज्यों का नाम से उल्लेख किया है। पर वह बताता है कि भारत में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लघु राज्य और राजा थे, जो पर्वतीय और वन्य प्रदेशों में शासन करते थे। परन्तु प्रमुख राज्य से सात ही थे।⁸

बाबर के अनुसार 'हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली है। सुल्तान शिहाबुद्दीन के समय से सुल्तान फिरोजशाह के समय तक हिन्दुस्तान का अधिकांश दिल्ली के शासक के अधीन रहा है।' बाबर के आक्रमण के समय दिल्ली पर लोदी वंश का शासन था जिसकी स्थापना बहलोल लोदी (1451-1489) ने की थी। वह एक चतुर राजनीतिज्ञ और निर्भीक योद्धा था। उसने अफगान अमीरों को परितुष्ट करने के लिए उनके साथ 'बराबर वालों में प्रमुख' (प्राइमस इण्टर पारे) नीति का व्यवहार किया और उन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दीं। उसकी सबसे बड़ी सफलता जौनपुर की विजय थी जहाँ उसने अपने पुत्र बारबकशाह को शासक नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त उसने कालपी, धौलपुर, बाड़ी और अलापुर को भी अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत किया। उसके उत्तराधिकारी निजाम खाँ की, जो सिकन्दरशाह (1489-1517) के नाम से गद्दी पर बैठा, माँ एक हिन्दू सुनार की लड़की थी। सिकन्दर ने अपने को सच्चा मुसलमान सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं का दमन किया और अनेक मंदिरों का विध्वंस किया।⁹ लेकिन अन्य दृष्टि से वह एक योग्य सुल्तान सिद्ध हुआ। उसने अमीरों की महत्वाकांक्षाओं को दबाया, बारबकशाह को नियन्त्रण में रखने में सफलता पाई, बिहार को अपने अधीन किया और बंगाल के शासक अलाउद्दीन हुसैन शाह को बाध्य किया कि वह दिल्ली सल्तनत का विस्तार बंगाल की पश्चिमी सीमा तक मान ले। इसके अतिरिक्त उसने धौलपुर, नरबर, चन्देरी, तथा ग्वालियर के कुछ भाग को भी जीता।

सिकन्दर का उत्तराधिकारी इब्राहीम शाह (1517-1526) था। उसने ग्वालियर के शासक विक्रमाजीत को, जिसने उसके विद्रोही भाई जलाल खाँ को शरण दी थी, परास्त कर अपने अधीन किया। परन्तु मेवाड़ को जीने के प्रयास में वह नितान्त असफल रहा और राणा सांगा के हाथों पराजित हुआ। उसने अपने अमीरों को भी अपने दुर्व्यवहार के कारण असंतुष्ट कर दिया। उसने घोषित किया कि राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता, सब उसके मातहत होते हैं। फलस्वरूप पूरी सल्तनत में लोदी, लोहानी, फरमूली और नियाजी अफगान सरदारों ने विद्रोह कर दिया। बिहार में दरिया खाँ लोहानी के पुत्र बहादुर खाँ ने मुहम्मद शाह नाम से अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और पंजाब में दौलत खाँ लोदी ने। जौनपुर में भी नासिर खाँ लोहानी तथा मारूक फरमूली के नेतृत्व में विद्रोह हो गया। दौलत खाँ लोदी ने काबुल के बादशाह बाबर को दिल्ली पर आक्रमण करने और इब्राहीम को सिंहासनच्युत करने के लिए निमंत्रित किया। इब्राहिम लोदी के चाचा आलम खाँ ने भी बाबर से इसी उद्देश्य से बातचीत की। दिल्ली सल्तनत की यह स्थिति थी जब 1528 ई० में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया।¹⁰

संदर्भ :

1. आर०सी० मजूमदार: एन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 279
2. आर०एस० त्रिपाठी: सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० 2
3. डब्ल्यू० हेम: दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वा० 2, पृ० 90
4. रतिभानु सिंह नाहर: पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ० 318
5. वी०ए० स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1967, पृ० 249-252
6. आर०एस० त्रिपाठी: पूर्वोद्धृत, पृ० 79-81
7. ए०एल० श्रीवास्तव: भारत का इतिहास, दिल्ली, 1965, पृ० 222, 224-226
8. इलियट और डाउसन: हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ऑन हिस्टोरियन्स, 4, पृ० 259
9. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव: पूर्वोद्धृत, पृ० 265-66
10. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय: भारत में मुगल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास, पृ० 24-25

दलित इतिहास का संवैधानिक परिदृश्य : संक्षिप्त अवलोकन

डॉ० राजकिशोर राम

स०शि० (इतिहास), राज इंटर कॉलेज, बेटिया, प० चम्पारण (बिहार)

स्वतंत्र भारत का संविधान जिसके निर्माता डॉ० अम्बेडकर स्वयं हैं, दलित इतिहास के स्वर्णिम दास्तावेज के रूप में गवाही देता है। विश्व के शीर्ष मेधावी पुरुषों में से एक डॉ० अम्बेडकर ने इस लोक स्वातंत्र्य, लोक न्याय, लोक समता के दास्तावेज में उन कड़ियों को गूँथ दिया है, करोड़ों दलितों की उन आकांक्षाओं, भावनाओं को पिरो दिया है जिसके लिए साम्राज्यवाद के गढ़ बकिंघम पैलेस, लंदन में अकेले ही योद्धा की तरह जूझे थे।

अपनी गरिमा और यशस्वी इतिहास के लिए प्रसिद्ध ब्रिटिश संसद में 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के पारित होने के साथ-साथ भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अंत हो गया और एक स्वतंत्र प्रजातांत्रिक भारत का स्वप्न पूरा हुआ। इससे स्वतंत्र भारत के नए संविधान की संरचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार ने दलित नेता और केंद्रीय मंत्री जगजीवन राम को लंदन भेजा था जब ब्रिटिश संसद में स्वतंत्रता अधिनियम पारित किया जा रहा था ताकि ब्रिटिश संसद में संवैधानिक कार्यवाहियों के दौरान आवश्यक परामर्श या भारत सरकार के मध्य संपर्क सूत्र को कायम रखा जा सके।

ब्रिटिश साम्राज्य से भारत के लोगों के हाथ में सत्ता हस्तांतरण कोई मामूली बात नहीं थी। इसके एशिया और अफ्रीका के देशों पर भी भारी राजनीतिक-सामाजिक प्रभाव पड़ने थे। जब अगस्त 1947 में डॉ० अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत का कानून मंत्री बनाया गया तो वह बदली परिस्थितियों में कांग्रेस और गांधी-विरोधी कटुता भूल गए। लगभग अर्द्धशताब्दी तक जनता के दीर्घ संघर्ष के बाद आजादी हासिल हुई थी। जहाँ डॉ० अम्बेडकर भावी संविधान में दलितों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए व्याकुल थे वहाँ उन्हें पूरे भारत के विधि विधान को भी देखना था। यहाँ संक्षिप्त में संविधान सभा के गठन से पूर्व की संवैधानिक स्थिति और राजनीतिक परिदृश्य को जान लेना भी जरूरी है। साथ ही डॉ० अम्बेडकर के अनवरत प्रयासों, अंतरिम सरकार और वाद में संविधान संरचना में उनके योगदान को भी परखना है।

मेधावी, दास्तावेज, स्वर्णिम, आकांक्षा, साम्राज्यवाद, यशस्वी, प्रजातांत्रिक, मार्गप्रशस्त, अधिनियम, संवैधानिक, सत्ता-हस्तांतरण, विधान, परिदृश्य, अंतरिम सरकार, संरचना, परखना, अस्पृश्यता, प्रावधान।

संविधान सभा के गठन से पूर्व की स्थिति :-

'भारत सरकार अधिनियम 1935' के अंतर्गत 1937 में जो चुनाव हुए उनमें भारत के 11 प्रांतों में से 8 में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बने। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। ब्रिटिश शासन से क्षुब्ध कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्यागपत्र दे दिए। बंबई प्रेसीडेंसी में डॉ० अम्बेडकर और

उनके दल सीटें जीती थीं । बिहार में जगजीवन राम ने अपने 'दलित वर्ग संघ' को कांग्रेस के सहयोग से जिताया । अम्बेडकर का दलित आंदोलन कई प्रांतों में फैल गया ।

इधर कांग्रेस के मंत्रिमंडलों से हटने पर संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हुआ । दूसरी ओर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज के लिए संघर्ष का रास्ता अपनाया । ब्रिटिश सरकार की नीति के अंतर्गत 1940 में गवर्नर जनरल अपनी कार्यकारणी समिति में अधिक भारतीयों को स्थान देने और उसके विस्तार की घोषणा कर चुके थे । उन्होंने यह भी कहा कि युद्ध समाप्ति पर भारत के नये संविधान की संरचना पर विचार किया जाएगा । लेकिन किसी भी वर्ग ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया । अम्बेडकर दलित संरक्षण की बात पर अड़े रहे । 1940 से 1946 तक कांग्रेस पूरी ताकत से आजादी की अंतिम लड़ाई लड़ती रही और डॉ० अम्बेडकर दलित मुक्ति का अभियान छेड़ते रहे । उस समय मजदूर किसान संगठित हो चुके थे । दलितों में चेतना आ गई थी । सन् 1920 से ही मजदूरों ने बड़ी-बड़ी हड़ताले की । किसानों ने अपने हकों और सुविधाओं के लिए संगठित होकर जमींदारों और सामंतीयों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया । क्रांतिकारी भी पीछे नहीं रहे थे । कांग्रेस के भीतर समाजवादी शक्तियाँ पुष्ट हो गई थी । लोहा, खान, सूती वस्त्र उद्योग के राष्ट्रीयकरण या आधुनिकीकरण की मांग तेज हो गई थी । बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ । अर्थव्यवस्था के नियोजन, मजदूर कल्याण के कानून, नदी-घाटी योजनाओं, विद्युतशक्ति के उत्पादन सिंचाई के साधनों में वृद्धि की आवाज उठने लगी थी।¹

इस बीच हिन्दू-मुस्लिम समस्या ने सांप्रदायिक रूप ग्रहण कर लिया था । उनके बीच विभेद बढ़ता गया । अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को गहरा कर दिया था । डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि सन् 1882 से ही ब्रिटिश सरकार मुस्लिम वर्ग को बढ़ावा दे रही है, लेकिन अछूतों की लगातार उपेक्षा हो रही है । डॉ० अम्बेडकर जाति प्रथा, अस्पृश्यता, दलितों के शोषण के खिलाफ बराबर आवाज उठाते रहे । गाँधी वर्ण व्यवस्था के समर्थन, अस्पृश्यता, निवारण, हरिजनों के साथ सद्व्यवहार और राष्ट्रीय आंदोलन को प्राथमिकता प्रदान करते रहे । कांग्रेस ने अपने राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति और स्वराज्य के आंदोलन को जितना व्यापक किया, उससे अधिक सांप्रदायिक तत्वों ने विघटन का विष फैलाया जिसकी परिणति भारत विभाजन में हुई ।

'भारत छोड़ो आंदोलन' से केवल एक महीने पहले वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने दलितों के शिखर नेता डॉ० अम्बेडकर को अपनी कार्यसमिति में श्रम सदस्य नियुक्त कर दिया । सन् 1942 से 1946 तक डॉ० अम्बेडकर श्रम सदस्य रहे और दलितों की आवाज को मुखरित किया ।

जब सन् 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, भारत की सत्ता सौंपने का मसला उठ खड़ा हुआ । मार्च 1946 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लार्ड एटली ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्य-लार्ड पेंथिक लॉरेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और ए०बी० एलेग्जेडर को भारत भेजा । इसे ही 'केबिनेट मिशन' कहते हैं । इसका उद्देश्य भारत में राजनीतिक गतिरोध दूर करना और भारत को सत्ता सौंपना था । प्रमुख राजनीतिक दलों और वर्गों से मिलने के उपरांत, जिसमें डॉ० अम्बेडकर भी शामिल थे, मिशन ने अपने सुझावों की घोषणा कर दी । इसमें देश के भावी नए संविधान के लिए संविधान परिषद का सुझाव, संविधान के अंतर्गत संघीय शासन की स्थापना, अंतरिम सरकार की स्थापना, संघीय सरकार के साथ प्रतिरक्षा, संचार साधन और वैदेशिक मामले, देशी रियासतों की स्वायत्ता आदि शामिल थी । मिशन ने पाकिस्तान की मांग को भी टुकरा दिया ।

डॉ० अम्बेडकर ने 'केबिनेट मिशन' के संकल्पों का विरोध किया । इसमें अछूतों की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई थी । हाँ डॉ० अम्बेडकर अनुसूचित जातियों को अल्पसंख्यकों के समान अलग

दर्जा देने की वकालत करते रहे। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि ऐसा संविधान जिसमें दलित-अछूतों का अधिकार संरक्षित न हो, करोड़ों दलित-अछूतों को मान्य नहीं होगा। आजादी हासिल करने की चाहत इतनी बढ़ चुकी थी कि विश्व की परिस्थितियों और युद्धोत्तर भारत के पुनर्निर्माण को देखते हुए कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन योजना को उसमें कई दोषों को होते हुए भी स्वीकार कर लिया। इससे भारत में स्वतंत्रता का पथ प्रशस्त हुआ। लेकिन भारत विभाजन सदी की महान दुर्घटना हुई। डॉ० अम्बेडकर बंगाल से संविधान सभा के सदस्य चुनकर आए। 9 दिसम्बर 1946 को उसकी प्रथम बैठक हुई। अब नये सिरे से उन्हें दलित आकांक्षाओं को पूरा करना था।

अंतरिम सरकार का गठन :-

केन्द्र में अंतरिम सरकार के गठन की 24 अगस्त 1946 को घोषणा हुई थी जिसमें अछूतों-दलितों के एक सदस्य जगजीवन राम को कांग्रेस की ओर से शामिल किया गया था। डॉ० अम्बेडकर ने इसे दलित आंदोलन पर कुठाराघात समझा क्योंकि उन्हें आशा थी कि उन्हें अंतरिम सरकार में लिया जायेगा। वो न सिर्फ उच्च कोटि के संविधानवेत्ता और कुशल प्रशासक थे वरन् लंबे अर्से से दलितों की जमीनी लड़ाई लड़ते आ रहे थे। उनके लिए यह दुःखद और निराशा के क्षण थे। उनकी तुरंत प्रतिक्रिया थी अनुसूचित जातियों के लिए मंत्रिमंडल में एक और स्थान होना चाहिए। नागपुर तथा अन्य स्थानों पर अनुसूचित जातियों के लोगों ने सरकार द्वारा डॉ० अम्बेडकर की उपेक्षा पर प्रदर्शन किए। 'शिड्युल्ड कास्ट्स फेडरेशन' संघर्ष पर उतर आया। डॉ० अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार पर दबाव बनाया। 18 मार्च 1946 को ही वे घोषित कर चुके थे कि बहुसंख्यकों के भरोसे अल्पसंख्यक वर्ग को नहीं छोड़ा जाना चाहिए।

उन्होंने कहा कि-

“अछूत इतने कमजोर नहीं हैं कि ब्रिटिश सरकार और हिन्दुओं के मुँह की ओर देखते रहें। अगर ब्रिटिश और भारतवासियों ने अस्पृष्यों की नही सुनी तो विष्व के अनेक राष्ट्र अनुसूचित जातियों की मदद करने के लिए तैयार हो जाएंगे।”²

उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा - “अगर ब्रिटिश सरकार और हिन्दुओं ने उनके अधिकारों, उनकी स्वतंत्रता और नए संविधान में उनके भाग्य का फैसला करने से उन्हें रोका तो नग्न हिन्दू राज के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा।”³

अंतरिम सरकार की घोषणा से पूर्व 16 अगस्त 1946 को अपने विरोध में मुस्लिम लीग ने 'सीधी कार्यवाही दिवस' के रूप में जिन्ना ने वेवेल को उत्तर दिया कि नेहरू अंतरिम सरकार के किस कारण से मुखिया बनाये जा रहे हैं। पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे। हिन्दुओं ने बिहार और उत्तर प्रदेश में इसका प्रतिशोध लिया। यह भयंकर स्थिति थी। 2 सितम्बर 1946 को अंतरिम सरकार ने पद्भार ग्रहण किया, जिसमें जगजीवन राम दलित प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित किए गए। 13 सितम्बर 1946 जिन्ना ने वायसराय को सूचित किया कि लीग अंतरिम सरकार में शामिल होने की इच्छुक है। लेकिन मुस्लिम लीग के अंतरिम सरकार में शामिल होने के फौरन वाद पाकिस्तान की मांग उठा दी गई। साथ ही अलग संविधान परिषद् गठित करने का सवाल उठाया गया। इससे सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न हुई। गतिरोध बढ़ता ही चला गया। कांग्रेस सदस्यों ने इस्तीफे की धमकियाँ दी। पंडित नेहरू ने कहा अगर यह सब जारी रहा तो संघर्ष अवश्यम्भावी है।⁴

बहुत पहले डॉ० अम्बेडकर दलितों के हितों की लड़ाई लड़ते हुए कैबिनेट मिशन और ब्रिटिश सरकार को विस्तृत रूप में बता चुके थे कि संविधान परिषद के गठन के समय सांप्रदायिक और अल्पसंख्यकों के मामलों पर अलग से विचार-विमर्श होना आवश्यक है। अम्बेडकर के विचार में अंतरिम सरकार के गठन और विधान परिषद के निर्माण के समय करोड़ों अनुसूचित जातियों की जायज मांगों का गोलमेज वार्ता, कम्युनल अवार्ड, अगस्त प्रस्ताव, लार्ड एमरी और वेवेल के भाषणों में की गई घोषणाओं के संदर्भ में अवहेलना कर दी गई थी।

3 अगस्त 1947 को मंत्रिमंडल के सदस्यों के नाम घोषित कर दिए गए। दलित आंदोलन के इतिहास में यह दूसरा मील का पत्थर था जब स्वतंत्र भारत का डॉ० अम्बेडकर को कानून मंत्री नियुक्त किया गया।¹

संविधान संरचना :-

संविधान परिषद के गठन के बाद कांग्रेस के शिखर-नेताओं में यह बात चिंता का विषय थी कि संविधान निर्माण कार्य कैसे संपन्न किया जाए। नेहरू का विचार था कि प्रसिद्ध संविधानवेत्ता, संविधान विशेषज्ञ आइवर जैनिंगल की सेवाएँ ली जाएँ जो एशिया के कई देशों का संविधान लिख चुके थे। गांधी ने सलाह दी कि वे ऐसे संविधान विशेषज्ञ को जानते हैं जो भारत में मौजूद है और वह व्यक्ति है डॉ० अम्बेडकर। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर को संविधान का प्रारूप समिति का अध्यक्ष चुने जाने की पृष्ठभूमि तैयार हुई। 'कैबिनेट मिशन' के सिफारिश पर मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यकों आदि के विषय में सरदार पटेल की अध्यक्षता में एक 'सलाहकार समिति' गठित हुई थी जिसके डॉ० अम्बेडकर सदस्य थे। इस समिति की चार उप-समितियाँ भी थी जिसमें मूलभूत अधिकारों की उपसमिति में भी डॉ० अम्बेडकर सदस्य थे। धीरे-धीरे संविधान सभा का कार्य बड़ा इसमें तीन अन्य समितियाँ गठित की। नेहरू की अध्यक्षता में 'यूनियन पावर कमेटी' तथा 'यूनियन कन्स्टीट्यूशन समिति' गठित हुई। डॉ० अम्बेडकर यूनियन कन्स्टीट्यूशन समिति के सदस्य बनाए गए। इसके अतिरिक्त डॉ० अम्बेडकर 'स्टियरिंग कमेटी' और 'नेशनल फ्लेग कमेटी' के भी सदस्य बन चुके थे। डॉ० अम्बेडकर के सुझाव पर ही राष्ट्रीय ध्वज में अशोक चक्र और सारनाथ का अशोक स्तंभ राष्ट्रीय चिन्ह के रूप में अंगीकृत हुआ।

संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने 30 जून 1947 को बंबई के तत्कालीन मुख्यमंत्री बी०जी० खेर को पत्र लिखा कि संविधान सभा के लिए डॉ० अम्बेडकर को निर्वाचित कराएँ ताकि 14 जुलाई 1947 से शुरू होने वाले अधिवेशन में वे निर्वाचित होकर संविधान संरचना में योगदान दे सकें।

दलित-इतिहास का स्वर्णिम काल तब आया जब प्रारूप समिति ने 30 अगस्त 1947 को उन्हें इसका अध्यक्ष चुना। कुल मिलाकर 'प्रारूप समिति' के 'सात' सदस्य थे, जिसमें एन० गोपाला स्वामी अय्यर, सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, के० एम० मुंशी, सर मुहम्मद शादुल्ला, एन० माधव मेनन एवं डी० पी० खेतान थे। बी० एन० राव संवैधानिक सलाहकार थे।

डॉ० अम्बेडकर संविधान सभा और संविधान संरचना से इसलिए जुड़े कि वे अनुसूचित जातियों के हितों को सुरक्षित करना चाहते थे।

संविधान सभा में अभिनंदन:

विश्व की शोषित-सर्वहारा जनता की मुक्ति के प्रेरणा स्रोत और भारत के करोड़ों दलितों के हृदय सम्राट डा० भीमराव अम्बेडकर सन् 1918 से 1948 तक तीन दशक तक अपने देश के संविधान के विकाश क्रम के सभी पड़ावों पर अपने देश के अधिकार वंचित जनता के लिए जिस एकाग्रता एवं तन्मयता से अपने बौद्धिक बल से लड़े, वह विश्व इतिहास की एक महानतम घटना हो सकती है। उन्होंने निःसंदेह महात्मा गाँधी से भी बढ़कर बाजी मार ली है।

अपनी ही संविधान सभा में उनकी कीर्तिहवजा को सदस्यों ने लहराकर जिस प्रकार उनका एक मसीहा की तरह अभिनंदन किया है वह बड़ा ही अर्थवान् है।

विश्व विजेताओं की यशगाथा विजयोपरांत होती है। संवैधानिक क्षेत्र में डॉ० अम्बेडकर ने करोड़ों लोगों की जीवन शैली को प्रभावित करने वाले नए संविधान की रचना करके चमत्कारी कार्य किया, जिसमें स्वतंत्र-संप्रभु भारत की आत्मा पीरो दी गई है। संविधान सभा के सदस्यों ने जिस तरह उनका अभिनंदन-वंदन किया वह सभी भारतवासियों, विशेषतया दलितों के लिए एक प्रेरक गाथा बन गया।

4 नवम्बर, 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने डॉ० अम्बेडकर द्वारा तैयार किए गए स्वतंत्र भारत के संविधान के प्रारूप बहस के लिए उन्हें एक बिल प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया। डॉ० अम्बेडकर ने अपने भाषण में संविधान दर्शन पर अनेक गंभीर और मौलिक प्रश्न उठाए। विश्व के संघीय और एकात्मक संविधानों से भारतीय संविधान की तुलना करते हुए समानताओं और असमानताओं पर भरपूर प्रकाश डाला। मौलिक अधिकार, पंचायत प्रणाली और अनुसूचित जातियों के हित संरक्षण के प्रावधान बहुत प्रभावशाली थे जिसमें भारत के करोड़ों लोगों के जीवन में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और नया जीवन जीने के प्रेरक तत्व निहित थे।

संविधान संरचना में डॉ० अम्बेडकर के साथ सदस्य के रूप में टी० टी० कृष्णामाचारी भी थे। उन्होंने प्रारूप के विषय में चल रही बहस में डॉ० अम्बेडकर की सराहना करते हुए कहा-

“मैं उस परिश्रम और उत्साह को जानता हूँ जिससे उन्होंने भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार किया है। संविधान सभा में सात सदस्य मनोनीत थे। उनमें से एक ने संविधान सभा से त्याग-पत्र दे दिया और उस रिक्त स्थान की पूर्ति कर दी गई। एक सदस्य का देहांत हो गया। उसका स्थान नहीं भरा गया। एक अमेरिका चला गया और स्थान खाली रहा। एक अन्य सदस्य राजकीय कार्यों में व्यस्त रहा और उनका स्थान भी खाली रहा। एक या दो सदस्य दिल्ली से बाहर रहे और शायद स्वास्थ्य के कारण उपस्थित नहीं हो सकें। हुआ यह कि संविधान को बनाने का भार डॉ० अम्बेडकर के कंधों पर आ पड़ा। इसमें मुझे संदेह नहीं कि जिस ढंग से उन्होंने संविधान निर्माण किया, हम उसके लिए कृतज्ञ हैं। यह निःसंदेह महान देशभक्ति तथा प्रशंसनीय कार्य है।”

एक स्थल पर सोहनलाल शास्त्री ने जिक्र किया है कि संविधान की प्रारूप समिति के एक सदस्य के० एम० मुंशी ने डॉ० अम्बेडकर से कहा कि सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिम जातियों को संरक्षण देने का प्रावधान अनावश्यक है। इससे मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई समाज के लिए अपनी-अपनी जनसंख्या अनुपात से नौकरियां मांगेंगे। डॉ०

अम्बेडकर क जवाब था कि हिंदुओं ने अछूतो को बेबसी, दरिद्रता और आशिक्षा के गर्त में धकेला है। उनके सारे हक छीने हैं। दूसरी अन्य अल्पसंख्यक जातियां शिक्षित और धनाढ्य हैं। के0 एम0 मुंशी फिर भी नहीं मानें। आगे बोले उन्हें सरदार पटेल ने यह आदेश दिया है। तो बाबा साहेब ने उत्तर दिया था कि “सरदार पटेल से कहिए कि वे स्वयं संविधान के मसौदे का कार्यभार संभाल लें, मुझे छुट्टी दे दें। नेहरू और गाँधी ने तो अनुसूचित जातियों की माँग को संविधान में जोड़ने का उनसे वायदा कर रखा है कि यदि मेरी यह इच्छा पूरी नहीं करने दी गई तो वह संविधान सभा की मसौदा समिति के अध्यक्ष पद को छोड़ देंगे”। मुंशी चुप हो गए और पटेल कुछ नहीं कर पाए। इस प्रकार डॉ0 अम्बेडकर ने भारत के संविधान को दलित हितों की संरक्षा का कवच बना दिया था जिसके लिए करोड़ों दलित उनके ऋणी रहेंगे।⁶

संविधान का प्रस्तावना:

भारत के संविधान के मुख्य उद्देश्य में मानवता के परिपोषक डॉ0 अम्बेडकर ने निम्न शब्दों में स्पष्ट किया कि—

“हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विष्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 को एतद्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”

इस प्रस्तावना में निहित हम उनके सामाजिक—राजनीतिक दर्शन और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके सामाजिक—आर्थिक विकास, समस्याओं के न्यायपूर्ण समाधान की विचारधारा की झलक स्पष्टया देख सकते हैं जिसके लिए वे लगभग तीन दशक तक संघर्षशील रहे।

इसलिए 1949 में संविधान पारित होने पर उन्होंने सदस्यों को संबोधित करते हुए कहा था— आज से हम राजनीतिक तौर पर स्वाधीन हो चुके हैं। किंतु अगर इस देश में प्रचलित आर्थिक और सामाजिक विषमता दूर नहीं हुई तो शोषित वर्ग संघर्ष हेतु उठ खड़ा होगा।”⁷

यद्यपि जगजीवन राम का संविधान की संरचना में सीधे योगदान नहीं था, लेकिन अंतरिम सरकार, स्वतंत्र भारत के पहले मंत्रिमंडल और उसके बाद भी लगभग 35 वर्षों तक केन्द्रीय मंत्रिमंडल में बने रहे और दलित आंदोलन को दिशा प्रदान करते रहे। 1946 में जब अंतरिम सरकार बनी थी, कहा जाता है डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद और महात्मा गांधी की पहल पर बाबू जगजीवन राम को मंत्री पद मिला था। 3 सितम्बर 1946 को सबसे कम आयु वाले 38 वर्षीय केन्द्रीय मंत्री थे। ‘अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ’ के तत्वाधान में उन्होंने समूचे उत्तर भारत में दलितों को राष्ट्रीय विचारधारा से जोड़ा था। डॉ0 अम्बेडकर का दलित आंदोलन संघर्षों से भरा अधिकार छीनने वाला आंदोलन था, जो दलितों के समग्र विकाश और राजनीति सत्ता का हामी था। जबकि जगजीवन राम कांग्रेस की रीति—रिवाज से बंधे थे। वे 1946 से 1952 तक श्रम मंत्री रहे और डॉ0 अम्बेडकर के समस्त अधूरे श्रम कानून विषयक और बंदरगाहों के कार्यों को पूरा

किया, जो उन्होंने वायसराय की कार्यकारणी के सदस्य के नाते सन् 1942 से 1946 तक सम्पन्न किए थे।

जगजीवन राम खेतिहर मजदूरों को बिहार में संगठित कर चुके थे। वे सब भूमिहीन दलित थे। इसी प्रकार कलकत्ते में वे हड्डी मिलो, जूट कारखानों, सूती मिलो में मजदूरों की दयनीय हालत देख चुके थे जो मुनाफाखोर पूँजीपतियों के शोषण के शिकार थे। ये सब दलित-शुद्र जाति के लोग थे। यही वजह है कि वे इतने सफल और व्यवहार कुशल श्रम मंत्री सिद्ध हुए। यह सब कार्य दलित आंदोलन का ही एक हिस्सा था। जब 1947 में स्वतंत्र भारत की पहली सरकार बनी तब भी उन्हें श्रम विभाग ही सौंपा गया।⁸

1947 से पूर्व जो श्रम कानून बने थे उनमें पूँजीपतियों और उद्योगपतियों का हित संरक्षण अधिक था, क्योंकि ब्रिटिश सरकार देशी औद्योगिक घरानो से अच्छे संबंध रखने के पक्ष में थी। श्रमिकों के व्यापक हित में उन्होंने 1946 से 1956 के मध्य अनेक कानून पारित किराए। यथा 1946 में इंडिस्ट्रियल एम्प्लायमेंट एक्ट 1946, इंडियन ट्रेड यूनियन एक्ट- 1946, इंडिस्ट्रियस डिसप्यूट्स एक्ट 1947, डाक वर्कर्स एक्ट, वर्कमेन्स स्टेट इन्श्योरेन्स एक्ट 1948, फ़ैक्टरीज एक्ट 1948 आदि-आदी।

उन्होंने बाल मजदूरों पर प्रतिबंध लगाया। भारत सरकार की नई श्रम नीति घोषित की। श्रमिकों के फंड, बोनस, चिकित्सा, आवास, मनोरंजन, फ़ैक्टरी परिसर में कैंटिन काम के घंटों में सुधार आदि के बारे में कानूनी आदेश पारित कराए। ग्रामिण श्रेत्र में उन्होंने खेतिहर मजदूरों पर ध्यान दिया। उनके लिए न्यूनतम मजदूरी तय कराई। बेगार प्रथा बंद करने का अभियान छेड़ा।

दलितों को सरकार और निजी औद्योगिक संस्थानों में समुचित रोजगार उपलब्ध कराने के लिए ठोस कार्यवाही की। एम्प्लोज़ प्रॉविडेंट फंड एक्ट-1952 के जरिए मजदूर जगत में उन्होंने एक नई क्रांति ला दी। इसने मजदूरों को जरूरत पड़ने, बीमारी और वृद्धावस्था में अधिक बोझ सहने के लिए बड़ी राहत का कार्य किया। सर्वप्रथम इस योजना के अंतर्गत- सीमेंट, सिगरेट, इंजीनियरिंग उत्पाद, आयरन एंड स्टील, पेपर और टेक्सटाइल जैसे- 6 उद्योग को लिया गया, जहाँ 50 या इससे अधिक कर्मचारी कार्यरत थे। वाद में इस योजना को सभी औद्योगिक संस्थाओं में लागू कर दिया गया, जहाँ 50 से कम मजदूर लगें थे। दलित-शोषित मजदूरों के लिए इससे बड़ा लाभ पहुँचा। खान उद्योग की तरह चाय बगान के श्रमिकों के लिए भी अनेक उपाय किया गया।

शुरू-शुरू में जगजीवन राम ने मंत्री बनने के बाद दलितों के बारे में कांग्रेस की नीतियों की आलोचना नहीं की। जैसा कि डा० अम्बेडकर अक्सर किया करते थे। कांग्रेस की दलितों के प्रति बेरुखी की वजह से 1951 में डा० अम्बेडकर को मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देना पड़ा। बाद में जगजीवन राम मुखर हुए।

निष्कर्ष-

उपरोक्त तथ्यों के अध्ययनोपरांत स्पष्ट होता है कि भारत में दलित आंदोलन के इतिहास का केन्द्र बिन्दु जाति, असमानता, अस्पृश्यता एवं सामाजिक-धार्मिक उत्पीड़न आदि के खिलाफ डा० अम्बेडकर ने अपनी सम्पूर्ण जीवन यात्रा को संघर्ष यात्रा के रूप में समर्पित कर दिया। परिणामतः

स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण में अपनी महती भूमिका के निर्वहन के समय एक तरफ जहाँ दलित संदर्भ के तत्वों को स्मरण में रखा वही दूसरे तरफ सम्पूर्ण भारत में लोकतंत्र का विकास, समस्त जनता के संदर्भ में लोक कल्याण के महती प्रश्नों के सामाधान को भी संविधान के विभिन्न प्रावधानों के माध्यम से सुनिश्चित किया। इस प्रकार डॉ० अम्बेडकर ने अपने महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पादित कर समस्त जनता एवं सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अपनी असीम प्रेम का परिचय दिया। जो इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि राष्ट्र के समस्त जनता से सम्बंधित लोक कल्याण के कार्य ही सच्ची राष्ट्रीयता की जन्मदात्री है।

संदर्भ ग्रंथ:—

1. दृष्टब्य: जैन, के० सी० भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास, जगजीवन राम: जीवन एवं व्यक्तित्व, एंड चंचरीक: दलित आइडेंटिटी हिस्ट्री एंड ट्रेडीशन।
2. राजशेखरय्या, ए०एम० : वी० आर० अम्बेडकर—दि क्वेस्ट फॉर सोशल जस्टिस, पृ० 142.
3. कैबिनेट मिशन से पत्रव्यवहार संबंधी दास्तावेज (सिद्धार्थ कॉलेज लायब्रेरी, मुंबई)।
4. कुबेर, डब्ल्यू० एन० : बी० आर० अम्बेडकर, पृ०— 65.
5. उपरोक्त वही पृ०— 66—67.
6. शास्त्री, सोहनलाल,: बाबा साहेब अम्बेडकर के संपर्क में पच्चीस वर्ष, पृ०— 51.
7. देखे, भारतीय संविधान की प्रस्तावना, लोक सभा सचिवालय।
8. फोर डिकेड्स ऑफ जगजीवन रामस पार्लियामेंटरी कैरियर: जगजीवन राम इज लेबर मिनिस्टर, पृ०— 102—132.

समाजवाद

सत्येन्द्र कुमार सिंह

राज्य-कर सहायक आयुक्त, पटना, मध्य अंचल पटना

राजनीति दर्शन में राज्य के स्वरूप व राज्य के शासन प्रणाली के भेद को स्पष्ट किया जाता है। इस दृष्टि से समाज का स्वरूप 2 प्रकार का होता है :-

1 व्यक्तिवाद :- इसमें व्यक्ति प्रमुख और राज्य गौण होता है। इसका स्वीकृत रूप राजतंत्र होता है जो विकृत हो कर पहले निरंकुश तंत्र और अंततः अराजकतावाद में परिणत होता है।

2 समष्टिवाद :- इसमें राज्य प्रमुख व्यक्ति गौण होता है। इसका स्वीकृत रूप समाजवाद है और इसका विकृत रूप समग्रतावाद है।

प्रसिद्ध दार्शनिकसी० ई० एम० जोड का कथन है कि समाजवाद पर इतनी मात्रा में सामग्री उपलब्ध है कि इसका विशुद्ध रूप क्या है बताना कठिन है। उनके अनुसार यह एक ऐसा टोपी बन गया है जिसका अधिक लोगो के द्वारा पहने जाने के कारण उसका विशुद्ध रूप ही बदल गया है।

परम्परगत रूप से समाजवाद शब्द का प्रयोग उन सभी विचारधाराओं के लिए किया जाता है जो उत्पादन के साधनों पर समाज के स्वामित्व का समर्थन करते हैं इसका लक्ष्य है-भूमि और पूंजी पर समस्त समाज का स्वामित्व ताकि समाज के सभी वर्गों का अनुपातिक भाग सुनिश्चित किया जा सके।

समाजवाद वस्तुतः एक राजनैतिक विचारधारा ही नहीं है वरण यह एक समाजिक, आर्थिक, नैतिक एवं मानवतावादी विचार धारा भी है। यह वस्तुतः एक आदर्श है।

समाजवाद की विशेषता :-

- 1 समाजवाद एक सिद्धान्तवाद, आन्दोलन, जीवनपद्धति है।
- 2 समानता समाजवाद का आधार है। अतः यह असमानता का विरोधी है।
- 3 यह समाजिक स्वतंत्रता में विश्वास रखता है
- 4 समाजिक स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता से भिन्न है क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता व्यक्ति के विकास को छुट देती है लेकिन अंतर यह है कि व्यक्तिवादी स्वतंत्रता उस विकास को व्यक्तिगत हित जबकि सामाजिक स्वतंत्रता में स्वतंत्रता के आधार पर किया गया व्यक्तिगत विकास का साध्य सामाजिक हित होना है।

5 समाजवाद में आर्थिक समानता लाने के लिए अर्थ पर सामाज के नियन्त्रण पद बल देता है। इसके अंतर्गत मुख्य रूप से आर्थिक उत्पादन और वितरण पर समाजिक नियंत्रण को प्राप्त करना है।

6 समाजवाद में श्रम को महत्व दिया जाता है समाजवाद में कोई भी मालिक नहीं होता है बल्कि सभी श्रमिक होते हैं।

7 समाजवाद में व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध किया जाता है।

8 समाजवाद मानता है कि समाजिक आदर्शों की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक बुराई के रूप में राज्य को स्वीकार किया जाता है।

समाजवाद का दार्शनिक आधार—

1 स्वतंत्रता पूर्वक व्यक्ति का विकास।

2 सहयोग की भावना।

3 सहकारिता पूर्ण जीवन।

4 उत्कृष्ट जीवन।

5 असमानता को न्यूनतम करना।

6 समाज सेवा भाव

समाजवाद के प्रमुख रूप—

1 ईसाई समाजवाद।

2 श्रेणी समाजवाद।

3 क्रान्तिकारी समाजवाद।

4 विकासवादी समाजवाद।

5 लोकतांत्रिक समाजवाद।

6 वैज्ञानिक समाजवाद/मार्क्सवाद/साम्यवाद।

7 रूसी समाजवाद/बोल्शेविक समाजवाद।

8 फेबियनवाद।

9 स्वप्नलोकीय समाजवाद।

10 राज्य समाजवाद।

11 संसदीय समाजवाद।

12 संशोधनवाद।

समाजवाद के दोष—

1 समाज का आधिपत्य और व्यक्तिवाद की अधीनता।

2 उत्पादन और पूंजी का प्रेरणा की अभाव।

3 वर्ग संघर्ष अर्थात् इसके समर्थक व विरोधियों में संघर्ष का आरम्भ।

4 निगम के रूप में राज्य के उद्योगों का बढ़ावा।

5 लाइसेंस और कोटा के रूप में नियंत्रण की बाधा।

6 यह उच्च से नीचे गिरा कर बराबर करने की व्यवस्था है।

7 धीमा विकास गति।

8 हिंसात्मक कर्म के रूप में अपवित्र साधन को महत्व देना।

समाजवाद का महत्व—

1 समाज की प्रधानता को स्वीकार करना।

2 समाजीक जागरूकता को बढ़ावा देना।

3 मानवीय श्रम को बढ़ावा देना।

4 हर प्रकार के शोषण का अन्त करना।

5 समाजिक न्याय की स्थापना।

समाजवाद की प्रांसगिकता : समाजवाद राज्य के क्षेत्र में लोकतंत्रात्मक प्रणाली का, धर्म के क्षेत्र में नास्तिकता एवं तटस्थता का, अध्यात्म के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी भौतिकवाद का, औद्योगिक क्षेत्र में जनवादी समष्टिवाद का, नैतिकता के क्षेत्र साधन के महत्व एवं एक अनंत आशावाद का सूचक है। समाजवाद एक प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील दर्शन है जिसका गुण बदलती हड्डि समाजिक परिस्थितियों एवं अवश्यकताओं के अनुरूप अपने स्वरूप में परिवर्तन करना है।

भारतीय संदर्भ में समाजवाद : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति लोकतांत्रिक साधनों के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास शुरू हुआ। जमींदारी उन्मूलन, बैंक और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रीबीपर्स की समाप्ति, 42वाँ, 73वाँ, 74वाँ संविधान संशोधन, समुदायिक विकास कार्यक्रम, नियोजित अर्थव्यवस्था को लागू करके पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा एवं वैज्ञानिक संगठनों का प्रयोग करते हुए कृषि और उद्योगों को बढ़ावा देते हुए भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद को पाने का प्रयास किया गया। 1991 की नयी औद्योगिक नीति, (स्च्छ) के पश्चात भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की संरचना एवं दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जाने लगे। लेकिन इनका उद्देश्य समाजवादी लक्ष्यों से बिचलित होना नहीं बल्कि वर्तमान परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार उसे नये परिपेक्ष्य और नए तरीके से प्राप्ति का प्रयास करना है।

हिन्दी कविता की परंपरा में आधुनिकता का प्रवेश

बिपिन कुमार सिंह

शोधार्थी हिन्दी, भू.ना.मं.विश्वविद्यालय, मधेपुरा (बिहार)

कवि त्रिलोचन आधुनिक है या नहीं ? अवश्य हैं । क्या उसी तरह आधुनिक हैं जिस तरह नयी कविता के रचनाकार हैं ? नहीं, उस अर्थ में नहीं है इनकी आधुनिकता हिन्दी काव्य की जातीय परम्परा से जुड़ी हुई है । 1981 में प्रकाशित त्रिलोचन के कविता संकलन 'उस जनपद का कवि हूँ' के आवरण पृष्ठ पर कवित केदारनाथ सिंह का अभिमत छपा है ।

उसका यह अंश बहुत महत्वपूर्ण है –

“त्रिलोचन एक खास अर्थ में आधुनिक हैं और सबसे आश्चर्यजनक तो यह है कि वे आधुनिकता के सारे प्रचलित सॉचों को ;अर्थात् नयी कविता के सॉचों को अस्वीकार करते हुए भी आधुनिक हैं। दरअसल वे आज की हिन्दी कविता में उस धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो आधुनिकता के सारे शोर-शराबे के बीच हिन्दी भाषा और हिन्दी जाति की संघर्षशील चेतना की जड़ों को सींचती हुई चुपचाप बहती रही है । त्रिलोचन की कविताएँ समकालीन बोध की सुपरचित ;रुढ़िग्रस्तद्ध परिधी को तोड़ने वाली कविताएँ हैं और इस तरह आज की कविता ;नयी कविता की हमारी बनी बनायी अवधारणा को ;कविता के नये प्रतिमानों को थोड़ा छिन्न-भिन्न करने वाली कविताएं।”¹

ज्ञान पिपासा और स्वाध्याय ने त्रिलोचन के अनूठे व्यक्तित्व को गढ़ा है । उन्होंने उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी, अवधी, फारसी और बंगला साहित्य का व्यापक अध्ययन किया है । आदिकाल, भक्तिकाल, वीरगाथा काल से होते हुए साठोत्तरी कविता और आधुनिक कविता पर वे समान रूप से बोल सकते हैं । प्रतीकवाद और प्रयोगवाद पर उनका अधिकार देखते ही बनता है । तुलसी बाबा भाषा मैंने तुमसे सीखी । मेरी सहज चेतना में तुम रमे हुए हो कहने वाले त्रिलोचन से संवाद करते हुए यह सहज उद्घाटित होता कि उनकी शिराओं में तुलसी, निराला और कबीर दौड़ रहे हैं तो उनकी धमनियों में मीर गालिब और नजीर भी प्रवाहित हैं। काशीनाथ सिंह ने सही लिखा है – ‘कालातीत हैं त्रिलोचन, कोई सदी नहीं—कोई स्थान नहीं, कोई भाषा नहीं, जहाँ और जिसमें न घूमा हो त्रिलोचन । विषय कोई सा भी हो, पांडित्य के क्षेत्र में उनका दबदबा सभी स्वीकार करते थे। विरल होती हुई इस पिढी के पास बतियाने की अदभूत कला थी। आस्था और विश्वास से भरे-पूरे फक्कड़ और अलमस्त त्रिलोचन नब्बे वर्ष की उम्र में भी बतियाते थे बातचीत का रूख मोड़ने में या विषयांतर करने में उनका कोई जबाब नहीं था। निराला के संबंध में प्रश्न पुछने पर नामवर सिंह के साथ हुई तैराकी प्रतियोगिता का वर्णन सुनिए । नामवर जी के बारे में पूछें तो प्रेमचंद्र और रामविलास शर्मा की बात बताने लगते हैं ।

हिन्दी कविता में जब छायावादी दर्शन अपने चरमोत्कर्ष पर था तब त्रिलोचन ने अपनी कविताओं के माध्यम से समान्य जन के स्वाभिमान को बार-बार स्थापित किया। त्रिलोचन के

पहले काव्य संग्रह 'धरती की समीक्षा करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है – 'कवि की प्रगतिशीलता अट्टाहासपूर्ण आंतरिक क्षतिपूर्ति के रूप में नहीं आई है वरन कवि ने अपने जीवन संघर्ष से मंज-घिसकर आई है ।धरती के गीतों का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, इनमें मात्र काव्य सामर्थ्य ही नहीं प्रकट होता, वरन जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है ।'²

ये पंक्तियां त्रिलोचन के अनुभव संसार को, उनकी अभिव्यक्ति क्षमता को उनके जीवन-दर्शन के साथ उनकी रचना-दृष्टि को, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्त करती हैं । अपनी कविताओं में वे जीवन का यथार्थ सामने रखते हुए संघर्ष की भूमिका के लिए जीवन सौन्दर्य की महत्ता प्रतिपादित करते हैं । उनके नए उन काव्य संग्रह 'मेरा घर' के फलैप पर अशोक वाजपेयी ने लिखा है – वयोवृद्ध त्रिलोचन इस समय संभवतः हिन्दी के सबसे गृहस्थ कवि है, इस अर्थ में कि हिन्दी भाषा अपनी जातीय स्मृतियों और असंख्य अंतर्ध्वनियों के साथ सचमुच उनका घर है । वे विरले कवि हैं । जिन्हें पुरे आत्मविश्वास के साथ कहने का हक है कि पृथ्वी मेरा घर है ।' इसी संग्रह में 'महानगर महात्म्य' और 'मरने में क्या है' जैसे अनोखी कविताओं के साथ कवि की भावना देखिए ।³

कविताएं रहेगी तो/सपने भी रहेंगे
जीने के लिए/सपने सभी को
अश्वासन देते हैं/भँवर के झकोरे
खाती नाव को/जैसे तैसे/उबार लेते हैं/
कविताएँ सपने के संग ही/जीवन के साथ है/
कभी-कभी पाँव हैं/कभी कभी हाथ हैं ।⁴

दुर्बल वर्ग के लिए, जन जन के लिए मर्मांतक पीड़ा उनकी रचनाओं में लगातार मुखर होती है । शब्द अर्थ और स्वर के साधक ने उपेक्षितों और दलितों के जीवन को नजदीक से देखा, उन पर कहानियां लिखीं । 'देशकाल' की कहानियों में झुरी, जोखन, मनोगी और भंगलू के साथ जिऊधन जैसे अनेकानेक पात्रों से तदात्म्य स्थापित किया । कहानियों में भारतीय समाज के अंतर्विरोधों को रेखांकित करते हुए पात्रों को आत्मीय स्वरूप प्रदान किया । अभावों में जीने वालों की जो पीड़ा है, उनका जो दुख है, सुख है, सुखद जीवन के हर्ष और उल्लास के जो क्षण हैं, उनका प्रतिबिंब शब्द-शब्द में दिखाई देता है । 'भोरई केवट', 'सुकनी बुढ़िया', 'रामचंद्र', 'श्याम', और 'चंपा काले-काले अक्षर नहीं चिन्हती' में जिजीविषा प्राणों का अमृत बनकर छलकती है । उनकी कविताओं का कैनवास बहुत व्यापक है । कबीर, तुलसी, गोर्की, माओ, गालिब, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, विष्णुचंद्र शर्मा और 'काशी' को यादों में समेटते हुए कलम चलाई । आदम्य साहसी और जिजीविषा के धनी तेनसिंह और हिलेरी को शब्द-शक्ति द्वारा सम्मान प्रदान किया । गालिव पर लिखी पंक्तियां देखिए –

'गालिब गैर नहीं है, अपनों से अपने हैं ।
गालिब की बोली आज हमारी बोली है ।
नवीन आँखों में जो नवीन सपने हैं ।

वे गालिब के सपने है ।⁵

इस प्रकार –

“शब्द शब्द से व्यंजित जीवन की तलाश में।

कवि भटका करता है” ।⁶

यह तलाश त्रिलोचन को उन जड़ों तक ले गई, जहां न तथाकथित ‘आधुनिकता’ की पहुँच है और न जिससे ‘प्रगति’ और ‘प्रयोग’ के उस आधुनिकतावादी कर्मकांड का कोई सरोकार है, इसलिए त्रिलोचन “गैर आधुनिक’ ही नहीं ‘प्राक् आधुनिक’ प्रतीत होते हैं ।

बहुत पहले सन् 51 के एक सॉनेट में, जो ‘उस जनपद का कवि हूँ’ में संकलित है उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपनी आकांक्षा व्यक्त की है।

यह तो सदा कामना थी, इस तरह से लिखूं
जिन पर लिखूं, वही यों अपने स्वर में बोलें,
अपरिचित जन पहचान सकें, फिर भले ही दिखूं
अपनापन थोपने में विफल, आकर खोलें
आमंत्रित जड़ चेतन अपने मनोभाव को
उस स्वभाव को जो अभिन्नतम अभिव्यक्ति है
पूरी सत्ता की ।

त्रिलोचन की शब्द-साधना यह है कि उन्होंने अपनी कविता के लिए नई भाषा गढ़ी नहीं, बल्कि पहले से मौजूद जीवित भाषा को उसी जीवंतता में ग्रहण किया—उस भाषा में उन लोगों को अपने-आप बोलने दिया, जिन्हें अभी तक बोलने का मौका नहीं मिला था, कविता की इस दुनिया में चेतन के साथ जड़ की आमंत्रित हुए पूरी सत्ता की अभिन्नतम अभिव्यक्ति के लिए वस्तुतः वह स्वभाव है, जिसे त्रिलोचन कविता में पकड़ने का प्रयास करते रहे हैं – सभी स्तरों पर⁷ ‘शब्द’ के अंतर्गत प्रकाशित 19 कविताओं पर नामवर जी की समीक्षात्मक टिप्पणी है । नामवर जी कवि की दो पंक्तियों को उद्धृत करके अपनी बात आगे बढ़ाते हैं।

शब्द शब्द से व्यंजित जीवन
की तलाश में
कवि भटका करता है ।

नामवर सिंह जी कहते हैं – ‘यह तालाश त्रिलोचन को उन जड़ों तक ले गई, जहां न तथाकथित आधुनिकता की पहुँच है और न जिससे ‘प्रगति’ और ‘प्रयोग’ के उस ‘आधुनिकतावादी’ कर्मकांड का कोई सरोकार है । इसलिए त्रिलोचन ‘गैर आधुनिक’ ही नहीं बल्कि ‘प्राग्-आधुनिक’ प्रतीत होते हैं ।उन्होंने अपनी कविता के लिए नई भाषा गढ़ी नहीं, बल्कि पहले से उस बेजबान लोगों को अपने आप बोलने दिया, जिन्हें अभी तक बोलने का मौका नहीं मिला था ।⁸

कबीर निर्भीक शक्ति के स्रोत थे। त्रिलोचन की कविताओं में औघड़ कबीर जैसा अनुभूति का मर्म, अवधूत तुलसी जैसा शब्द समर्थ और फक्कड़ निराला जैसा काव्य बोध ही नहीं है, व्यक्तित्व भी उनके जैसा है। निडर त्रिलोचन ने बेखोफ होकर सत्य के एक रूप को इस तरह दिखाया है—

राज्यपाल को देखा तो पैरो पर माथा टेक दिया।
फिर स्पष्टीकरण किया—भारत की परंपरा ही ऐसी है।
दूतों को देखा, सिर के बल दौड़े, फोटो में उभरी गाथा।
ऐसी—ऐसी चाल—ढाल है गत—आगत की।
मानवता शरमाए — ऐसी जीवन—रेखा।

1953 के महाकुंभ में हजारों यात्री भीड़ में सर गए थे। उस समय की विसंगति और विद्रूप को वे इस तरह सामने रखते हैं —

लाशो की चर्चा थी, अथवा सन्नाटा था।
राज्यपाल ने दावत दी थी, हा हा ही ही।

कहना न होगा, उनकी संघर्ष चेतना उत्तेजनापूर्ण कवि से अलग गहरी संवेदनशील और सूक्ष्म है। संगठित जनता की ऊर्जा और उर्वरता में, उसकी कर्मण्टा में, उनके सामूहिक प्रयत्न में गहरा विश्वास करते हैं —

दीवारें दीवारें दीवारे दीवारें/चारो और
खड़ी हैं, तुम चुपचाप खड़े हो। हाथ
धरे छाती पर मानो वहीं गढ़े हो। मुक्ति
चाहते हो तो आओ धक्के मारे / और
ढहा दें, उधम करते कभी न हारे।⁹

त्रिलोचन की आँखे गाँव से अलग छनिहर पिछड़ी बस्ती को जानती रही हैं। उसके कान इस गाँव के कहन रस में पगे हैं। गाँव में रहते समय एक ही त्रिलोचन, गाँव का 'छोटा मास्टर', 'चमरो का संगठनकर्ता', 'टूटे संयुक्त परिवार का पढ़ाकू युवक' और पतझर या वसंत का कवि यानी बहुत—सा त्रिलोचन बन गया था। कार्यक्षेत्र की यही भिन्नता है जहाँ हमें नजर आते हैं, भिन्न, भिन्न त्रिलोचन। गाँव का एक बेचैन त्रिलोचन अपनी धरती पर तब सोचा करता था :-

इस जीवन का मोल बहुत है। मोल कूतना
सहज नहीं है फिर भी इस जीवन का दुनिया
में अपनापन हुआ करता इतना जितना पार नहीं है।

अपना अपमान झेलकर जीने की कथा ही त्रिलोचन की जीवन यात्रा रही है पिछले सात दसको से त्रिलोचन प्रगतीशील कविता की कल्पित वस्तु या कथा रहे है वह आधुनिक भारतीय मानसिकता के गढ़न या आकार के नाते प्रतीकात्मक कवि माने जा चुके है ।¹⁰

संदर्भ ग्रंथ :

01. आधारशिला, त्रिलोचन विशेषांक, फरवरी 2011, पृ सं0-13
02. हंस जुलाई 1946
03. आजकल अप्रैल 2010, पृ0 सं0 6
04. मेला घर, त्रिलोचन, पृ0 सं0-15
05. आजकल, अप्रैल 2010, पृ0 सं0-8
06. शब्द त्रिलोचन पृ0 सं0-44
07. गुँज, नामवर सिंह, पृ0 सं0-34
08. आधारशिला, त्रिलोचन विशेषांक 2011, पृ0 सं0-76
09. आजकल, अप्रैल 2010, पृ0 सं0-8
10. त्रिलोचन का कवि कर्म, विष्णु चन्द्र शर्मा पृ0 सं0-32

स्वामी विवेकानंद और शिक्षा का अर्थ

राकेश कुमार रंजन

शोध छात्र, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय

मेरे विचार से शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करता है, तथ्यों का संकलन नहीं। यदि मुझे फिर से अपनी शिक्षा आरंभ करनी हो और इसमें मेरावश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि न करूँ। मैं मन की एकाग्रता और अनासक्ति का सामर्थ्य बढ़ाना और उपकरण के पूर्णतया तैयार होना पर उससे इच्छानुसारतथ्यों का संकलन करता।

शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि हमारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ढूँस दी जायँ, जो आपस में, लड़ने लगे और हमारा दिमाग उन्हें जीवन भर हज़म न कर सके। जिन शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सके, मनुष्य बन सकें, चरित्र-गठन कर सके और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि हम कुछ ही भावों को हज़म कर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो तो हमारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक उपयोगी है, जिसने एक पूरी की पूरी लाइब्रेरी को कंठस्थ कर ली है।

ज्ञान मनुष्य में अंतर्निहित ही है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब हमारे अंदर ही है। हम कहते हैं न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक होने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया तो उसने ढूँढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व की असीम पुस्तकालय हमारे मन में ही है। बाह्य जगत तो हमारे मन को अध्ययन में लगाने के लिए उद्यीपक तथा सहायक मात्र है, परंतु प्रत्येक समय हमारे अध्ययन का विषय हमारा मन ही है।

हमारे मतानुसार मन की सारी शक्तियों को एकमुख करना ही ज्ञान लाभ का एकमात्र उपाय है। बाह्य विज्ञानों में बाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अंतर्विज्ञानों में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की एकाग्रताको ही हम योग कहते हैं। योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता-शक्ति का फल अत्यंत महान है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य-बाह्य और अंतर दोनों जगत के सत्य-करामलकवत् (हाथ में रखें आँवले की भौंती) प्रत्यक्ष हो जाते हैं। मन जब एकाग्र होता है और उसे पीछे मोड़करस्वयं उसी पर ही केंद्रित कर दिया जाता है, तो हमारे भीतर जो भी है, वह हमारा स्वामी न रहकर हमारा दास बन जाता है,। यूनानियों ने अपने मन की एकाग्रता को बाह्य संसार पर केंद्रित किया और इसके फलस्वस्व उन्होंने कला, साहित्य आदि में पूर्णता प्राप्त की। हिन्दूओं ने मन की एकाग्रता को अंतर्जगत और आत्मा के अगोचर क्षेत्र पर केंद्रित किया और उसके फलस्वरूप योगशास्त्र का विकास किया।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपना आदर्श लेकर उसे रूपायित करने की चेष्टा करे। दूसरों के अव्यवहारिक आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना

एकाग्रता का अधिक निश्चित मार्ग है। किसी समाज के सभी स्त्री पुरुष एक ही तरह के नहीं होते, एक ही तरह की योग्यता और एक ही तरह की शक्ति के नहीं होते।

अतः उनमें से प्रत्येक का आदर्श भिन्न-भिन्न होना चाहिए। इन विभिन्न आदर्शों में से किसी का भी उपहास करने का हमें कोई अधिकार नहीं। प्रत्येक को यथासंभव अपना आदर्श प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। फिर यह भी सही नहीं कि मैं आपके अथवा आप मेरे आदर्श द्वारा जाँचे जायें। सेब के पेड़ की तुलना ओक से नहीं करनी चाहिए और न ओक की तुलना सेब से करनी चाहिए।

दूसरों के पास जो कुछ भी अच्छा मिले, उसे सीख लो; परंतु उसे अपने भाव के साँचे में ढालकर लेना चाहिए। दूसरे से शिक्षा ग्रहण करते समय उनके अनुगामी न बने अपनी स्वतंत्रता बचा कर रखे।

शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है जो सकारात्मक हो तथा जिनसे स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताब पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की जरूरत है, जिससे चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढे, बुद्धि विकसित हो और देश का युवा वर्ग अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने से स्त्रियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं ही हल कर लेंगी। अबतक तो उन्होंने केवल असहाय के रूप में दूसरों पर आश्रित होकर जीवन बिताना और जरा सी भी आशंका होने पर आँसू बहाना हो सीखा है। केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और विद्या को देखकर हमारे गरीबों की बात याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ है? जवाब पाया—शिक्षा!

ईश्वर संबंधी सभी सिद्धांत सगुण, निर्गुण, अनंत, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव धर्म की परिभाषा के अंतर्गत आना चाहिए। उन्होंने धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उनका कहना था— “हमें मानव गठन करने वाला धर्म चाहिए, हमें मनुष्य गठन करने वाला सिद्धांत चाहिए, चारों ओर हमें मानव गठन करने वाली शिक्षा चाहिए। विवेकानंद के धर्म संबंधी विचार मानव कल्याण और संपूर्ण मानवता के लिए हितकर है।

स्वामी विवेकानंद का राष्ट्रवाद अनुकरणीय है। उनका राष्ट्र प्रेम अद्वितीय है। विवेकानंद ने एक बार कहा था “मैं भारत वर्ष का धनीभूत रूप हूँ।” सिस्टर निवेदिता के अनुसार भारतवर्ष स्वामी जी के गंभीरतम आवेग का केंद्र था। भारत वर्ष उनके हृदय में धड़कता था। भारत वर्ष उनके लिए रात का दुःस्वप्न था। केवल यही नहीं, वे स्वयं भारत वर्ष हो गए थे। रूक्त मांस से बनी प्रतिभा, भारत वर्ष की आधियात्मिकता, उसकी पवित्रता, उसकी प्रजा, उसकी शक्ति, उसका स्वप्न एवं उसकी भविष्य वे सभी के प्रतीक पुरुष थे। इसलिए स्वामी जी के जीवनी से पता चलता है कि भारत वर्ष के गर्व से इतना गर्वित शायद ही कोई हुआ हो क्योंकि और किसी ने भारतवर्ष को इतना अपना समझा भी नहीं था।

धर्म का सही रूप भारत के लोगों के सामने रखने और विदेशों में भारत की नकारात्मक छवि को उज्ज्वल करने की उत्कंठा ने ही उनसे वह सब कराया जिसे याद करके हम उन्हें देश के शीर्षस्थ महापुरुषों की पंक्ति में अग्रणी रूप से बिठाते हैं। किंतु उनकी देशभक्ति और अपने धर्म के प्रतिश्रद्धा एवं आस्था न उनके तर्कशील और उदार दृष्टिकोण पर कभी ग्रहण नहीं लगने

दिया। वह प्रवृत्ति और चिंतन से सहिष्णु, दूसरों के विचारों का सम्मान करने वाले और सभी संस्कृतियों व धर्मों में समानता के दर्शन करने वाले व्यक्ति थे।

विवेकानंद का कहना था—“वे न राजनेता हैं न राजनीति के आंदोलनकारी”। उनका विश्वास राजनीति में नहीं धर्मनीति में था। उनका मानना था अगर ईश्वर और आत्मा ठीक है तो सबकुछ ठीक है।

विवेकानंद ने जनसाधारण की अवहेलना को राष्ट्रीय पाप कहा। यह हमारी पतन का बड़ा कारण है। जब तक भारत की साधारण जनता उत्तम रूप से शिक्षित नहीं होगी, उसे समुचित पेट भर भोजन उपलब्ध नहीं होगी और जब तक उनकी सुरक्षा नहीं होगी, तब तक कितना भी राजनीति आंदोलन क्यों न हो, उससे कुछ फल प्राप्त नहीं होगा। अगर हम भारत के वास्तव में पुनरुद्धार की बात सोचते हैं तो हमें हृदय से उनके लिए कार्य करना होगा।

हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे। सारी शिक्षा, समस्त प्रशिक्षण का एकमेव उद्देश्य मनुष्य का निर्माण होना चाहिए। पर हम यह न करके बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का प्रयत्न किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहाँ सिर्फ बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ? सारी शिक्षा का ध्येय है—मनुष्य का विकास। वह मनुष्य, जो अपना प्रभाव सब पर डालता है जो अपने संगियों पर जादू सा कर देता है, शक्ति का एक महान् केन्द्र है और जब वह मनुष्य तैयार हो जाता है, वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी को कार्यशील बना देता है।

स्वामीविवेकानंद सर्वहितकारी, सर्वव्यापी एवं मानव निर्माण करने वाली शिक्षा पर जोर देते थे। वे मानव की स्वतंत्रता को मूल बिंदु मानकर राजनीति से परे मानव निर्माण की योजना के समर्थक थे। शिक्षा को धर्म से जुड़ा मानकर विवेकानंद ने दोनों की मानव के अंदर पाई जाने वाली प्रवृत्ति को उजागर करना ध्येय माना। मानव कल्याण का मूल बीज शिक्षा को मानकर विवेकानंद न शिक्षा को सर्वसुलभ बनाने की योजना बनाई। उन्होंने शिक्षा की एक उदार एवं संतुष्टि प्रारूप देश के सामने रखा आवश्यकता है विदेशी नियंत्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ ही साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखा जायें। हमें उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यांत्रिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सकें और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सकें।

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक माना। उन्होंने हर समस्या का निदान शिक्षा को बताया। शिक्षा के उद्देश्यों का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं “जो शिक्षा प्रणाली जन-साधारण को जीवन संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक नहीं होती, जो मनुष्य को नैतिक बल का, उसकी सेवा भावना का, उसमें सिंह के समान साहस का विकास नहीं करती, वह भी क्या शिक्षा के नाम के योग्य है?”

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव का निर्माण करना बताया। वे कहते थे “शिक्षा द्वारा मनुष्य का निर्माण किया जाना चाहिए। समस्त अध्ययनों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य का विकास करना है। जिस अध्ययन द्वारा मनुष्य की संकल्पशक्ति का प्रवाह संयमित होकर प्रभावोत्पादक बन सके, नाम शिक्षा है।”

विवेकानंद के अनुसार मानव तभी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है जब उसका शरीर स्वस्थ हो। शारीरिक दुर्बला पूर्णता के लक्ष्य प्राप्त करने में सबसे बड़ा बाधक तत्व है। वे युवको को संबोधित करते हुए कहते हैं "सबसे पहले हमारे युवको को बलशाली बनना चाहिए। धर्म तो बाद की चीज है। तुम गीता पढ़ने की बजाय फुटबाल खेलकर स्वर्ग के अधिक नजदीक पहुँच सकते हो। यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, अपने पैरों पर दृढ़ता पूर्वक खड़े हो सकते हो, तो तुम उपनिषदों और आत्मा की महत्ता को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हो।

विवेकानंद भारत की दुदृशा से अत्यंत मर्माहत थे। वे एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का विकास करना चाहते थे जो भारतीय विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करे। वे कहते हैं— "ऐ वीर! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से कहो मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि मूर्ख भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सभी मेरे भाई है। भारत के दीन—दुनियों के साथ एक होकर गर्व से पुकार कर कहो— "प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण है, भारत के देवी—देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी का फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है।

स्वामी विवेकानंद उसी शिक्षा को शिक्षा मानते थे जो चरित्रवान स्त्री—पुरुष को तैयार कर सके। उनके अनुसार सबल राष्ट्र के निर्माण हेतु नागरिक का चरित्रवान होना आवश्यक है। वे कहते हैं "आज हमें जिसकी आवश्यकता सबसे अधिक है, वह है चरित्रवान स्त्री—पुरुष। किसी भी राष्ट्र का विकास और उसकी सुरक्षा उसके चरित्रवान नागरिकों पर निर्भर है। "अतः विद्यार्थियों में उच्च चरित्र का निर्माण शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

संदर्भ सूची :

1. डॉ० आर० और सिंह, यू०, *शिक्षा तथा उदीयमान भारतीय समाज*
2. पाण्डेय, आर०, *विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*
3. सिंह, एन० पी०, *शिक्षा के दार्शनिक आधार*
4. *विवेकानंद साहित्य* (भाग 3 और 4): अद्वैत आश्रम
5. विक्रम, डॉ० नरेश, *राष्ट्रीय शिक्षा*
6. हंसराज, रहबर, *योद्धा सन्यासी विवेकानंद*

माक्सवाद

सत्येन्द्र कुमार सिंह

राज्य-कर सहायक आयुक्त, पटना, मध्य अंचल पटना

इस विचारधार के आविर्भाव का श्रेय कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऍंगिल्स को जाता है। मार्क्सवाद समाजवाद का वह रूप है जिसे कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने प्रस्तुत किया था। समाजवाद के इस मार्क्सवादी रूप को वैज्ञानिक समाजवाद भी कहा जाता है क्योंकि इनके द्वारा प्रतिपादित समाजवाद एक काल्पनिक विचारधारा न होकर विधिवत् रूप से प्रतिपादित एक व्यावहारिक दर्शन है। इसमें उन परिस्थितियों का विस्तृत वर्णन है जिसके माध्यम से निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। यह मार्क्सवाद एक ऐसी वैकल्पिक विचारधारा है जो मानव समाज को इतिहास व भौतिकवाद के माध्यम से समझने का प्रयत्न करता है और इसी आधार पर नए समाज का निर्माण करना चाहता है। मार्क्स समाज को रूपान्तरित कर एक नये मानवोचित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के पक्षधर थे।

कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त।

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद।
2. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।
3. वर्ग -संघर्ष का सिद्धान्त।
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
5. क्रांति का सिद्धान्त और बल की भूमिका।
6. अलगाववाद का सिद्धान्त।
7. सर्वहारा का अधिनायकतंत्र या तानाशाही (समाजवाद)।
8. वर्गहीन समाज।
9. धर्म का विरोध।
10. राज्य विषयक सिद्धान्त।
11. लोकतंत्र विषयक सिद्धान्त।
12. साम्यवादी अर्थ व्यवस्था।
13. राष्ट्रवाद विषयक विचार धारा।
14. नौकरशाही विषयक विचार धारा।
15. परिवार विषयक विचार धारा।
16. विवाह विषयक विचार धारा।
17. आदर्श साम्यवादी समाज विषयक विषयक विचार धारा।
18. अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय सिद्धान्त।

समाजवाद के हर पक्ष के वैज्ञानिक व्याख्या मार्क्स ने की है। मार्क्स के समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद या साम्यवाद कहते हैं। इसके निम्न विशेषता हैं—

1. औद्योगिक क्रांति।
1. श्रमिक व पूंजीवर्ग में त्रिव संघर्ष।
2. हेगेल का द्वन्द्वात्मक विधि
3. भौतिक द्वन्द्वात्मक विधि
4. मानव इतिहास को भौतिक द्वन्द्ववाद के आधार पर पाँच वर्गों में विभाजित किया

आदिसमाज, दासत्व समाज, सामंतवाद, पूंजीवाद, और समाजवाद—

मार्क्सवाद मानता है कि हिंसक क्रांति द्वारा पूंजीपतियों और पूंजीवाद का समापन आवश्यक है और उसके उपरांत श्रमिक वर्ग का अधिनायक तंत्र स्थापित होगा। जिसका लक्ष्य धीरे-धीरे वर्ग और राज्य को समाप्त कर देना है। इसके लिए सर्वहारा वर्ग को निरंकुश होना आवश्यक है। जहाँ वर्ग शोषण का आधार बनता है वहीं राज्य भी शोषण का आधार बनता है अतः राज्य का अंत होना आवश्यक है। मार्क्सवाद आर्थिक दृष्टि से मूल्य निर्धारण के पूंजीवादी व्यवस्था को नकारता है। मार्क्सवाद के अनुसार किसी वस्तु के उत्पादन में लगाए गए श्रम के मात्रा द्वारा मूल्य निर्धारण होता है। मार्क्स ने इसे मूल्य का श्रम सिद्धांत कहा है।

पूंजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों को कम से कम मूल्य दिया जाता है और उनके उत्पादित वस्तुओं को अधिकतम मूल्य में बेचा जाता है। वस्तु के श्रमिक मूल्य और बजार मूल्य में अत्यधिक अंतर होता है यह लाभ वस्तुतः श्रमिकों और पूंजीपतियों में समुचित मात्रा में बटना चाहिए। लेकिन पूंजीपती अपने पूंजी के बल पर इस बड़े लाभ का छोटा हिस्सा वेतन के रूप में श्रमिक को दे देता है। शेष अधिकांश पैसा जिसे मार्क्स आधिक्य (Surplus) कहता है, पूंजीवादी स्वयं हड़प लेता है और यही से शोषण शुरू होता है। मार्क्सवाद वस्तुतः अतिरिक्त मूल्य/आधिक्य (Surplus) को पूर्णतः समाप्त करने की अवधारणा है। अंततः वर्ग संघर्ष में पूंजीवाद के विनाश द्वारा सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तंत्र की स्थापना वाला समाजवाद/साम्यवाद स्थापित होगा।

मार्क्सवाद के दोष

1. मार्क्सवाद में केवल यांत्रिक कारकों को मान्यता दी गई है जबकी अध्यात्मिक कारकों की उपेक्षा की गई है, जो अनुचित है।
2. मार्क्सवाद मनुष्य को आर्थिक प्राणि मानता है वह यह भूल जाता है कि ईश्वर और धर्म मानव की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।
3. मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष को अनिर्वाय मानता है जबकी वर्ग सहकारिता की अवधारणा की उपेक्षा करता है।
4. मार्क्सवाद का साध्य पवित्र है लेकिन साधन की पवित्रता में विश्वास नहीं करता है। गाँधीवाद के अनुसार अपवित्र साधन द्वारा साध्य भी अपवित्र हो जाएगा।
5. लास्की के अनुसार मार्क्सवाद में भौतिक और आर्थिक अतिवाद, बौद्धिक भूल, नैतिक व अध्यात्मिक अंधापन, समाजिक पतन का दोष पाया जाता है।

मार्क्सवाद का महत्व—

मानव के श्रम के महत्ता, आर्थिक समानता, हर प्रकार के शोषणविहीनता और परिकल्पना के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टि का अपना मार्क्सवाद के महत्त्व को परिलक्षित करता है—

1. मार्क्स एक गहन मानवतावादी है।

2. मार्क्सवाद ने पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के अंतर सम्बंध को स्पष्ट किया।
3. मार्क्सवाद ने बताया पूंजीवाद में संकट का दौर आता है
4. मार्क्सवाद के दावा में पूंजीवादी सरकारों ने मजदूरों के हितों के रक्षा के लिए कानून और अन्य उपाय अपनाए
5. मार्क्सवाद के दावा में उदारवाद ने कल्याणकारी राज्यव्यवस्थाका अपनाया।

मार्क्सवाद की प्रसंगिकता—

1. सोवियत संघ का पतन मार्क्सवाद के पतन का घोटका नहीं है बल्कि इसके पुर्ननिर्माण दिखाती है।
2. आज के युग में मार्क्सवाद मानपरक मूल्यों के स्रोत के रूप में प्रसंगिक बना हुआ है।
3. आज के युग में मार्क्सवाद को नव समाजिक आंदोलन के पीछे की प्रमुख प्रेरक शक्ति माना जाता है।
4. आज के युग में मार्क्सवाद बाजारवाद विरोधी आंदोलन की प्रमुख प्रेरक शक्ति है।
5. आज के युग में मार्क्सवाद लोकतंत्र को एक विस्तृत आयाम देने कारण भी प्रसंगिक है।

प्रमुख मार्क्सवादी विचारक :

1. लेनिन का मार्क्सवाद : लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त को रूसी समाज के अनुकूल बनाने के लिए मार्क्सवाद की नई व्याख्या दी। लेनिन ने क्रांति के आधार के रूप में सैनिक किसान और मजदूरों को पूंजीपतियों के विरोध संगठित किया। लेनिन ने क्रांति का नेतृत्व कर्ता विशिष्ट क्रांतिकारी संगठन (रूस की समाजवादी पार्टी) को बनाया। लेनिन ने बुर्जुआ मतवाद और समाजिक मतवाद विचारधारा का उपयोग किया। अंततः औपनेवेशिक राष्ट्रजन के क्रांति के द्वारा पूंजीवादी शोषण चक्र की समाप्ति हुई।

2. माओ का मार्क्सवाद : माओ ने मार्क्सवाद को चीनी समाज के अनुरूप बनाया। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाना सच्चे अर्थों में समाजवाद के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए राजनीतिक और वैचारिक मोर्चों पर भी समाजवादी क्रांति जरूरी होगी और उसमें लम्बा समय लगेगा। इसका अर्थ है कि सर्वहारा का अधिनायक तंत्र अनिश्चित काल तक बना रहेगा और तब तक सर्वहारा की अग्रपंक्ति के रूप में साम्यवादी दल को भी बने रहना है। माओ का मार्क्सवाद मूलतः उत्पादन प्रक्रिया का समूहीकरण तथा निजी सम्पत्ति का उन्मूलन था।

3. फ्रैंकफर्ट स्कूल के विचारक का मार्क्सवाद : ये विचारक मानव के स्वतंत्रता के लिए न केवल पूंजीवादी व्यवस्था के अंत नहीं चाहते बल्कि ये तकनिक तंत्र को भी श्रम प्रक्रिया के अमानवीकरण का स्रोत मानकर उससे मुक्ति की मांग करते हैं।

निष्कर्ष : कोई भी विचारधारा या दर्शन काफी व्यापक होता है और उसमें व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही पक्ष शामिल होते हैं। व्यावहारिक पक्ष की असफलता को पूरा विचारधारा की असफलता नहीं मानी जा सकती है। अतः सोवियत संघ के पतन को मार्क्सवाद का पतन नहीं समझा जाना चाहिए मार्क्स ने एक एसी दुनिया के निर्माण का स्वप्न देखा जो स्वतंत्रता, समानता, शोषणविहीनता पर आधारित हो। मार्क्स का वह सपना पूरा नहीं हो पाया लेकिन इससे उस स्वप्न की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता।

Spatial Territorial System Diffusion of Marwarh and Ujjainian Rajput clan Settlements in Bhojpur Plan

Dr. Birendra Kumar

Former Research Scholar,P.G. Deptt. of Geography,Magadh Univ., Bodhgaya

MARWARH RAJPUT

The morphological structure of the diffusion of Marwarh Rajput clan settlements is similar to that of Bylund's 'C' model where the power of model has increased (e.g. frequency of settlements founded during a period) with decreasing distance from the parent settlement as depicted in the generalised model. The model also shows that during the first stage of settlement formation long distance dispersal was the rule, while during the second and third stages the rate of dispersal was relatively high in spite of the marked decrease in the distance. The results could be further correlated with dimensional indices which show that in spite of the decrease in the velocity of settlement waves during the second stage the indices of population energy and viscosity of the landscape marked significant growth. In the third stage there is positive correlation among dimensional indices. The most significant feature of the present case is the high growth of population energy during the third stage.

The name Marwarh is derived from their original seat of habitation i.e. Marwar in Rajasthan. The Marwarh Rajputs migrated to the study area during the 16th century A.D. from that region. They first of all established their agglomeration at two parent villages i.e. Dahrak and Dewahalia. Later on during the first stage (before 1600 A.D.) five villages were grown at the mean distance of 5.3 Kms from parent settlements e.g. Labedha, Bajnath, Baraura, Gorasara and Baghini. During the second stage nine villages i.e. Sara, Taraiya, Nouar, Isari, Akrohi, Kulhariya, Haruathpur, Dasoti and Panapur were founded at the mean distance of 3.5 Kms from the orientation node. In the last phase of spatial diffusion twenty village came into existence at the distance of 2.5 Kms from the initial agglomeration.

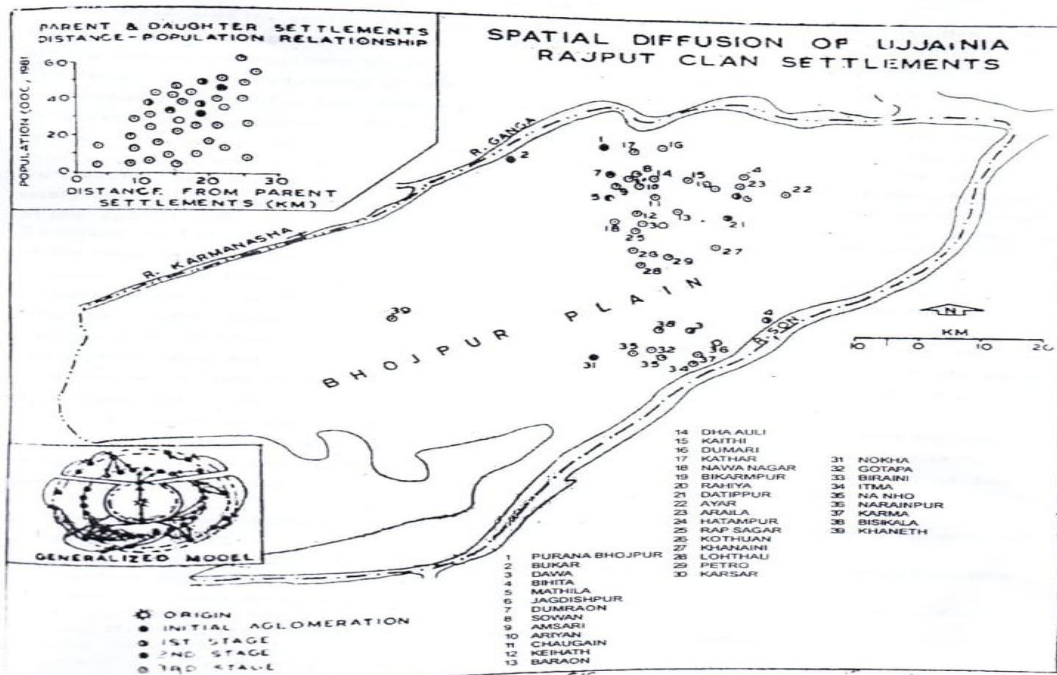
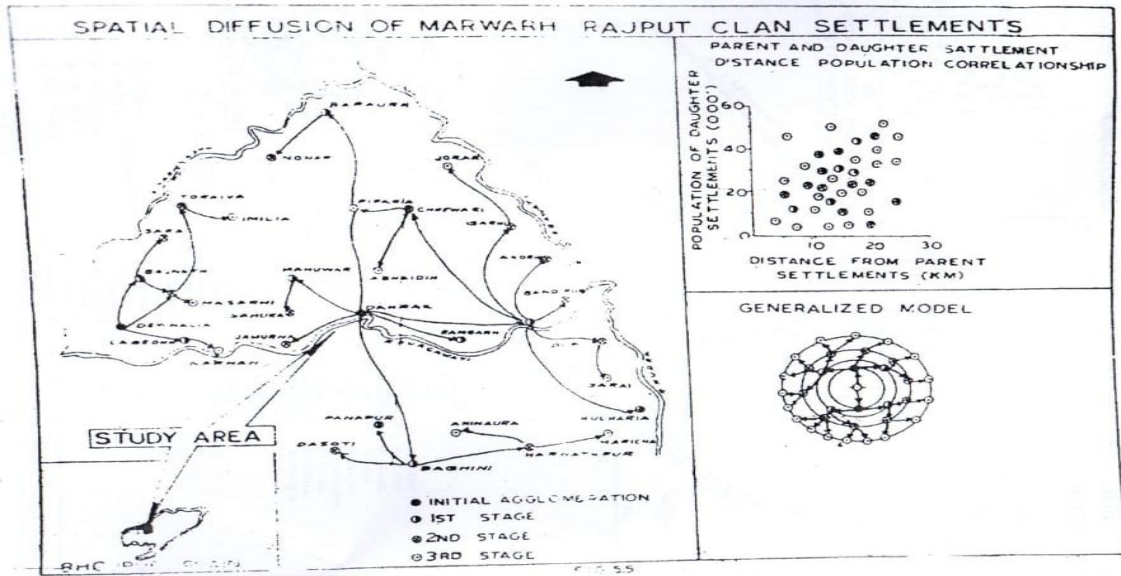
The distance population relationship between parent and daughter settlements signifies the fact that most of the villages are around the median correlation. It means that there is strong positive correlation between population and distance in general. It also shows the successive development of frequency of settlement in relation to distance which could be correlated with dimensional indices.

It is thus generalised from the above mentioned studies that the power of model has increased over time as the number of points have increased in context with distance and period of the time. Specifically it is found that parent or initial settlements are distributed randomly over the area and the secondary points i.e. destination nodes assigned to the nuclei independently of each others, comparable to the Olson's hypothesis that "as the time passes the tendency towards randomness is replaced by a tendency first towards clustering and then with the advent of competition towards evenness."¹ It is generally found that in different phases of spatial diffusion, the roles of different phenomena may be structurally similar in several respects. This sort of structural congruencies are called isomorphism², the analysis, identification and measurement of isomorphism will provide a methodology for the synthetic and relevant approach to the social problems faced by the villages. In the above context it is hypothesized that (i) The choice of settlers depends upon the perception of distance to possible destination and (ii) These perceptual distances reflect the attractiveness of each possible destination in terms of the expected problems of assimilation there.

UJJAINIA RAJPUT

The spatial diffusion of Ujjainia Rajput clan settlements shows an exceptional and typical case of territory formation. It presents two steps growth like Bylund's model where the first phase is characterised by long distance immigration from outside the area while the second is characterised by successively in fitting process which has become operative in second and third stages. This case is comparable to Olson's first hypothesis that "settlement density decreases with increasing distance from original settled area."³ In this system territorial organisation of Ujjainia Rajput clan settlements became more complex told in generalised model. This could be further development and advanced with the following assumption (i) The area is well protected to sizable extent and density inhabited; (ii) There is a physical homogeneity in the sense of movement and productivity of the land, and (iii) The settlers are more conscious to make their territory larger, so they will establish first settlement at long distance.

The spatial diffusion of this clan settlement may be correlated with three gradients of human territoriality i.e. (i) A sense of spatial identity (ii) A sense of exclusiveness and (iii) compartmentalization of channelizing the human interaction in space⁴ which has emerged internally through the development of cohesive corporate groups with some autonomous control over the organisations of space."⁵



As regards the spatial diffusion of Ujjainia Rajput clan settlement Bhojdee. I was the first man who migrated to Karus Pradesh from Lalwa in M.P. in 1005 A.D. and drove out the Cherous from northern Karus Prades. He established his capital at Purana Bhojpur and Buxar. In the beginning of the 14th century Bhoj Raj it came to this region and established his capital at Naya Bhojpur. Likewise the second batch of Ujjainia Rajput from Malwa com to this region in the first half of 15th century and established his capital of Nokha Pahalwan Singh was the chief of this batch. These are the parent settlement of Ujjainia Rajput which show the phase of initial agglomeration. After the death of Durlabhdeo, his sons belonging to the first batch of Ujjainia Rajputs, established separately their capital at Bihte near Piro, Mathila and Jagdishpur. This shows the first stage of the spatial diffusion, Mathila family under the leadership of Horil Shah shifted to Dumaraon in 1747 and there were 27 villages of this branch which were established at the mean distance of 5.00 kms. Sowan, Amsari, Keshath, Chaugain, Braon, Ariyaon, Dharauli, Kolthi, Dumri, Kathar, Rahiyan, Nawa Nagar and Brahampur etc. are the main villages. Likewise Jagdishpur family was subsequently divided into two branches and the younger brother of Babu Vir Kunwar Singh shifted to Dilippur, From Dilippur, three villages e.g. Bhadwar, Bikrampur and Araila came into existence, Similarly, Villages like Kothuan, Khanani, Karum, Himha, Biraini, Nanho, Gojapa, and Dharakava etc. came in to existence from Nokha family. These settlement show the phase of second and third stage with a mean distance of 10.00 kms. and 13.00 kms respectively.

Its result denote that the terrain around the parent settlement is more suitable for settlement expansion. There is reverse correlation between settlement frequency and increasing distance from the original settlement. Further, positive correlation is found between population and distance among the parent and daughter settlement.

References:

1. Olson, G. "Complementary Models: A study of colonization Map" *Geografiska Annaler (B)*, 1968, p. 124.
2. Brown, L.A. *Diffusion Process and Location* Philadelphia, Regional Science Research Institute Bibliography Series No. 4, 1968, pp. 6-8.
3. Olson, G. "Complementary Modela : A Study of Colonization Map", *Geografiska Annaler* 1968, p. 123.
4. Sija, S.E. "The Political Organisation of Space", Washington, 1971, pp. 32-35.

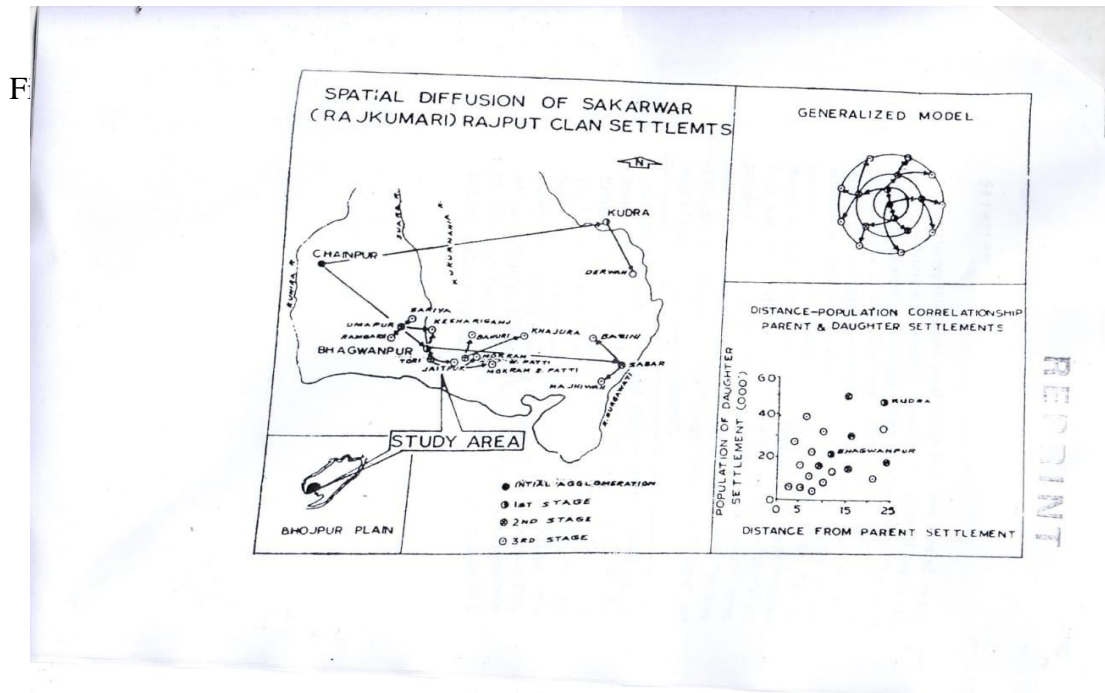
Spatial Territorial System Diffusion of Sakarwar (Raj Kumari) Rajput Clan settlements in Bhojpur Plan

Dr. Archana Singh

Former Research Scholar, P.G. Deptt. of Geography, Magadh Univ., Bodhgaya

The spatial diffusion of Sakarwar Rajput clan settlements presents a general pattern where the power of model increased in relation to increasing distance from parent settlements, which is comparable to Bylund 'B' model showing that new "settlement spread concentrically and radially from settlement established i.e. like waves a stone plunged in to the water" as in the case of Inner North Sweden also. The Sakarwar Rajputs first of all, were supposed to be migrated from Fatehpur 'Sikri'. in UP. Therefore, the term Sakarwar derives its name from 'Sikri' Raja Shallwahan the first king of Sakarwar Rajput clan families established his first kingdom at Chainpur, a paragona headquarters. The territorial system of this clan was closely related with the spread of settlements. Parent settlement of Chainpur become the stronghold of the cultural and political dominance. It remained the only settlement of the lineage for some time. Later on, when the village population outgrew the production capacity of the available agricultural lands, the scions of Chainpur families founded separate two settlements one at Bhagwanpur and second at Kudra. The Rajputs established at Bhagwanpur and Jaitpur are called Raj kumri Rajputs, whereas Rajputs established at Kudra was known as Sakarwar Rajputs. Thus, the two villages named Bhagwanpur and Kudra were founded during the first stage. During the second stage of diffusion, three villages named Jaipur, Mokaram and Umapur were established at the mean distance of 2.5 Km at the foot hill of the Kaimur plateau. Likewise Kudra families were diffused into two villages i.e. Derwan and Sabar situated along the bank of the Durgawati river. During third stage a large number of villages e.g. Ramgarh, Bahuri, Khajura, Basini and Kashariganj etc. were established at

the mean distance of 2.00 Kms. Similarly, a large number of villages i .e. Kadam, Deorah and plan etc. were founded at the mean distance of 5.00 Kms from Kudra.



During this period, most of the land was cleared and the entire territory was occupied. It marks the phase of condensation when a large number of villages were established by this clan in various parts of their clan areas. These village represents an out growth from the parent settlement and the major clan settlements established during the previous phase. Thus following the universal process of spatial diffusion, lineage territory of the Sakarwar Rajput become dotted over with village all springing originally from one Parent village¹ and obtained the socio-cultural and political character of Red fields "little tradition" Opler's "extensions" of the village Cohu's "little kingdom" Dube's "Network of Neighboring villages" Karva's "Large system of Villages" and Swith's "Interlocking mess of villages."

Reference:

1. Redfield, R Peasant Society and Culture, University of Chicago Press, Chicago, 1956, P. 70; see also Opler's M.E. "The Extension of Indian Villages" Journal of Asian Studies 16, 1956, pp. 5-10; Cohn B.S. "Some notes On Law and change in North India". Economic Dent and Cultural Change. 8, 1959 pp. 79-80 Dubey S. C., India's Changing Villages, Cornell University Press, Ithaca, 1958, p. 28, Karve, I "Some Aspect of The Organisation Of The Caste System Of The Hindus". Changing India (ed.). London, 1961, pp 143-66.

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय पंचायती राज व्यवस्था का संक्षिप्त अवलोकन

डॉ० मधुकर आनन्द

नेट (पी०एच०डी०) इतिहास विभाग
बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर

आज सर्वत्र यह भ्रामक अवधारणा व्याप्त है कि पंचायत एवं प्रजातंत्र पाश्चात्य भूमि की अर्वाचीन आविष्कार है, जिसका प्रसार 1947 ई० में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ही भारतीय धरातल पर हुआ। किन्तु यह मूलतः असत्य है।

वस्तुतः पंचायत प्रजातंत्र का प्राचीनतम स्वरूप है जिसका प्रादुर्भाव भारतीय धरा पर हुआ है। वैदिक आर्यकाल से ही ग्रामीण शासन को प्राथमिक इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। पुरातत्व-वेत्ताओं द्वारा कि गयी खोज के फलस्वरूप उपलब्ध पुराने ताम्र पत्रों इत्यादि के अध्ययन से भी यह स्पष्ट होता है कि भारत में पंचायतों का इतिहास शताब्दियों पुराना है। ये पंचायते अति प्राचीन काल से हिन्दु, मुस्लिम और पेशवा सरकारों के काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आने तक विभिन्न रूपों में फलती-फूलती रही है।

भारत में पंचायती राज व्यवस्था का अस्तित्व उस समय से माना जा सकता है जब से चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र की उत्पत्ति हुई। पंचायती राज का शाब्दिक अर्थ है—पाँच जन प्रतिनिधियों के समूह का शासन। ये पाँच प्रतिनिधि हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र और ईश्वर। सभी चार वर्णों के लोग ईश्वर को साक्षी मानकर राज चलाने के लिए जो सामुहिक निर्णय लेते थे, उसी के अनुसार शासन होता था। इसी को पंचायती राज नाम दिया गया। भारत में पंचायती राज व्यवस्था की सुदृढ़ स्थिति का वर्णन कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक दास कैपिटल में भी किया है। कार्ल मार्क्स ने लिखा है—“प्राचीन काल से चले आ रहे ये छोटे-छोटे ग्राम समुदाय धार्मिक ढंग से संयुक्त स्वामित्व तथा किसान और मजदूर के श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित है। ये ग्राम समुदाय अपने आप में परिपूर्ण तथा आत्म निर्भर हैं। ऐशियाई समाज में जो सुदृढ़ता, संगठन तथा स्थायित्व पाया जाता है, उसका मुख्य श्रेय इन स्वावलम्बी ग्राम समुदायों को ही है। वहाँ के राज्य टूटते रहते हैं, राजशी खानदान बनते बिगड़ते और मिटते रहते हैं, परन्तु वहाँ के ग्राम समुदायों पर इन तूफानों, आँधियों, क्रांतियों तथा परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपनी सनातन गति से चलते रहते हैं।” इस प्रकार अगर कार्ल मार्क्स की माने तो एशिया और विशेषकर भारत में पंचायती राज व्यवस्थाओं पर राज सत्ता परिवर्तन का भी कोई

प्रभाव नहीं पड़ता था। यह व्यवस्था ग्रास रूट लेवल पर बहुत ही मजबूत और स्थायी थी।

वैदिक काल में पंचायती राज व्यवस्था : – वैदिक काल में पंचायती राज व्यवस्था इतनी सुदृढ़ थी कि पंचायत के सामने राजा को भी जाने में डर लगता था कि कहीं उसे पदच्युत न कर दिया जाए। इस काल में गाँव का शासन चलाने के लिए एक 'सभा' होती थी। जिसमें गाँव का प्रत्येक नागरिक भाग लेता था। इस सभा की बैठक गाँव के चौपाल पर होती थी, जिसकी अध्यक्षता गाँव का मुखिया करता था। वैदिक काल में 'ग्रामसभा' अलग-अलग ग्रामों में संगठित हो गईं किन्तु एक ग्राम सभा का दूसरी ग्राम सभा के साथ कोई संबंध नहीं था जिससे जन शक्ति छोटी और बिखरी हुई थी। इन्हें एक ही शासन प्रबंध के अन्तर्गत आबद्ध करने के लिए समिति के संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। समिति का कार्य क्षेत्र विस्तृत हो गया। समिति का संगठन ग्राम सभाओं के प्रतिनिधियों के द्वारा किया गया। इसका कार्य इसकी क्षेत्रीय सीमा के अन्तर्गत स्थित सभी ग्राम सभाओं का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण करना था तथा अनेक ग्रामों से संबंधित विषयों की व्यवस्था करना था। समिति का स्वरूप विस्तृत था। इसके द्वारा निर्मित विचारों का कार्यान्वयन करने के लिए एक छोटी सी कार्यकारिणी समिति या 'आमंत्रण' समिति के संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। आमंत्रण समिति के सदस्यों का निर्वाचन संपूर्ण समिति के सदस्यों के द्वारा किया जाता था। साथ ही एक अध्यक्ष का भी चुनाव समिति द्वारा किया जाता था, जो राष्ट्राध्यक्ष कहलाता था। यहाँ तक 'राजा' शब्द का जन्म नहीं हुआ था।

रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों से स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में पंचायतों की महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। इस काल में राष्ट्रीय जीवन इन विभिन्न स्वायत्त शासनों में अपने आप को अभिव्यक्त करता है। इस काल में स्वायत्त शासनों के माध्यम से वैदिक परंपराये तथा सामुदायिक संस्थाये काफी आगे बढ़ी। उत्तर वैदिक काल में ग्राम के प्रमुख को ग्रामिणी अथवा महत्तर के नाम से जाना जाता था।

उत्तर वैदिक काल के बाद बौद्ध काल में भी पंचायते ग्राम संगठन का एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण अंग थी। इस काल में पंचायतों के बारे में जातक कथाओं से पता चलता है। ग्राम सभा के कार्यों में न्याय करना, गाँव की आंतरिक सुरक्षा, सरकारी मकान, घाट, मन्दिर, तालाब, कुएँ बनवाना, कर वसूल करना तथा शिक्षा की व्यवस्था आदी करना शामिल था। ग्राम के शासक को भोजक कहा जाता था तथा ग्राम सभा की बैठक में गाँव के हर परिवार के सबसे बड़े वृद्ध भाग लिया करते थे।

मौर्य काल एवं गुप्त काल में पंचायती राज : – मौर्य काल में पंचायती की स्थानीय शासन एवं न्याय व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। स्थानीय विवादों का निर्णय ग्राम वृद्धों एवं सामंतों द्वारा किया जाता था। यदि ग्राम वृद्ध या सामंत किसी भी विवादास्पद विषय पर निर्णय लेने में मतभेद रखते थे तो उस स्थान की जनता की अनुमति से वहाँ के धार्मिक पुरुष उस विषय पर निर्णय लेते थे अथवा मध्यस्थ को नियत करवाकर उससे निर्णय करवाया जाता था जो सभी को मान्य

होता था।

गुप्त काल में हॉलाकि राजसाही का शासन था, फिर भी शासन का विकेन्द्रीकरण विभिन्न स्तरों पर किया गया था। ग्रामीण मामलों के प्रबंधन के लिए एक पद सोपानिक पंचायती व्यवस्था भी विद्यमान थी। गुप्त काल के बाद हूण, शक, मैत्रिक इत्यादी वंशों का शासन रहा। इन शासकों ने प्रशासनिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। हर्षवर्द्धन के शासन काल में ग्राम के मुखिया का चुनाव होता था। ग्राम की प्रशासनिक गतिविधियाँ तथा आपराधिक स्थितियों के निराकरण के लिए 'अष्टकुल अधिकरण' नामक समिति होती थी। ग्राम का प्रभारी अधिकारी ग्राम अक्षपटलक कहलाता था।

भारत में व्यवस्थित तरीके से सर्वप्रथम पंचायती राज प्रणाली को लागू करने का श्रेय चोल शासकों को जाता है। चोल अभिलेखों में स्थानीय स्वशासन की मौलिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रशासनिक व्यवस्था को कई स्तरों में बाँटा गया था। हर स्तर पर स्वशासन की संस्थाये थी। गाँव की संस्था को कोट्टम, प्रांत की संस्था को मंडल, प्रदेश की सभा को नगस्तार तथा जिले (नाडू) में कार्यरत संस्था नट्टार कहलाती थी।

मुगल काल में पंचायती राज : – मुस्लिम शासकों ने पहले से चली आ रही स्थायी स्वशासन की इकाईयों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मुगल साम्राज्य अनेक सरकारों तथा जिलों में बाँटा हुआ था। छोटी शासन इकाई परगना कहलाती थी। परगने कई गाँवों में विभक्त थे। गाँव को अपने मामलों में काफी स्वायत्तता मिली हुई थी। अकबर के शासन काल में पंचायती राज संस्थाओं को नैतिक एवं प्रशासनिक सहयोग भी प्राप्त था। हॉलाकि मुगल काल में स्थानीय स्तर पर कई के न्यायाधिक अधिकारी, जैसे— काजी, मीर, आदिल आदी हुआ करते थे, फिर भी ग्राम पंचायतों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। मुगल काल के समकालीन दक्षिण भारत में मराठा शासन व्यवस्था में भी ग्राम पंचायतों को काफी महत्त्व प्राप्त था।

ब्रिटिश राज में पंचायती राज व्यवस्था : – शासन काल के शुरुआती दिनों में पंचायती राज व्यवस्था को कमजोर करने का प्रयास किया गया क्योंकि अंग्रेजों का उद्देश्य शोषण करना था। इसके लिए उन्होंने सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति करना शुरू कर दिया और पंचायतों के अधिकार इन्हीं कर्मचारियों को दिये जाने लगे। लॉर्ड कर्जन के शासन काल में पंचायती राज संस्थाओं पर सरकारी कर्मचारियों का पूर्णतः वर्चस्व स्थापित हो गया।

भारत में पंचायती राज संस्थाओं के अधिकार छीनने का कार्य 1773 ई० में वारेन हेस्टिंग्स के शासन काल में, रेग्युलेटिंग एक्ट के पास होने के बाद शुरू हुआ। गाँव में मालगुजारी वसूलने के लिए जमींदार नियुक्त किये गये। जिनका पंचायतों से कोई लेना देना नहीं होता था, बल्कि वे सरकार के प्रति जवाबदेह होते थे। इसके अलावा दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों की स्थापना के बाद तो पंचायतों का कार्यक्षेत्र और भी सिमट गया। लेकिन 1857 ई० में सरकारी स्वायत्तशासी निकायों का महत्त्व सरकार की समझ में आया और कुछ राज्यों में कोषों

की स्थापना की गयी तथा ग्रामीण प्रशासन को भू-राजस्व, शिक्षा एवं पथकर लगाने का अधिकार दिये गए। 1882 ई० में लॉर्ड रिपन ने ग्रामीण क्षेत्रों में बोर्ड अथवा मंडलों की स्थापना का सुझाव दिया। इसके बाद 1884 ई० में चेन्नई एवं बंगाल में यूनियन पंचायतों का गठन किया गया।

1907 ई० में अंग्रेजों ने शासन सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिए शाही आयोग का गठन किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पंचायतों के गठन का सुझाव दिया। 1915 ई० की शासकीय रिपोर्ट में भी पंचायतों को निश्चित कर लगाने की अनुमति देने की सिफारिश की गयी। 1919 ई० में मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड सुझावों के कारण भारत सरकार अधिनियम के पास होने के बाद पंचायतों की ओर कुछ और ध्यान दिया गया। भारत सरकार अधिनियम 1919 में पंचायतों को केन्द्रीय सरकार के विषय के निकालकर प्रान्तीय सरकारों के विषय में शामिल कर दिया गया। इसके बाद 1920 ई० में मद्रास प्रान्त में पंचायत कानून बना। इसके अंतर्गत स्थानीय संस्थाओं तथा पंचायतों को कई तरह के अधिकार प्रदान किए गये लेकिन 1930 ई० में पंचायतों के अधिकारों में पुनः कटौती की जाने लगी। हालांकि 1935 ई० के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट में जनता के शासन की कई माँगे मान ली गयी थी। परन्तु पंचायतों की दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ। 1942 ई० के विद्रोही दौर में सारे अधिकार व्यवहार्यतः विभागीय अधिकारियों को सौंप दिये गये। उसके बाद 1941 ई० में पंचायतों के लिए अलग से विधान बनाने का एक दस्तावेज तैयार किया गया। इसी दस्तावेज के आधार पर 1946 ई० में ग्राम पंचायत अधिनियम बनाया गया।

अंग्रेजों के शासन काल में विभिन्न प्रांतों के लिए समय-समय पर ग्राम पंचायत संबंधी जो अधिनियम पारित किये गये वे इस प्रकार हैं— बंगाल में स्थानीय सरकार अधिनियम 1919, मद्रास में स्थानीय सरकार अधिनियम 1920, बंबई ग्राम पंचायत अधिनियम 1920, उत्तर प्रदेश पंचायत अधिनियम 1920, बिहार सरकार अधिनियम 1920, सेन्ट्रल प्रोविन्स पंचायत अधिनियम 1920, पंजाब पंचायत अधिनियम 1922, असम स्वसरकार अधिनियम 1925, मैसूर ग्राम पंचायत अधिनियम 1928।

स्वतंत्रता के बाद प्रगति : — भारत में प्राचीन काल से ही हम देखते हैं कि पंचायतें किसी न किसी रूप में विद्यमान थी तथा यहाँ के गाँव के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में पंचायतों की भूमिका हमेशा से ही महत्वपूर्ण रही है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद भारत के लिए जो नया संविधान बना, उसमें पंचायतों के लिए कोई प्रावधान नहीं था। जबकि राज्य व्यवस्था के संदर्भ में गाँधीजी ने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि निचले स्तर पर पंचायतों को रखना ही होगा। अन्यथा उच्च तथा मध्य का तंत्र लड़खड़ा कर गिर जाएगा। गाँधीजी का मानना था कि स्वराज का अर्थ कुछ लोगों के हाथों में नहीं बल्कि बहुमत के हाथों में शक्ति प्रदान करना होता है जिससे वह शासक को नियंत्रित कर सके। अर्थात् सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही भारत के तंत्र का समाधान है। अतः गाँवों को आत्म निर्भर व स्वावलम्बी बनाने के लिए गाँधी जी ने

पंचायतों को आधारशिला माना तथा पंचायतों की वैचारिक अवधारणा के रूप में 'ग्राम गणतंत्र' पर बल दिया।

पंचायत पर गाँधी जी के विचार का संविधान निर्माण के क्रम में संविधान सभा में विशद चर्चा हुई थी और पंचायतों की सार्थकता को व्यापक समर्थन मिला था। इसके बाद संविधान सभा के सदस्य के० संथानम ने पंचायतों के प्रावधान हेतु एक संशोधन प्रस्तुत किया जिसके आधार पर भारतीय संविधान के राज्य नीति निदेशक तत्व के अनुच्छेद 40 में पंचायतों के संबंध में एक संक्षिप्त उल्लेख को शामिल किया गया। उल्लेखनीय है कि राज्य के निति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकारों पर कोई संवैधानिक बाधकता नहीं है। पंचायतों के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 40 में जिस संक्षिप्त प्रावधान का उल्लेख है उसके अनुसार राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन इकाईयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो। इसी आधार पर आगे के वर्षों में बलवंत राय मेहता समिति, अशोक मेहता समिति इत्यादी का गठन किया गया तथा 64 वाँ संविधान संसोधन विधेयक 1989 एवं 73 वाँ संविधान संसोधन विधेयक 1992 के आधार पर लोकतांत्रिक ढाँचे में एक नए युग का सूत्रपात करते हुए पंचायती राज की त्रिस्तरीय प्रणाली लागू की गयी और ग्राम, प्रखंड एवं जिला स्तर पर इनका गठन कर इन्हें विशेषाधिकार दिया गया।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पंचायती राज व्यवस्था जिसकी वैचारिक अवधारणा 'स्वशासन' तथा आधार शासन व्यवस्था में आम आदमी की भागीदारी होती है, का प्रादुर्भाव इसी भारतीय धरा पर हुई थी तथा यह हमारे प्राचीनम सभ्यता संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। विभिन्न काल तंत्रों में इसके स्वरूप में क्रमिक विकास होता रहा है तथा अपने वर्तमान आधस्वरूप में भी यह भारत के प्रजातंत्रीय पौधे के मजबूत जड़ के रूप में विद्यमान है।

संदर्भ सूची :

1. अथर्ववेद, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली
2. महीपाल, पंचायती राज : अतीत, वर्तमान और भविष्य, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996
3. के० सी० श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति
4. इम्तियाज अहमद, मध्यकालीन भारत : एक सर्वेक्षण, पटना विश्वविद्यालय
5. शर्मा, हरिश्चंद्र, भारत में स्थानीय शासन का इतिहास, कॉलेज बुक डिपो, 1997
6. ग्रोवर, बी० एल० तथा यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास
7. कश्यप, सुभाष, हमारा संविधान : भारत का संविधान एवं संवैधानिक विधि
8. माहेश्वरी, श्रीराम, भारत में स्थानीय स्वशासन, नई दिल्ली, ओरिएन्ट लांग मैन
9. शर्मा, के० के०, भारत में पंचायती राज, विश्व भारती पब्लिकेशन्स, कॉलेज बुक डिपो, नई दिल्ली, 2012

प्रयाग कुम्भ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उसका शैक्षिक महत्त्व

पन्धारी लाल

शोध छात्र, शिक्षक शिक्षा संकाय, नेहरू ग्राम भारती मानित वि०वि० प्रयागराज

कुम्भयति अमृतनेन पूरयति सकल,
क्षुत् पिपासादि द्वन्द्वजातं निर्वतयति इति कुम्भः।

शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर कुम्भ अमृतमय जल से पूर्णकर क्षुत्पिपासादि द्वन्द्वों से निवृत्तप्रदान करता है।

प्राचीनकालीन मान्यताओं के अनुसार कुम्भ मेले की शुरुआतआदि गुरु शंकराचार्य ने की थी लेकिन कुछेक अन्य किंवदन्तियों के अनुसार कुम्भ मेले की शुरुआत समुद्र मंथन के आदिकाल से ही हो गई थी। जबकि कुछ प्रमाण यह बताते हैं कि कुंभ मेला 525 BC में ही शुरु हो गया था।

कुम्भ मेले के आयोजन के प्रावधान के समय के विषय में विद्वान् एकमत नहीं है। इसको लेकर उनमें अनेक भ्रांतियों हैं। वैदिक तथा पौराणिक काल में कुम्भ एवं अर्द्धकुम्भ स्नान में आज जैसी सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। कुछ विद्वान् गुप्त काल में ही कुम्भ मेले के सुव्यवस्थित होने की बात करते हैं। परन्तु प्रामाणिक तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि कुम्भ मेले का सुव्यवस्थित आयोजन सम्राट हर्षवर्धन (617–647) के समय से हुआ है। बाद में श्रीमद् आदि जगत गुरु शंकराचार्य तथा उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने दशनामी संन्यासी अखाड़े के लिए संगम तट पर स्नान की व्यवस्था की। तब से लेकर आज तक कुम्भ मेले की सुव्यवस्थित एवं सुदृढ़ व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है।

देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र मंथन के परिणाम स्वरूप निकले अमृत का कलश इन चार स्थानों क्रमशः हरिद्वार, इलाहाबाद, उज्जैन एवं नासिक के स्थानों पर ही गिरा था, इसीलिए इन चार स्थानों पर ही क्रमशः प्रत्येक तीन वर्ष बाद कुम्भ मेले का आयोजन होता आया है और प्रत्येक 12 वर्ष बाद यह मेला अपने पहले स्थान पर वापस आ जाता है।

प्रयाग में कुम्भ मेले का सुव्यवस्थित आयोजन सम्राट हर्षवर्धन के समय से हुआ है। इसका प्रमाण हर्षवर्धन के समय की महत्त्वपूर्ण घटना से दिया जा सकता है। ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की बात है प्रयाग में एक बहुत बड़े दान समारोह का आयोजन किया गया था। सम्पूर्ण भारत से लोग दान-दक्षिणा पाने के लिए एकत्र थे। राजा दान दक्षिणा की सभी वस्तुओं को यहाँ तक कि राजकोष की सम्पूर्ण सम्पत्ति और अपने शरीर के समस्त आभूषणों को जब दान दे चुका तो एक व्यक्ति ऐसा रह गया जिसे दान के लिए उसके पास कुछ शेष नहीं था। दानार्थी बोला-राजन्! आपके पास मुझे देने के लिए कुछ नहीं बचा है। मैं वापस जाता हूँ। राजा ने कहा ठहरो, अभी मेरे वस्त्र शेष हैं जिन्हें मैंने दान नहीं दिया है और पास खड़ी बहन से अपना तन ढकने के लिए दूसरा वस्त्र माँगकर उसने अपना उत्तरीय उतार कर उस याचक को दे

दिया। गद्गद् स्वर से जनसमूह ने हर्ष ध्वनि की राजा चिरंजीव हो, उनका यश अमर रहे आदि नारे लगाए। जन-जन को अपनी दानशीलता से मुग्ध करने वाला यह राजा और कोई नहीं बल्कि दानबीर हर्षवर्धन ही था।

ह्वेनसांग सम्राट हर्ष द्वारा माघ माह में आयोजित छठवें दान महोत्सव का आँखों देखावर्णन करता है। आगे ह्वेनसांग अपनी जीवनी में लिखता है कि सम्राट हर्ष के छठवें पंचवर्षीय दान महोत्सव के लिए प्रयाग में संगम के तट पर बाँस के डंडों से घेरकर एक वर्गाकार आहाता तैयार किया गया। इस अहाते के भीतर घास-फूस के बहुत से भवन निर्मित किये गये थे तथा सम्पूर्ण कोष भर दिया गया था। कोष में सोना, चाँदी, लालमणि, इन्द्रनील मोती, महानील आदि सम्मिलित थे। इसमें रेशमी और सूती वस्त्र, सोने-चाँदी के सिक्के भरे गये थे। अहाते के बाहरी तरफ भोजन की व्यवस्था थी। भण्डारागारों के सामने एक सौ से अधिक बड़े भवन थे जिसमें हजारों श्रद्धालु विश्राम करते थे। महोत्सव से पूर्व ही सम्राट समस्त देशों के श्रमणों, ब्राह्मणों, दीन-अनाथ और असहाय आदि जनों को दानोत्सव में भाग लेने के लिए राजकीय घोषणा ज्ञापित करके प्रयाग आने का आमंत्रण देता था। सम्राट हर्ष 18 देशों के राजाओं तथा ह्वेनसांग सहित जब प्रयाग पहुँचे तो उस समय वहाँ देश के लगभग पाँच लाख व्यक्ति जमा हो चुके थे। ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष 74 दिनों तक दान करते हुए सम्पूर्ण कोष जो पाँच वर्षों तक संग्रह किया था, दान कर देता था।

राशि तय करती है कि कुम्भ मेला किस स्थान पर लगेगा। वर्ष 2019 में कुंभ मेला प्रयाग इलाहाबाद में लग रहा है। इसका कारण भी राशियों की विशेष स्थिति है। प्रयाग में कुम्भ तब लगता है जब माघ अमावस्या के दिन सूर्य और चन्द्रमा मकर राशि में होते हैं और गुरु मेष राशि में होता है। यह संयोग 2019 में होने जा रहा है। 2019 के बाद प्रयाग में अब अगला महा कुम्भ मेला 2032 ई0 में होगा।

प्रयागमाहात्म्यशताध्यायी 51,53 के अनुसार जब शनि मेष राशि में हो, चन्द्र और वृहस्पति सिंह राशि पर हो तथा सूर्य श्रवणी नक्षत्र में हो तो यह योग महामाघी कहा जाता है—

**मेषराशौ यदा सौरिःसिंह चन्द्रवृहस्पती,
भास्करःश्रवणर्क्षे चेत् महामाघीति सा स्मृता।**

महामाघीप्रयाग में अतिप्रशस्त है—“ प्रयागेति प्रशस्तेयमखिलो भूमिमण्डलः।” इस पर्व पर प्रयाग में त्रिवेणी संगम या अन्य पवित्र नदियों तथा सरोवरों में प्रातः काल माघमास में स्नान करना समस्त पापों का नाशक है।

कुम्भ योग के विषय में विष्णु पुराण में उल्लिखित वर्णन के आधार पर जिसमें यह बताया गया है कि जब गुरु कुम्भ राशि में होता है और सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है तब हरिद्वार में कुम्भ लगता है।

सूर्य एवं गुरु जब दोनों ही सिंह राशि में होते हैं तब कुम्भ मेले का आयोजन गोदावरी नदी के तट पर नासिक (महाराष्ट्र) में होता है। नासिक जो गोदावरी तट पर स्थित है, भी गंगा से जुड़ा है। गोदावरी को 'मध्यवर्ती' गंगा के नाम से पुकारा जाता है। गौतम ऋषि गंगा को गोदावरी के नाम से यहाँ लाये थे, इसीलिये इसे गौतमी भी कहा जाता है। ब्रह्मपुराण (78/77)

में कहा गया है कि विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में गंगा को गौतमी एवं उत्तरमें भागीरथी नाम से जाना गया।

**विन्ध्यस्य दक्षिणे गंगा गौतमी सा निगद्यते,
उत्तरे साऽपि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ।**

स्कन्द पुराण के अनुसार जब गुरु कुम्भ राशि में प्रवेश करता है तब उज्जैन में क्षिप्रा नदी के तट पर कुम्भ मेला लगता है। पूरे भारत से लोग कुम्भ मेला देखने आते हैं। अत्यधिक संख्या में श्रद्धालु इस मेले में पुण्य लाभ के लिए आगमन करते हैं।

कुम्भ के आयोजन में सूर्य, चन्द्र, गुरु एवं शनि की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसलिए इन्हीं ग्रहों की विशेष स्थिति में कुम्भ का आयोजन होता है। समुद्र मंथन से जब अमृत कलश प्राप्त हुआ तब अमृत कलश को लेकर देवताओं और असुरों में खींचा तानी शुरू हो गयी। ऐसी स्थिति में अमृत कलश से छलक कर अमृत की बूँदे जहाँ-जहाँ पर गिरी वहाँ-वहाँ पर कुम्भ मेले का आयोजन किया गया।

अमृत की खींचा तानी के समय चन्द्रमा ने अमृत को बहने से बचाया। गुरु ने कलश को छिपा कर रखा। सूर्यदेव ने कलश को फूटने से बचाया और शनि ने इन्द्र के कोप से रक्षा की। इसीलिए जब इन ग्रहों का संयोग एक राशि में होता है तब कुम्भ का आयोजन होता है क्योंकि इन्हीं चार ग्रहों के सहयोग से ही अमृत की रक्षा हुई थी।

कुम्भ का मेला 12 वर्ष बाद नहीं बल्कि हर तीसरे वर्ष लगता है। गुरु एक राशि में लगभग एक वर्ष रहता है। इस तरह बारह राशि में भ्रमण करते हुए उसे 12 वर्ष का समय लगता है। इसीलिए हर बारह वर्ष बाद फिर उसी स्थान पर कुम्भ मेले का आयोजन होता है। लेकिन कुम्भ के लिए निर्धारित चार स्थानों में अलग-अलग स्थान पर हर तीसरे वर्ष कुम्भ का आयोजन होता है। कुम्भ के लिए निर्धारित चारो स्थानों में प्रयाग के कुम्भ का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक 144 वर्ष बाद यहाँ महाकुम्भ का आयोजन होता है।

महाकुम्भ की मान्यता के सम्बन्ध में शास्त्रों में बताया गया है कि पृथ्वी का एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है। इसलिए प्रत्येक बारह वर्ष पर एक स्थान पर पुनः कुम्भ का आयोजन होता है। देवताओं का 12 वर्ष पृथ्वी लोक के 144 वर्ष के बाद आता है। ऐसी मान्यता है कि 144 वर्ष के बाद स्वर्ग में भी कुम्भ का आयोजन होता है। इसलिए उस वर्ष पृथ्वी पर महाकुम्भ का आयोजन होता है। महाकुम्भ के लिए निर्धारित स्थान प्रयाग को ही माना गया है।

समुद्र मंथन की सुप्रसिद्ध कथा के अनुसार एक बार महर्षि दुर्वासा बैकुण्ठ से आ रहे थे। रास्ते में उन्होंने ऐरावत हाथी पर बैठे भगवान इन्द्र को कमल के फूल की माला भेंट की। लेकिन अहंकार में डूबे इन्द्र ने वह माला ऐरावत के सिर पर फेंक दिया। ऐरावत ने माला को पैरों से कुचल दिया। इससे दुर्वासा ऋषि क्रोधित हो गए और इन्द्र को श्रीहीन होने का शाप दिया। इस कारण इन्द्र ने स्वर्ग का राज्य खो दिया। राक्षसों ने स्वर्ग पर कब्जा कर लिया।

शाप के कारण खोये हुए स्वर्ग का राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए भगवान विष्णु ने इन्द्र को समुद्र मंथन करने और उससे निकलने वाले अमृत को देवताओं को पिलाने के लिए कहा। यह काम अकेले केवल देवता नहीं कर सकते थे, इसलिए इंद्र ने राक्षस राजा बलि को समुद्र मंथन करने के लिए राजी कर लिया।

समुद्र मंथन के लिए मंदराचल पर्वत को मथानी और नागराज वासुकी को रस्सी बनाया गया। भगवान विष्णु ने कच्छप अवतार लेकर मंदराचल पर्वत को अपनी पीठ पर उठाये रखा।

देवताओं और असुरों ने समुद्र मंथन किया तो समुद्र मंथन से 14 रत्न निकले—

1. विष
2. कामधेनु
3. उच्चैःश्रवा घोड़ा
4. ऐरावत हाथी
5. माँ लक्ष्मी
6. अप्सराएं
7. चन्द्रमा
8. वारुणी (मदिरा)
9. शंख
10. पारिजात वृक्ष
11. कौस्तुभ मणि
12. कल्पवृक्ष
13. धन्वन्तरि
14. अमृत

समुद्र मंथन में सबसे पहले भयानक विष निकला। विष निकलने से देवताओं और दानवों में अफरा-तफरी मच गई। इस विष को लेने के लिए न तो देवता तैयार हुए और न हीदानव। तब भगवान शिव ने इस विष को पी लिया और तभी से भगवान शिव का नाम नीलकण्ठ पड़ गया।

समुद्र मंथन से कामधेनु गाय निकली। यह एक चमत्कारी गाय थी जिसमें दैवीय शक्तियाँ थी और जिसके देखने मात्र से लोगों के दुःख दूर हो जाते थे। यह गाय जिसके पास होती थी, उसे किसी तरह की तकलीफ नहीं होती थी। इस गाय का दूध अमृत के समान माना जाता था।

समुद्र मंथन से उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा प्रकट हुआ। यह सफेद, चमकीला, मजबूत कद—काठी का दिव्य घोड़ा था। इसे दैत्यराज बलि ने ले लिया।

समुद्र मंथन से 4 दांतों वाला हाथी ऐरावतप्रकट हुआ, इसके दिव्य रूप के आगे कैलाश पर्वत भी फीका लगता था। ऐरावत के साथ और 64 सफेद हाथी समुद्र मंथन से निकले। ऐरावत को इन्द्र ने पाया। ऐरावत पैनी नजर और गहरी सोच का प्रतीक था।

समुद्र मंथन से माँ लक्ष्मी निकली, माँ लक्ष्मी के तेज और सौन्दर्य ने सभी को आकर्षित किया। माँ लक्ष्मी को मनाने के लिए सभी प्रयत्न करने लगे। माँ लक्ष्मी ऋषियों के पास गयी। ज्ञानी और तपस्वी होने के बावजूद वे क्रोधी भी थे। इसलिए माँ लक्ष्मी ने उन्हें नहीं चुना। इसी तरह देवताओं को महान् होने पर भी कामी होने, मारकण्डेय जी को चिरायु होने पर भी तप में लीन रहने, परशुराम जी को जितेन्द्रिय होने पर भी कठोर होने की वजह से नहीं चुना। अंत में माँ लक्ष्मी ने शान्त, सात्विक, सारी शक्तियों के स्वामी और कोमल हृदय वाले भगवान विष्णु को चुना।

समुद्र मंथन से कई सुन्दर अप्सरायें निकलीं जो किसी को भी मोहित करने में सक्षम थीं। ये अप्सरायें देवताओं को मिलीं। इन अप्सराओं में रंभा नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्द्र ने देवताओं से रंभा को अपनी राजसभा के लिए प्राप्त किया था। विश्वामित्र की घोर तपस्या से विचलित होकर इन्द्र ने रंभा को बुलाकर विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए भेजा था। अप्सरा को गंधर्वलोक का वासी माना जाता है। कुछ लोग इन्हें परी भी कहते हैं।

चन्द्रमा को जल का कारक ग्रह इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनकी उत्पत्ति समुद्र मंथन के दौरान जल से ही हुई थी। इनकी प्रार्थना पर भगवान शिव ने इन्हें अपने सिर पर स्थान दिया था। पौराणिक संदर्भों के अनुसार चन्द्रमा को तपस्वी अत्रि और अनुसूइया की सन्तान बताया गया है।

समुद्र मंथन के दौरान जिस मदिरा की उत्पत्ति हुई उसका नाम वारुणी रखा गया। वरुण का अर्थ है जल। जल से उत्पन्न होने के कारण उसे वारुणी कहा गया। वरुण नाम के एक देवता हैं जो असुरों की तरफ थे। असुरों ने वारुणी को लिया। कदंब के फलों से बनाई जाने वाली मदिरा को भी वारुणी कहते हैं।

समुद्र मंथन के दौरान रत्न के रूप में शंख की उत्पत्ति हुई। 14 रत्नों में से एक रत्न शंख को माना गया है। शंख को विजय, समृद्धि, सुख, शांति 'यश' कीर्ति और लक्ष्मी का प्रतीक माना गया है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह कि शंख नाद का प्रतीक है। यह शंख भगवान विष्णु को समर्पित कर दिया गया है। इसीलिए लक्ष्मी-विष्णु की पूजा में शंख को अनिवार्य रूप से बजाया जाता है।

समुद्र मंथन के दौरान कल्पवृक्ष के साथ-साथ पारिजात वृक्ष की भी उत्पत्ति हुई थी। पारिजात के पुष्प बहुत ही खूबसूरत होते हैं। कई रोगों के उपचार में इसके पत्तों एवं तनों का उपयोग किया जाता है। हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा में इस वृक्ष के पुष्पों का विशेष महत्त्व होता है। पारिजात या हरसिंगार उन प्रमुख वृक्षों में से एक है जिसके फूल ईश्वर की आराधना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धन की देवी लक्ष्मी को पारिजात के पुष्प विशेष प्रिय हैं।

कौस्तुभ मणि को भगवान विष्णु धारण करते हैं। कहते हैं कि भगवान कृष्ण ने गरुड़ के त्रास से कालिया नाग को मुक्त कराया था, तब कालिया नाग ने अपने शीश से उतारकर कान्हा को यह मणि दी थी। इस लिहाज से यह मणि धरती के किसी गुफा या समुद्र में समा गए द्वारका के हिस्से में होनी चाहिए।

कल्पवृक्ष को कल्पद्रुम या कल्पतरु भी कहते हैं। इसे प्राप्त करने के बाद देवराज इन्द्र ने इसे सुरकानन में स्थापित कर दिया था। विष्णुपुराण और स्कन्दपुराण में पारिजात को ही कल्पवृक्ष कहा गया है।

भगवान धन्वंतरि विष्णु के अंश और आयुर्वेद के जनक माने जाते हैं। अपने अवतरण के बाद इन्होंने ही लोक कल्याण के लिए आयुर्वेद बनाया और ऋषि-मुनियों एवं वैद्यों को इसका ज्ञान कराया।

समुद्र मंथन के अंत में अमृत का कलश निकला था। भगवान धन्वंतरि के हाथ में ही अमृत कलश था। देवताओं और असुरों के बीच अमृत बंटवारे को लेकर जब झगड़ा हो रहा था तोबाद में भगवान विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण कर अमृत को देवताओं में बांटा। राहु ने छल

से अमृत का पान कर लिया, क्रोधित होकर भगवान विष्णु ने अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। इसी राक्षस के शरीर के दो हिस्से राहु और केतु कहलाते हैं।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि प्रयाग कुंभ अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है। इस कुंभ मेले में विश्व के कोने-कोने से लोग आते हैं। यहाँ आकर मेले का आनंद उठाते हैं और पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं। इस मेले से हमें अनेक प्रकार की शिक्षायें मिलती हैं। इस मेले में आये अनेक अखाड़ों के साधुओं एवं सन्तों तथा अनेकानेक प्रकार के पन्थों के अनुयायियों एवं धर्मावलम्बियों से हमें विभिन्न प्रकार की तथ्यपरक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ हमें स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म एवं न्याय-अन्याय सम्बन्धी विविध जानकारियाँ प्रख्यात विद्वानों, अधिकारियों, शिक्षाविदों एवं पर्यावरणविदों के माध्यम से प्राप्त होती हैं। यहाँ पर विद्यार्थियों को विशेषकर शोध-छात्रों को इस प्रयाग कुम्भ की पावन धरती से बहुत कुछ तथ्यपरक एवं अत्यावश्यक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। शोधार्थी इन तथ्यपरक जानकारियों का उपयोग अपने शोध कार्यों में आवश्यकतानुसार करते हैं एवं निष्कर्ष निकालते हैं। यहीं निष्कर्ष निचली कक्षाओं के लिए प्रमाण एवं उच्च कक्षाओं के लिए आधार का कार्य करते हैं। यह प्रयाग कुम्भ हमें जीवन में अच्छे कार्य करने एवं सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। यह कुम्भ पर्व हमें यह भी सिखाता है कि हमें दूसरों की सहायता करनी चाहिए, दूसरों के लिए जीना चाहिए, सबके लिए अच्छा कार्य करना चाहिए और सबका सहयोग करना चाहिए। इस कुम्भ पर्व की समुद्र मंथन की घटना से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि जो व्यक्ति सद्मार्ग पर चलेगा, लोगों के लिए अच्छा कार्य करेगा, कल्याणकारी कार्य करेगा ईश्वर उसी की मदद करेगा और अन्तिम विजय उसी की होगी इसके विपरीत विनाशकारी कार्य करने वालों की पराजय होगी, उसका सर्वनाश हो जायेगा। जिस प्रकार समुद्र मंथन की घटना में अन्तिम विजय देवताओं की हुई और राक्षस पराजित हुए तथा उनका सर्वनाश हो गया।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1. स्कन्दपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 5/1(2)/42/43
2. ब्रह्मपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 78/77।
3. प्रयागमाहात्म्यशताध्यायी, संपादक श्री पं० देवनारायण शोकहा शास्त्री, श्री दुर्गा पुस्तक भण्डार, इलाहाबाद- 2002, 51/53।
4. विष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. पाण्डेय, रामनिहोर, सम्राट हर्ष, इलाहाबाद-1988, पृ०सं० 234-236।
6. दूबे, डी०पी०, कुम्भपर्व और प्रयाग, इलाहाबाद-1989, पृ०सं० 11।
7. सी०यू०की०, अनुवादक, एस०बी०एल० एवं अनुवादक, टी०वाटर्स, भाग-2, पृ०सं० 364।
8. श्रीवास्तव, के०सी०, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद-1995, पृ०सं० 533-534।
9. विकिपीडिया, कुम्भ मेला, hi.m.wikipedia.org
10. सिंह, उदयप्रताप, तीर्थराज प्रयाग और कुम्भ महापर्व, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास पंचगंगा, काशी-2007।
11. मिश्रा, नीलम एवं अन्य, महान व्यक्तित्व-8, राजीव प्रकाशन, प्रयागराज-2019-20, पृ०सं० 26।

केदारनाथ सिंह की काव्य यात्रा : एक अवलोकन

अपराजिता मिश्रा

पूर्व शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में स्वतंत्रता के पश्चात् न सिर्फ देश में ही जागृति की लहर का संचार हुआ बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी रचनाकारों की विधाओं के कारण जन जागृति की लहर का संचार हुआ। यह वह समय था जब बड़े ही धैर्य एवं मनोयोग से काव्य एवं अपनी अन्य विधाओं पर लेखनी चलाकर साहित्यकार या रचनाकार साहित्य में समृद्धि कर सकता था। कुछ ऐसे ही समय में साहित्यकारों एवं रचनाकारों की शृंखला के क्रम में कवि केदारनाथ सिंह का प्रादुर्भाव होता है, जो न सिर्फ काव्य रचना करके साहित्य में सहयोग ही प्रदान करते हैं बल्कि साहित्य से जनता के मर्म को भी जोड़ते हैं।

‘केदारनाथ सिंह’ ‘तीसरा सप्तक’ (1959 ई0)में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका पहला काव्यसंग्रह ‘अभी बिल्कुल अभी’ है जिसका प्रकाशन 1960 ई0 माना जाता है। एक लम्बे अरसे के बाद ‘जमीन पक रही है’ (1980 ई0) एवं ‘यहाँ से देखो’ (1983 ई0) नामक दो कविता संग्रह प्रकाशित हुए। इनका नया काव्य संग्रह ‘अकाल में सारस’ है, आया जो (1988 ई0) में प्रकाशित है। जो इनकी काव्य रचने की प्रतिभा को ऊँचाईयाँ प्रदान करता है। केदारनाथ सिंह की कविता का बुनियादी सरोकार, प्रेम, प्रकृति, जीवन के प्रति गहरी आस्था और आशा के रूझान से जुड़ा हुआ है। इनकी कविताओं का विषय प्रकृति से लेकर मानव के जीवन तक फैला हुआ है। केदारनाथ सिंह स्वयं के बारे में लिखते हैं—“काव्य के विषयों की सीमा नहीं बाँधी जा सकती है। कुछ विषय ऐसे होते हैं जो प्रत्येक काल की कविता में अपना कलात्मक समाधान खोज लेते हैं, जैसे जन्म, मृत्यु, प्रकृति, ऋतुएं आदि। एक सीमा पर जाकर कवि का आत्ममंथन इतना तीव्र हो जाता है कि वह चाहे भी तो इसके बारे में चुप नहीं रह सकता।”¹

इनकी कविता की प्रकृति ग्राम्य है। ये ग्राम्य प्रकृति किसान के जीवन से जुड़ी हुई है। ‘धानों का गीत’ जैसी कविता में बादलों को जिस ललक के साथ पौधे पुकार रहे हैं, उसमें किसानों का कण्ठ और हृदय दोनों ही शामिल हैं—

“धान उगेंगे कि प्रान उगेंगे
उगेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर।
चन्दा को बाँधेगी कच्ची कलगियाँ
सूरज को सूखी रेत में,
आना जी बादल जरूर।”²

केदारनाथ सिंह की ‘शारदा प्रातः’ नामक कविता में एक प्रेमी की कामना मनोहारी छवियों के साथ मिल कर मंगल कामना के रूप में दिखाई देती है। यहाँ प्रेम और प्रकृति दोनों का मिलाजुला रूप मिलता है—

“शरद तुम्हारे खेतों में सोना बरसाये,
छज्जों पर लौकियां चढ़ाये,
टहनी-टहनी फूल लगाये,
पत्ती-पत्ती ओसचुआये,
मेड़ो मेड़ो दूब-दूब उगाये,
शरद तुम्हारे बालों में गुलाब उलझाये,
X X X
हल्के-हल्के धानों के रूमाल हिलायें,
बांओ में सीटियां बजाये,
X X X
शरद तुम्हारे तन पर छाये,
मन पर छाये,
नए धान की गन्ध सरीखा
घर-आंगन, जंगलों-दरवाजों में बस जाये
शरद की जो मेरी खिड़ी से भी
भिनसारे दिख जाता है,
खिची धूप की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से
मेरे इस सागौन वृक्ष के पात-पात पर
नाम तुम्हारा लिख जाता है।”³

केदारनाथ सिंह के यहाँ ‘रचना की आधी रात’ में चारों तरफ अंधकार ही अंधकार है। सन्नाटा ही सन्नाटा है और अंधकार से भरे हुए सन्नाटे में “फिर भी कुछ आवाजें” सुनाई देती हैं- यह आवाजें निर्माण की हैं, ये आवाजें परिवर्तन और विकास की हैं-

“अंधकार! अंधकार! अंधकार
आती हैं
कानों में
फिर भी कुछ आवाजें
X X X
ईंटो पर
ईंटो के रखने की
फलों के पकने की
खबरों के छपने का
सोये शहतूतों पर
रेशम के कीड़ों के
जगने की
बुनने की.....”⁴

केदारनाथ सिंह की दूसरे चरण की कविता संग्रहों में जमीन पर रही है एवं ‘यहां से देखो’ का उल्लेख मिलता है। दोनों संग्रहों की कविता लगभग एक ही समय में रची गयी थीं। इनमें करीब 38 कविताएं संकलित हैं। इनकी कविताएं यथार्थ जुड़ी होने पर भी यथार्थवाद के

सांचे में नहीं बँधी है। इनके दूसरे चरण की कविताओं में मनुष्य और मनुष्य की भावनाओं को प्रदर्शित किया गया है।

केदारनाथ सिंह की 'जमीन पक रही है' संग्रह की जो पहली कविता है। वह सूर्य है। 'सूर्य' के माध्यम से रचनाकार संसार में घटित हो रही गतिविधियों को स्पष्ट रूप में सामने रखना चाहता है। सूर्य को जीवन की आकांक्षा के रूप में माना गया है। सूर्य एक ही धरातल पर दो भूमिकाओं का निर्वहन करता दिखाई देता है—

“मेरा ख्याल है
वह आसमान से नहीं
किसी जानवर की माँद से निकलता है
और एक लम्बी छलांग के बाद
किसी गंजे तथा मुस्तंड आदमी के भविष्य में
गायब हो जाता है
अकेला
और शानदार
हालाँकि मेरी बस्ती के ज्यादातर लोगों के लिए
वह सिर्फ एक लपट है
सिर्फ एक अंगीठी
जिसपर रोटी नहीं सेंकी जा सकती।”⁵

केदारनाथ सिंह की कविता 'रोटी' को मनुष्य के सत्य के रूप में दिखाया गया है। इनके यहाँ 'पकना' का प्रयोग 'जड़ो' की तरफ लौटने से नहीं है। बल्कि आगे बढ़ने को लेकर है—

“और पकना
लौटना नहीं है जड़ो की ओर
वह आगे बढ़ रही है
धीरे—धीरे
झपट्टा मारने को तैयार
वह आगे बढ़ रही है
उसकी गरमाहट पहुंच रही है आदमी की नींद
और विचारों तक।”⁶

केदारनाथ सिंह की कविता "शहर में रात" है जो शहरो के जीवन की सच्चाईयों को बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत करती है—

“यह शहर की जिसकी ज़िद है सीधी—सादी
ज्यादा से ज्यादा सुविधा सुख आज़ादी
तुम कभी देखना इसे सुलगते क्षण में
यह अलग अलग दिखता है हर दर्पण में
साथियों, रात आयी, अब मैं जाता हूँ
इस आने—जाने का वेतन पाता हूँ।”

केदारनाथ सिंह की कविता 'वस्तुएँ' है जो सम्पूर्ण विश्व के रहस्य को वस्तुओं के अन्दर समाया हुआ एवं वस्तुओं से उभरते दिखलाया गया है—

“सिफ वस्तुएं हैं
तमाम दुनिया की तमाम वस्तुएं
आपस में टकराती हुई
एक महान समुद्र की लहराती हुई वस्तुएं
लगातार—लगातार आदमी की सांस के करीब
आती हुई वस्तुएं।”⁸

कवि परिवर्तन की आकांक्षा लिये हुए है। पूरी व्यवस्था एवं सामाजिक स्वरूप और पुराने विचारों के मानवों को वे फिर से बनते हुए देखना चाहते हैं—

“कपड़े फिर से धुने जा रहे हैं
फिर से काटे और सिलेजा रहे हैं कपड़े
आदमी के हाथ
और घुटनों के बराबर।”⁹

केदारनाथ सिंह की कविता दन्त कथा महत्वपूर्ण है। इसमें कवि ने श्रम में तल्लीन वृद्ध लोहार को क्रान्ति भावना के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया है—

“हौले—हौले चलती थी भाथी
धीमे—धीमे जलती थी आग
पर बूढ़े लोहार की छाती में
पूरे जोर से धधक रहा था
समूचे गांव का इकट्ठा कोयला।”¹⁰

कवि 'हाकर' जैसी कविता के द्वारा विश्व राजनीति पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। आज का मानव आतंकित है और खुलकर कुछ नहीं कह सकता ऐसे समय में एक 'हाकर' जो 'वियतनाम वियतनाम चिल्ला रहा है—

“सिवा उस हाकर
जो सड़क पर चिल्ला रहा है
वियतनाम! वियतनाम!”¹¹

केदारनाथ सिंह का काव्यसंग्रह 'यहाँ से देखो' में विश्वास एवं आस्था के स्वर प्रगाढ़ रूप में पाये जाते हैं। इनकी कविताओं में 'विश्वास' 'यकीन', एवं 'उम्मीद' शब्द बारम्बार प्रयुक्त हुए हैं। कुछ भी तेजी से बदल नहीं रहा है लेकिन आदमी जो सड़क पार कर रहा है, उसके उठे हुए पैर देखकर उम्मीद जागती है—

“दुनिया जो इस तरफ है
शायद उससे कुछ बेहतर हो
सड़क के उस तरफ।”¹²

केदारनाथ सिंह मानव को प्रकृति के बिना पूर्ण रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। 'पेड़' जैसी कविता में कवि ने प्रकृति को आस्था उत्पन्न करने शक्ति माना है—

“एक हरी-भरी डाल के नीचे गुजरते हुए
तुम्हे पता भी नहीं चलेगा
कि हरा एक ऐसा रंग है
जो सीधे आदमी के शक पर चोट करता है।”¹³

‘बैल’ शीर्षक कविता में बैल को आदमी का प्रतीक माना गया है। यह आदमी गाँव का मजदूर है, जो सिर्फ महसूस करता है—

“रूक गंध आ रही है
और वह नहीं जानता कहां से
मगर गंध आ रही है
और ढोल बज रहा है
और जंगल में पेड़ काटे जा रहे हैं
और मेमने उसके खुरो को कुचल रहे हैं।”¹⁴

केदारनाथ सिंह की काव्ययात्रा में ‘अकाल में सारस’ और नयी कविताओं का दिग्दर्शन होता है। इनकी इस यात्रा में सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति खुलकर हुई है। इस दौर की कविताएँ भावनाओं से परिपूर्ण हैं। कविताओं में नया परिष्कार हुआ है। अब कवि की प्रकृति के प्रति रागात्मक भाव पत्तों, अमराइयों और फलों पर आकर्षित होने तक ही नहीं है बल्कि उनके अन्तः गुणों को समझने को लेकर भी है। मानव का नाता जगत् एवं जीवन से जोड़ते हुए कवि कहता है कि मनुष्य उसी तरह है—

“जेसे दिया सलाई में काठी
घर में दरवाजे
पीठ में फोड़ा
फलों में स्वाद।”¹⁵

कवि को फसल का पकना और कटना दोनों ही प्रभावित करते हैं। ‘बोझे’ में इसी फसल के करने का वर्णन है—

“फसल कट चुकी
बोझे बाँधे जा रहे हैं
एक चिद्दी चील
हवा में मंडरा रही है
तीन चार मेमने
अपनी सारी सुन्दरता के साथ
चरने में व्यस्त हैं।”¹⁶

कवि के यहाँ प्रेम में अब विशिष्टता आ गयी है, अब प्रेम देह तक नहीं बल्कि सम्पूर्णता पृथ्वी भर में फैल गया है—

“और पत्थर के भी होंठ होते हैं
बालू के भी
राख के भी

पृथ्वी तो यहां से यहां तक
होंठ ही होंठ है।¹⁷

कवि केदारनाथ सिंह कविताओं में अनास्था में आस्था का उद्घोष दिखाई देता है। इनकी एक लम्बी कविता है—“बाघ”। इस कविता के चौदहवें अंश में वन्य के प्राणियों के खत्म होने की आशंका है साथ में विश्वयुद्ध की भी आशंका है। कवि को डर है अतः स्पष्ट है—

“उन्हें डर है कि एक दिन
नष्ट हो जायेंगे बाघ
कि एक दिन ऐसा आयेगा
जब कोई दिन नहीं होगा
और पृथ्वी के सारे बाघ
धरे रह जायेंगे
बच्चों की किताबों में।¹⁸

केदारनाथ सिंह की कविताओं में लोकजीवन अपने महत्वपूर्ण रूप में दिखाई देता है। ‘तीसरा सप्तक’ से लेकर अद्यतन की कविताओं में कवि का रुझान निरन्तर अग्रसर है। इसका मुख्य कारण है कवि का गांव से गहरा लगाव होना। लोकजीवन में विश्वास एवं आस्था के साथ कवि ने संघर्ष को लोकजीवन की प्रबल प्रवृत्ति के रूप में आगे जीवन में संघर्ष करने का अह्वान करते हुए कहा है—

“मेरे बेटे
बिजली की तरह कभी मत गिरना
और कभी गिर भी पड़ो
तो डूब की तरह उठ पड़ने के लिए
हमेशा तैयार रहना।¹⁹

कवि केदारनाथ सिंह तुलसी से प्रेरित हैं, निराला की पीड़ा उनकी पीड़ा है। वही त्रिलोचन के साथ चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने त्रिलोचन से आशीर्वाद की सीख ग्रहण की है। स्पष्ट है—

“मिलेगा” उन्होंने कहा
कहीं न कहीं
किसी कुम्हार की आंखों में
वह होगा जरूर
जस का तस।²⁰

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनों के अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि केदारनाथ सिंह नयी धारा के कवियों में सिर्फ प्रतिष्ठित ही नहीं है बल्कि अपनी लेखनी से विशिष्ट ऊर्जा प्रदान करते हैं। ये साठोत्तरी कविता में भी उसी मौलिकता का परिचय देते हैं। इनकी कविताएं ग्रामीण एवं शहरी जीवन के जटिल अनुभवों पर आधारित है।

सन्दर्भ :

1. तीसरा सप्तक, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 117
2. तीसरा सप्तक, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 9
3. तीसरा सप्तक, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 129-30
4. वही, पृ0सं0 34
5. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 9-10
6. वही, पृ0सं0 23-24
7. वही, पृ0सं0 37
8. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 67
9. वही, पृ0सं0 77
10. यहां से देखो, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 71
11. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 59
12. उत्तरीशती, अप्रैल, जून 1984, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 62
13. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 42
14. जमीन पक रही है, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 36-37
15. अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 38
16. वही, पृ0सं0 95
17. अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 24-25
18. केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएं, पृ0सं0 141
19. अकाल में सारस, केदारनाथ सिंह, पृ0सं0 19
20. वही, पृ0सं0 31-32

सामाजिक पुनर्निर्माण में बुनियादी शिक्षा का महत्त्व

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार

(शिक्षक) प्रो० बा० उ० मा० वि०, काँटी, मुजफ्फरपुर

किसी भी देश की प्रगति वहाँ के रचनात्मक एवं संगठनात्मक आन्दोलन के अभाव में संभव नहीं है। रचनात्मक और संगठनात्मक विचारों की जननी शिक्षा ही होती है। शिक्षा से ही प्रेरणा प्राप्त करने वाले कृतकर्मा द्वारा ही मानव सभ्यता का विकास हुआ है। सामान्य विचारों से रहित मस्तिष्क विद्याग्रहण कर अन्तः प्रेरणा प्रसूत प्रतिभज्ञान को ग्रहण करने योग्य पात्रता को प्राप्त करता है।

गाँधी जी एक हिन्दू और भारतीय थे— कई पीढ़ियों के सबसे बड़े हिन्दू और भारतीय और इसके लिए उन्हें अभिमान था। उन्हें भारत से प्रेम था। क्योंकि उसने युगों तक अनेक अपरिवर्तनीय तथ्यों का प्रतिनिधित्व किया। किन्तु यद्यपि वे हृदय से धार्मिक थे और उस राष्ट्र के पिता कहलाते थे, जिसका उन्होंने उद्धार किया; फिर भी संकीर्ण धार्मिकता अथवा राष्ट्रीयता उन्हें छू भी नहीं गयी थी और इस प्रकार वे प्रयोजनीय एकता, समस्त धर्मों की अंतर्निमित्त एकता और मानव की आवश्यकताओं में अपने अगाध विश्वास और विशेषतः दरिद्रों, कष्ट पीड़ितों तथा कोटि-कोटि अत्याचार पीड़ितों की सेवा में अपने को न्योछावर करके एक महान अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष बन गये।”

बुनियादी शिक्षा और ग्रामीणों (विशेषकर महिलाओं) के लिए काम करना गाँधी जी के रचनात्मक प्रयासों की श्रेणी में आता था। बुनियादी शिक्षा के बारे में उनके विचार भारतीय स्थितियों के अनुरूप थे तथा उनकी मृत्यु के पश्चात् कई प्रांतों में व्यापक स्तर पर इन्हें कार्यरूप दिया गया। लंदन में 1931 में मैडल मॉटिसरी और उसके तरीकों से वे बहुत प्रभावित हुए थे और उनकी प्रणाली में उसका गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

विकास, मानव जीवन के सतत् परिवर्तन की एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसमें सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पद्धतियों के पुनर्गठन एवं नवीनीकरण का समावेश होता है। इस आधार पर गाँधी जी मानते थे कि बिना गाँवों के विकास के भारत का विकास असंभव है, क्योंकि भारत गाँव का देश है एवं भारत की तीन-चौथाई आबादी गाँवों में निवास करती है।

गाँधी जी ने राज्य विषयक जो विचार व्यक्त किए, उनके आधार पर उन्हें अराजकतावादी कहा जाता है। राज्य को आदर्शवादी विचारकों ने प्राकृतिक, अनिवार्य एवं लाभदायक संस्था नहीं कहा, अपितु उसे सर्वोच्च संस्था माना और हीगल सदृश चिंतकों ने उसे पृथ्वी पर ईश्वर का प्रचलन बताया। व्यक्तिवादियों ने राज्य को एक आवश्यक बुराई कहा। अराजकतावादी विचारकों ने राज्य को अनावश्यक बुराई कहकर राज्य के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया।

गाँधी जी ने यद्यपि पूर्ण अहिंसात्मक और राज्यविहीन समाज की कल्पना की थी तथापि वे यथार्थवादी विचारक थे। अहिंसा का तत्व भारतीय प्रतिभा में ही व्याप्त है, जिसे वे इतने प्रभावित थे। इसका मूल तो बलिदान की अपरिष्कृत भारतीय आर्य धारण में निहित है और इसका चरमोत्कर्ष गाँधीवाद में हुआ। भारतीय जीवन आशावाद से परिपूर्ण रहा है। यह विशिष्टता लक्षणीय है कि इसके नाटक निरपवाद रूप से सुखान्त होते रहे हैं और इसकी कलाएँ जीवन को सर्वदा आशा एवं आनन्द से परिपूर्ण चित्रित करती रही है।

गाँधी जी अभिवंचित वर्गों में ज्ञान फूंकने की कोशिश की। उनके भीतर सोयी मानवता को जगाने का प्रयास किया। उनके भीतर जन्मीहीन भावना को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। तभी तो वे कहते थे – “जिस आदमी का मान उसके अपने विचार में मर चुका है, वह जितनी हानि अपने का पहुँचा सकता है, उतना दूसरा कोई नहीं पहुँचा सकता। उन्होंने राम राज्य की कल्पना की थी।

महात्मा गाँधी ने समृद्ध एवं शक्तिशाली भारत के निर्माण के लिए सर्वोदयी समाज की परिकल्पना की थी। सामाजिक विकास के लिए रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा उन्होंने आमूल परिवर्तन अथवा क्रांति का स्वप्न देखा था।

सर्वोदय समाज की स्थापना के बारे में एक विस्तृत योजना 20 जनवरी 1950 को प्रकाशित हुई। सर्वोदय समाज का यह अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज में स्वतंत्रता होगी और समाज में अधिक से अधिक समानता होगी। प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त होंगे।

बिनोबा भावे का कथन है कि – “सर्वोदय कुछ या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं करता व हम अधिकतम के अधिकतम सुख से संतुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की और सबकी, ऊँचे और नीचे की, सबल और निर्बल की; बुद्धिमान और बुद्धिहीन की, भलाई से ही संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द का उत्कृष्ट और सर्व व्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है।”

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए गाँधी जी उद्देश्य एवं साधन पर भी बल देते हैं। उनकी दृष्टि में उद्देश्य एवं साधन विनिमेय शब्द है। उनका कहना है कि जैसा साधन वैसा उद्देश्य। इसीलिए अहिंसात्मक समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए अर्थात् दूसरे शब्दों में शोषण एवं उत्पीड़न से मुक्त वर्ग विहीन राज्य रहित समाज की स्थापना के लिए उन्होंने केवल अहिंसक साधनों का ही निर्देश किया और उनके समर्थन के लिए अनेकानेक तर्क दिये। अपने अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम किसी भी प्रकार के साधन का यहाँ तक कि हिंसा का भी प्रयोग क्यों न करें, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाँधी जी कहते हैं “– तुम्हारा यह विश्वास कि साधन एवं उद्देश्य में कोई सम्बन्ध नहीं है, एक बहुत बड़ी भ्रांति है।

पुनः महात्मा गाँधी ने हमें बहुत सी बातें सिखायी, किन्तु जो सबसे बड़ी बात उन्होंने सिखायी यह वही बात कि साधन ही उद्देश्य है, अर्थात् साधनों से उद्देश्य की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है एवं सदुद्देश्यों के लिए सत्साधनों की आवश्यकता होती है।

बुनियादी शिक्षा के माध्यम से सामाजिक पुनर्निर्माण में विकेन्द्रीकरण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। गाँधीजी की विचारधारा की यह उल्लेखनीय विशिष्टता है। गाँधी जी कहा था कि अहिंसात्मक राज्य सत्ता या शक्ति का अधिकतम विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। राजनीतिक एवं

आर्थिक दोनों क्षेत्रों में ही गाँधी जी विकेन्द्रीकरण के समर्थक थे। वस्तुतः गाँधी जी की विचारधारा के अनुसार अहिंसात्मक समाज की स्थापना और केन्द्रीकरण की स्वीकृति, दोनों विपरीत आदर्श (लक्ष्य) हैं। शक्ति का केन्द्रीकरण प्रजातांत्रिक मूल्यों के भी प्रतिकूल है। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से व्यक्तिगत स्वतंत्रता बाधित होती है। केन्द्रीकरण पुनः असमानता को भी बढ़ावा देता है, इसलिए आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक और राजनीतिक स्तर पर केन्द्रीकरण के अन्त की आवश्यकता है।

गाँधी जी के अनुसार राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि ग्रामों को अपने मामलों का प्रबंध करने के लिए अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उनके ऊपर राष्ट्रीय अथवा संघीय सरकार का नियंत्रण कम से कम होना चाहिए।

गाँधी जी के विचार में उत्पादन प्रणाली का 'विकेन्द्रीकरण' राष्ट्र में सामाजिक और आर्थिक स्थायी शांति की स्थापना के लिए अत्यन्त आवश्यक था। गाँधी जी ने गाँव को एक आर्थिक इकाई मानकर उसे आत्मनिर्भर बनाने का विचार दिया। इस हेतु गाँधी जी लघु कुटीर उद्योगों के विकास के पक्ष में थे। उनका विचार था कि जब उत्पादन घरेलू तथा लघु उद्योग द्वारा होगा तो देश के सभी गाँवों के प्रत्येक घर में उत्पादन कार्य संभव हो सकेगा तथा कोई बेकार नहीं रहेगा तथा सभी ग्रामवासियों को उचित मूल्य पर गाँव में ही निर्मित प्रत्येक वस्तु प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार प्रत्येक गाँव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होगा। लोगों का ग्राम्य जीवन शांतिमय होगा और संघर्ष मय जीवन समाप्त होगा।

सामाजिक पुनर्निर्माण में ट्रस्टीशिप का महत्वपूर्ण योगदान है और ट्रस्टीशिप बुनियादी शिक्षा के आवश्यक अंग माने जाते हैं। गाँधीजी का मानना था कि जबतक समाज से आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होगी तब तक समाज में तथा संसार में स्थायी शांति स्थापित नहीं हो सकती।

मार्क्स ने श्रमजीवियों की मुक्ति के लिए वर्ग युद्ध की अनिवार्यता पर जोर दिया, किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत गाँधी जी का विचार है। उन्होंने हिंसा का परित्याग कर दिया था एवं वर्ग-युद्ध की भर्त्सना की थी। उनका कहना है – "मेरी आशा है कि अहिंसक पद्धति से जमींदारों और दूसरे पूंजीपतियों को सम्परिवर्तित कर सकूँगा। अतः मैं वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता को नहीं मानता। अल्पतम प्रतिरोध के मार्ग पर अग्रसर होना अहिंसा का सारभूत तत्व है। पुनः उनका कथन है कि यदि जनता अहिंसक पद्धति का अनुगमन करे तो मैं निश्चय ही वर्ग-युद्ध बचा सकता हूँ। अहिंसक पद्धति से हम पूंजीपति का विनाश करना नहीं चाहते, हम पूंजीवाद को घंसे करना चाहते हैं। हम पूंजीपति से अनुरोध करते हैं कि वह अपने को उनका न्यासधारी माने जिन पर वह अपनी पूंजी बनाने, बचाने एवं बढ़ाने के लिए निर्भर है।

गाँधी जी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर प्रेम, सेवा और सहयोग के आधार पर सामाजिक पुनर्निर्माण करना चाहते हैं और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आचार्य विनोबा भावे ने "भूदान-यज्ञ के मार्ग को प्रदर्शित किया। उनका विचार है कि भूदान यज्ञ के द्वारा हम जनता को उसकी सोयी हुई शक्ति का फिर से भान कराते हैं।

सामाजिक पुनर्निर्माण के आयामों में सर्वोदय का स्थान महत्वपूर्ण है। सर्वोदय की अवधारणा गाँधी की थी। आचार्य विनोबा ने उसे कार्य रूप दिया, जिसमें महती भूमिका निभायी बुनियादी शिक्षा ने। बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था ने ही सर्वप्रथम सर्वोदय, विकेन्द्रीकरण आदि

व्यवस्था को इसलिए अपनाया ताकि समाज का पुनर्निर्माण हो सके। सर्वोदय का अंतिम आदर्श एक ऐसे राज्य विहीन समाज की स्थापना है, जो प्रत्येक प्रकार की सत्ता से पूर्णतया मुक्त होगा।

महात्मा गाँधी बुनियादी शिक्षा के माध्यम से श्रम की प्रतिष्ठा को स्थापित करना चाहते थे ताकि समाज का पुनर्निर्माण हो सके। गाँधी जी श्रम को पूजा समझते थे और उस पूजा की आदत वे भारतीय बच्चों में प्रारंभ से डी डालना चाहते थे। तभी तो वे कहा करते थे – “शारीरिक श्रम मनुष्य के शरीर को स्वस्थ रखने के अतिरिक्त मनुष्य की मानसिक शक्ति को भी अर्जित करता है।

समाजिक पुनर्निर्माण के लिए महात्मा गाँधी ने “अपने आध्यात्मवाद के आधार पर समूचे विश्व को व्याप्त करने की अभिलाषा रखनेवाली पाश्चात्यों की यंत्र संस्कृति तथा उस पर आधारित आधुनिक सुधारों का अस्वीकार किया।

गाँधी जी ने आश्रम-जीवन की कल्पना को इसलिए जन्म दिया कि वह वर्गभेद तथा राष्ट्र भेद के क्षुद्र अहंकार को तनिक भी स्थान न देने वाला सर्वमानवों का विश्वास स्थान हो और इसका क्रियान्वयन वे बुनियादी शिक्षा के माध्यम से ही करना चाहते थे, क्योंकि यहाँ वर्ग भेद और जाति भेद का अंतर नहीं रहता।

समाजिक पुनर्निर्माण के उपरोक्त आयामों जिसको गाँधी जी ने अपनाया, वही सारे आयाम बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम निर्धारित थे। अतः गाँधी ने बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम निर्धारित थे। अतः गाँधी ने बुनियादी शिक्षा के माध्यम से भारतीय जन उत्थान हेतु वर्तमान भारत के आदर्शों एवं मूल्यों को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास किया। गाँधी जी ने अस्पृश्यता दूर करने, मद्य निषेध को लाने, विवाह और परिवार सम्बन्धी सुधारों को कार्यान्वित करने, श्रम और श्रमिकों की प्रतिष्ठा को स्थापित करने, यंत्र संस्कृति को नकारने और विकेन्द्रीकरण की अवधारणा को लागू कर नये सामाजिक विधान की शुरुआत की।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सामाजिक पुनर्निर्माण में बुनियादी शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भ सूची :-

1. सं० रामलखन शुक्ल-आधुनिक भारत का इतिहास, पृ०-229
2. विसेंट शीन-गाँधी जी : एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी, पृ०-174
3. डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन, डालचन्द जैन- भारतीय राजनीति के नये आयाम, पृ०-164
4. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यामः - योग सूत्र-2, 35
5. धवन-पॉलिटिकल फिलासफी ऑफ गांधी - पृ०-15
6. प्रतियोगिता दर्पण- दिसम्बर-1992, पृ 0-662
7. डॉ० शिव भानु सिंह - समाज दर्शन का सर्वेक्षण, पृ०-174
8. यंग इंडिया-खंड-2, पृ०-435
9. हिन्द स्वराज, पृ०-105

10. डॉ0 सीता रमैया—हिस्ट्री ऑफ काँग्रेस, पृ0—979
11. हरिजन—5 दिसम्बर—1936
12. यंग इंडिया—26 मार्च 1931
13. डॉ0 महादेव प्रसाद— महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, पृ0—77 से
14. तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी—वैदिक संस्कृति का विकास, पृ0—257
15. हरिजन—28 सितम्बर 1934, पृ0—260

बिहार में बाढ़ की समस्या और समाधान

प्रकाश कुमार पासवान

यू.जी.सी. नेट

बाढ़ एक प्राकृतिक आपदा है जो किसी क्षेत्र में अत्यधिक पानी के जमा होने के कारण होती है। यह अक्सर भारी बारिश का नतीजा है। कई क्षेत्रों को नदी या समुद्र के पानी के स्तर के बढ़ने के कारण बाँधों के टूटने के कारण और बर्फ की पिघलने के कारण बाढ़ का सामना करना पड़ता है। तटीय क्षेत्रों में तूफान और सूनामी इस स्थिति का कारण बनते हैं।

उत्तर बिहार से बाढ़ का नाता पुराना है। उस इलाके की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसे बाढ़ से बचाया नहीं जा सकता है। हिमालय से निकलने वाली नदियाँ नेपाल से होते हुए बिहार के इस इलाके में उतरती हैं। ताजा जल का यह स्रोत वरदान भी हो सकता है, लेकिन बरसात में ये नदियाँ परेशानी का सबब भी बनती हैं। कोशी एक ऐसी नदी है। जो अपनी चंचल धारा की वजह से कुछ ज्यादा ही कहर ढाती है।

जानकार कहते हैं कि बाढ़ एक कुदरती परिघटना है, जिसे रोका नहीं जा सकता। मनुष्य के हित में यह है कि वह बाढ़ के मुताबिक जीना सीख ले। लेकिन जब तकनीकी से प्रकृति को जीत लेने का भरोसा इंसान में कुछ ज्यादा ही भर गया तो नदियों को नाथ कर बाढ़ रोकने के तरीके अपनाए गए। बरहाल पिछले पाँच-छह दशकों के अनुभव ने यह भरोसा तोड़ दिया है। बाँध और तटबंधों के जरिये बाढ़ रोकने की उम्मीद निराधार साबित हो गई है।

बाढ़ बिहार की एक बड़ी समस्या है। बिहार की गरीबी की एक वजह हर साल बाढ़ से होने वाली तबाही भी मानी जाती है। उत्तर बिहार का बड़ा इलाका हर साल पानी से डूबता है, लेकिन हर साल यह बाढ़ उतनी बड़ी खबर नहीं बनती। बिहार की समस्या सिर्फ कोशी नहीं है। अगर बिहार को राहत मिलती है तो वह तभी मिलेगी, जब उत्तर बिहार का इलाका भारत-नेपाल सीमा के मध्य पूर्वी हिस्से पश्चिम में घाघरा नदी और पूरब में महानंदा नदी के बीच में बसा है। यह इलाका कई बड़ी नदियों का जब ग्रहण क्षेत्र है। ये नदियाँ हैं घाघरा, बूढी गंडक, बागमती, मघवरा समूह की नदियाँ, कमला बलान, कोशी और महानंदा। यह इलाका तकरीबन 56 लाख हैक्टेयर में फैला है और विशाल गंगेय क्षेत्र का हिस्सा है। इलाके की नदियाँ आगे चल कर गंगा में मिल जाती हैं। इनमें से अधिकांश नदियाँ हिमालय से निकलती हैं और नेपाल में बहते हुए उत्तर बिहार पहुँचती हैं। बिहार में अक्सर ये नदियाँ, खासकर बरसात में धारा बदलती रहती हैं। इनका प्रबंधन आज भी एक बड़ी चुनौती बना हुआ है।

बरसात में मैदानी और हिमालय के पहाड़ी इलाकों के जल ग्रहण क्षेत्रों में जोरदार बारिश होने पर इन नदियों का पानी बढ़ने लगता है। अगर बंगाल की खाड़ी में हवा का दबाव बनता है, तो उसके असर से होने वाली बारिश का असर भी इन नदियों के जल स्तर पड़ पड़ता है। पानी बढ़ने के साथ बाढ़ की हालत बन जाती है। ओर तटबंधों के टूटने की खबरे आने लगती हैं।

नतीजा बड़े इलाके के डूब जाने के रूप में सामने आता है। इस आपदा से लाखों लोग बेघर हो जाते हैं, फसले तबाह हो जाती है और बड़ी संख्या में पशु मारे जाते हैं। कोशी जो नेपाल और भारत के एक बहुत बड़े इलाके पर पसरती हुई है। यानी यह एक ऐसी नदी है, जो दो देशों में बहती है इसका जलग्रहण क्षेत्र 95,646 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। यह इलाका माउंट एवरेस्ट और कंचनजंघा से होते हुए गंगा नदी तक जाता है। लेकिन गंगा में मिलने से पहले कोशी बिहार की कई प्रमुख नदियां, मसलन, कमला बागमती, बुढ़ी गंडक और भूतही बलान को खूद में समेट लेती है। चतरा में उतरने के पहले कोशी नदी नेपाल की तराई में 48 किलोमीटर का सफर तय कर चुकी होती है। फिर यह उत्तर बिहार में 15 धाराओं में बड़ जाती है। नेपाल में सात बड़ी नदियों कोशी में मिलती है, इसलिए नेपाल में इसे सप्त कोशी कहा जाता है। अपने स्रोत से चलकर गंगा में मिलने तक कोशी 729 कि०मी० की दूरी तय करती है। इसमें से 260 कि०मी० का इलाका भारत में है।

सामाजिक कार्यकर्ताओं और पीड़ित लोगों के संवाद से यह बात भी साफ होती है कि राजनीतिक दल लोगों की दुर्दशा के लिए सीधे जिम्मेदार हैं। उनके निहित स्वार्थ और गलत फैसला का नतीजा आम लोगों को भुगतना पड़ता है। राज्य और केन्द्र दोनों ही सरकारों के कार्यकर्ताओं से अब सीधा सवाल यह है कि बाढ़ से बाद राजनीतिक नेताओं ने भोलेपन का मुखोटा पहनते हुए दलील दी है कि जब नदी में अपनी दिशा ही बदल ली जो प्रशासन किया कर सकता था? लेकिन उन्होंने यह बताने की जरूरत नहीं समझी कि जब नदी की धारा को नियंत्रित करने के लिए तटबंध बनाए गए थे, तो उसके बावजूद नदी की दिशा कैसे बदल गई। सच्चाई यह है कि तटबंधों के रख-रखाव उनकी ऊंचाई बढ़ाने, उन्हें मजबूत करने और नए तटबंध बनाने के नाम पर लगभग हर साल पड़े पैमाने पर सरकारी पैसा आता है, जिसका फायदा राजनीतिक दलों से जुड़े ठेकेदार और दलाल उठाते हैं। ये ठेकेदार और दलाल चुनाव के वक्त पर नेताओं के काम आते हैं। इसलिए नेता चाहे किसी पार्टी का हो वह ठेकेदार और दलालों के हितों पर चोट करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता। सम्भवतः इसी वजह से नेता बाढ़ रोकने की जब तक अपनाई गई नीति पर उठाए जाने वाले हर सवाल को नजर अंदाज कर देते हैं।

बाढ़ प्रभावित क्षेत्र के दिन के कामकाज के साथ बाधित गंभीर बाढ़ कमी-कमी बड़े पैमाने पर विनाश का कारण बनती है। बाढ़ के कारण बहुत से लोग और जानवर अपना जीवन खो देते हैं। कई अन्य उपाय हैं। बाढ़ से बीमारियों में भी वृद्धि होती है। स्थिर पानी मलेरिया, डेंगू और अधिक बीमारियों के कारण मच्छरों को आकर्षित करता है। इसके अलावा, बिजली के खतरे के कारण लोग बिजली कटौती का सामना करते हैं। उन्हें मंहगे मूल्य निर्धारण का भी सामना करना पड़ता है। जैसी की भोजन और वस्तुओं की आपूर्ति सीमित हो जाती है। कीमत स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है। यह आम आदमी के लिए बड़ी समस्या है। सबसे महत्वपूर्ण बात पूरे देश को आर्थिक नुकसान का सामना करना पड़ता है। लोगों को बचाने और इस आपदा से निपटने के लिए आवश्यक संसाधन की एक मोटी राशि की मांग की जाती है। साथ ही नागरिक अपने घरों और कारों को खो देते हैं, जिसके लिए उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया। इसके बाद बाढ़ से पर्यावरण में भी बाधा आती है। इससे मिट्टी का क्षरण होता है। इससे मिट्टी की गुणवत्ता में गिरावट आती है। हम उपजाऊ धरती खो देते हैं। इसी तरह बाढ़ भी वनस्पतियों और जीवों को नुकसान पहुंचाती है। वे फसलों को नुकसान पहुंचाते हैं और पेड़ों को विस्थापित करते हैं। इस प्रकार इन गंभीर परिणामों से बचने के लिए उपाय किया जाना चाहिए। जिस जगह बाढ़ आती है

वो जगह पुरी तरह खराब हो जाती है। साथ वहाँ हर जगह कचरा फैलने की जगह से वो जगह गदंगी से भरी हुई होती है। बाढ़ की वजह से वहाँ का पानी दूषित रहता है। इसलिए वहाँ सर्दी, खाँसी, मलेरिया, डेंगू और बहुत सारी बीमारियाँ होती हैं। जिस जगह बाढ़ आती है वहाँ के दुकानों से भरा हुआ खाना भी बाढ़ की वजह से खराब हो जाता है। इसलिए उसे खाने से वहाँ बीमारियाँ और ज्यादा फैल जाती हैं।

सरकार और नागरिकों को मिलकर बाढ़ रोकने का उपाय तैयार करने चाहिए। बाढ़ आने पर उठाये जाने वाले कदमों के बारे में उचित जागरूकता फैलाई जानी चाहिए। चेतावनी प्रणाली स्थापित करना चाहिए। ताकि लोगों को खुद को बचाने के लिए पर्याप्त समय मिल सके। इसके अलावा, जिन क्षेत्रों में बाढ़ की संभावना अधिक होती है, वहाँ बाढ़ स्तर के ऊपर ऊँची इमारतें होनी चाहिए। आगे बारिश के कारण अत्यधिक पानी के भंडारण के लिए एक कुशल प्रणाली होनी चाहिए। इससे पानी की अधिकता को रोका जा सकेगा। सबसे महत्वपूर्ण चरणों में से एक जल निकासी व्यवस्था को मजबूत करना है। यह जल भराव से बच सकता है जो बाढ़ को रोकेंगा। इसके अलावा बांधों का दृढ़ता से निर्माण किया जाना चाहिए। सस्ते सामग्रियों के उपयोग से बाढ़ को रोकने के लिए बाँधों की गुणवत्ता का निर्माण हों।

उत्तर बिहार के लोगों को हर साल बाढ़ की विपत्ति झेलने से कैसे बचाया जाए। इस सम्बन्ध में कई मांगें उठी हैं, जिन्हें अब ठोस रूप में पेश किया जा सकता है। सबसे पहली जरूरत यह है कि बन चुके तटबंधों का उचित रखरखाव हो और उनकी लगातार निगरानी की जाए अगर इनमें कहीं दरार पड़ती है और उसे भरने के लिए त्वरित उपाय नहीं किए जाते हैं, तो उसके लिए कौन जबाब देह होगा, यह पहले से तय किया जाए। जब तक किसान मजदूरों के लिए जीविकोपार्जन के वैकल्पिक साधन उपलब्ध न हो जाय, विशेष राहत कार्यों को जारी रखा जाए। खेतों में रेत भरने की वजह से खेती और पशुपालन पर बहुत बुरा स्तर पड़ा है। सरकार रेत हटाने के लिए ठोस इंतजाम करें। इस इलाकों के लिए विशेष एवं नये कर्ज की व्यवस्था की जाए। बाढ़ प्रभावित गांवों में आपदा की चेतावनी की व्यवस्था की जाए। कोशी नदी के पानी का गंगा में सहज प्रभाव सुनिश्चित करने के लिए मनिहारी से कुरसेला और फरक्का से नौगछिया तक गंगा नदी में भरी हुई रेत को निकाल जाए। जल निकासी पर ध्यान दिया जाए। N.H31, N.H 57, N.H 106 और रेल खण्ड बरौनी कटिहार मानसी दरभंगा वाया समस्तीपुर, पुर्णिया-सहरसा से फार-बिसगंज, सहरसा से मानसी दरभंगा से निर्मली, फारबिसगंज से जोगबनी रेलखण्डों में जल निकासी का खास इंतजाम पुलिया बना कर किये जाए। दोनों कोशी तटबंधों के बीच बन रहे एन.एच. 57 तथा रेल पुलियों की चौड़ाई दो किलोमीटर से बढ़ा कर आठ नौ किलोमीटर की जाए ताकि तटबंधों के पास के करीब पचास हजार परिवारों को विस्थापन से बचाया जा सके। अगर ऐसा नहीं होता तो विस्थापित होने वाले परिवारों की पूरी जायदाद का मुआवजा देकर उनका उचित पुनर्वास किया जाए।

इसका दीर्घकालिक हल निकाले जाय। बाढ़ की समस्या से मुक्ति दिलाने के लिए बांध और तटबंध बनाए जाए। गाद नदियों की एक बड़ी समस्या बन गई है। ज्यादातर गाद अपस्ट्रीम बेसिन इलाके से आती है। इसकी वजह से नदी का जब मार्ग भरने लगता है और नदी में पानी इकट्ठा होने की क्षमता घट जाती है। अब सहायक नदियों के द्वार पर तथा नदी बेसिन इलाके में छोटे जलाशय और चेक डैम बनाने को बाढ़ रोकने का प्रभावी उपाय माना जा सकता है इससे

सहायक नदियों से आने वाले पानी को नियंत्रित किया जा सकता है। सुझाए जा रहे कुछ अन्य उपाय इस प्रकार हैं :-

अतिरिक्त पानी को नहरों से दूसरी जगह एक पहुँचाना, नदी के उपस्ट्रीम में जलाशय बनाना नदी बेसिन इलाके के पानी जमा कर रखने के उपाय करना, कृत्रिम रूप से जमीन से नीचे के पानी को निकालना ताकि बाढ़ से आने वाले पानी को जमीन सोख लें।

संदर्भ सूची :-

1. KBCAT की रिपोर्ट।
2. Koshi Flood Report (बिहार सरकार द्वारा जारी रिपोर्ट)।
3. प्रोफेसर जयंत बंदोपाध्याय का लेख।
4. फिक्की द्वारा बनाए गए टास्क फॉर्स का कोशी परियोजना के लिये भारत और नेपाल सरकार के बीच हुए समझौते का दस्तावेज।
5. N.O.U पुस्तक।
6. इमत्याज अहमद— बिहार एक परिचय।

वेदों में हरिश्चन्द्र

डॉ० सुधा कुमारी

पूर्व शोधच्छात्रा,
संस्कृत विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

वेदों में हरिश्चन्द्र की कथा शूनःशेष की कथा से जुड़ी हुई है। हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकुवंशी राजा त्रिशंकु के पुत्र एक सूर्यवंशी राजा थे। ऋग्वेद में हरिश्चन्द्र का नाम सांकेतिक रूप से आया है। यद्यपि प्रस्तुत मंत्र से हरिश्चन्द्र की किसी विशेषता अथवा कीर्ति का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है किन्तु अनुमानतः कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के नवम् मण्डल, अध्याय तीन में 'हरिश्चन्द्रोमरूदणः'¹ शब्द 'हरिश्चन्द्रोपाख्यान' की ओर ही संकेतित है। इसी तरह सामवेद, तैत्तरीय संहिता (5/2/10), काठक संहिता (19/1), मैत्रेयी उपनिषद् (1/4), सांख्यायन श्रौतसूत्र (15/17-20) में भी सांकेतिक रूप में ही हरिश्चन्द्र का उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में राजा हरिश्चन्द्र की कथा बड़े ही विस्तार एवं अपने पूर्ण वैभव से अवतरित हुई है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' जो ऋषि महिदास ऐतरेय की रचना है ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में उल्लेखनीय है। शूनःशेष की कथा के संदर्भ में राजा हरिश्चन्द्र की कथा अत्यन्त ही मार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से पढ़ने योग्य है।

ऐतरेय ब्राह्मण में 'हरिश्चन्द्र'

वेधा का पुत्र ऐक्ष्वाकु हरिश्चन्द्र निपुत्री था। उसके सौ रानियाँ थीं। परन्तु उनके कोई पुत्र नहीं हुआ। उसके घर में पर्वत और नारद आये। राजा ने नारद से पूछा "यह जो पुत्र की इच्छा करते हैं और जो इसके महत्व को जानते हैं और जो नहीं जानते वे पुत्र के द्वारा क्या करते हैं, कृपया हे नारद जी मुझे बताइये। नारद ने दशश्लोकों² में निम्न बातें बताई- पिता, पुत्र उत्पन्न करके पितरों के ऋण से अनूण हो जाता है और अमरलोक को प्राप्त करता है। यदि पिता उत्पन्न पुत्र के मुख को जीवित रहता हुआ देखे। जितने पृथिवी, अग्नि और जल में भोग हैं उससे भी अधिक भोग (आनंद) पिता को पुत्र से मिलता है। सनातनकाल से पितृगण पुत्र के द्वारा विपुल तमः (अन्धकार) का नाश करते हैं आत्मा (शरीर) से आत्मा उत्पन्न होता है। वह 'पुत्र' पिता के लिए इरावती (वैतरणी) नदी के सामन है, जो अतितारिणी है। हे ब्राह्मणों! पुत्र की इच्छा करो। अजिन वल्कल या आश्रम या तप क्या है, कुछ भी नहीं, पुत्र ही श्रेष्ठ लोक का दायक है। अन्न ही प्राण है, निवास (घर) ही शरण है, स्वर्ण ही रूपवर्धक है, पशु निर्वाह करने वाले हैं। पत्नी सखा है, दुहिता कृपणता देने वाली है परन्तु पुत्र परमलोक में ज्योति स्वरूप है।

पति पत्नी में प्रवेश करके गर्भरूप में होता है, दशवें मास में पति ही पुत्र रूप में माता से उत्पन्न होता है। यह जाया (पत्नी) का जायात्व है कि उसमें प्रवेश करके पति पुत्र रूप में पैदा होता है। यह आभूति (जन्म) ही विभूति या उत्पत्ति है, जिसमें बीज (सन्तति तन्तु) रखा जाता है। पुत्र के द्वारा देवों और ऋषियों ने पुनः अपने में महान तेज धारण किया है। यह पुत्र या जाया ही तुम्हारी जननी है। बिना पुत्र के लोक या परलोक नहीं, यह सभी मनुष्य जानते हैं। इसलिए पुत्र, माता और स्वसा से बढ़कर है। यह पुत्ररूपी देवयान ही पिता को वीतशोक करता है, जिससे पुत्रवान पिता स्वर्ग में जाते हैं। इस देवयान पथ को मनुष्य, पशु और पक्षी सभी देखते हैं, इसलिए वे सन्तान उत्पन्न करते हैं।

इसके बाद राजा हरिश्चन्द्र के नारद से कहा हे ऋषि! मुझे बताइये कि मेरे पुत्र किस प्रकार हों। नारद ने राजा से कहा- तुम राजा वरुण देव की शरण में जाओ और प्रार्थना करो कि मेरे पुत्र उत्पन्न हों। मैं उस पुत्र से तुम्हारा यज्ञ करूँगा अर्थात् पुत्र बलि दूँगा। राजा ने वैसा ही किया और उसे “रोहित” नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। तब वरुण ने राजा के पास आकर कहा- पुत्र बलि दो, तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हो गया है। राजा ने कहा- अभी नहीं जब तक पशु (जीव) के सूतक है तब तक वह अमेध्य होता है जब सूतक बीत जायेंगे तब बलि दूँगा। जब सूतक बीत गये तब वरुण ने कहा- अब बलि दो। तब राजा ने कहा- जब जीव के दाँत निकल आये, तभी मेध्य होता है। दाँत निकलने पर मैं पशु बलि (पुत्र बलि) करूँगा। जब उसके दाँत आये। इसके दाँत निकल आये हैं, यज्ञ करो। नहीं। पशु के दाँत पूरे हो जाये तब यज्ञ करूँगा। तभी पशु मेध्य होता है। जब उसके पूरे दाँत हो गये तब वरुण ने आकर कहा- यज्ञ करो, इसे दाँत पूरे हो गये हैं। राजा ने कहा- जब पशु के दाँत दुबारा निकल आते हैं, तभी वह मेध्य होता है। रोहित के दाँत पुनः उग आये, तब वरुण ने कहा- इसके पुनः दाँत आ गये हैं, यज्ञ करो। नहीं। जब क्षत्रिय कवचयुक्त (युवक) हो जाता है, तब मेध्य (पवित्र) होता है। जब वह रोहित सन्नाह को प्राप्त हुआ, तब वरुण ने आकर राजा से कहा- यह युवक हो गया है, अब बलि दो। नहीं, तब राजा हरिश्चन्द्र ने पुत्र रोहित को बुलाया और कहा- हे पुत्र! मुझे राजा (देव) वरुण ने तुम (पुत्र) को दिया था कि मैं तुम्हारे द्वारा वरुण का यज्ञ करूँ। रोहित ने कहा- पिताजी नहीं ऐसा नहीं होगा। ऐसा कहकर रोहित धनुष लेकर जंगल में भाग गया। वह एक वर्ष तक अरण्य में घूमता रहा इसी बीच हरिश्चन्द्र को वरुण ने अपने पाश में बाँध लिया। उसको जलोदर रोग हो गया। यह बात रोहित ने सुनी। वह अरण्य से नगर में आया। मार्ग में पुरुष (ब्राह्मण) रूप में इन्द्र ने आकर रोहित को उपदेश दिया “आराम करने वाले को लक्ष्मी नहीं मिलती है रोहित। ऐसा सुना गया है। निठल्ला मनुष्य पापी होता है। चरणशील (कर्मशील) मनुष्य का भगवान् मित्र होता है, अतः चलते रहो, चलते रहो।”³

रोहित अरण्य से पुनः नगर में आया और पिता जी से कहा मुझे एक ब्राह्मण ने कहा कि चलते ही रहो चलते ही रहो। इन्द्र फिर पुरुष रूप में आकर रोहित से बोला- ‘चलने वाले की जंघायें पुष्पवाली (फलयुक्त) होती है। कुछ होवे (करने वाले) का शरीर फल प्राप्त करता है। चलने से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और श्रम से मार्ग में पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिए चलते ही रहो।’⁴ मुझसे ब्राह्मण ने चलने रहने को कहा है। वह तृतीय वर्ष पुनः जंगल में घूमता रहा। पुनः अरण्य से गाँव में आया। इन्द्र पुनः पुरुषरूप में आकर बोला- “बैठे हुए मनुष्य का भाग्य बैठ जाता है। खड़े होने वाले मनुष्य का भाग्य खड़ा हो जाता है। पड़े रहने वाले का भाग्य सो जाता है। चलने वाले का भाग्य चलने लगता है, अतः चलते ही रहो।”⁵ ‘मुझसे ब्राह्मण ने चलते ही रहने को कहा है।’ चतुर्थ वर्ष पुनः रोहित जंगल में घूमता रहा। वह फिर नगर में आया। इन्द्र ने पुरुषरूप में आकर उसको कहा- “सोने वाला मनुष्य कलियुग है। अंगड़ाई लेने वाला द्वापर है। उठ खड़ा हुआ मनुष्य त्रेतायुग है और चलने वाला सत्ययुग है, अतः चलते ही रहो।”⁶ ऐसा मुझसे ब्राह्मण ने कहा है। वह पुनः पाँचवें वर्ष जंगल में घूमता रहा। वर्षान्त में अरण्य से ग्राम में आया। पुनः इन्द्र पुरुष रूप में आकर बोला- ‘चलने से मनुष्य मधु (अमृत) प्राप्त करता है, चलने से ही उदुम्बर (फल) मिलता है। देखो सूर्य का श्रम, जो चलने से आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते ही रहो ऐसा’⁷ मुझसे ब्राह्मण ने कहा है। रोहित छठवें वर्ष भी अरण्य में घूमता रहा। उससे इन्द्र ने कहा- “चलने से मधु प्राप्त करता है। पुरुषक (पाप) को नष्ट करता है। खड़ा होकर श्री को प्राप्त करता है। बैठकर कुछ भी प्राप्त नहीं करता।”⁸ इसीलिए चलते ही रहो। वह सातवें वर्ष पुनः जंगल में घूमता रहा तब उसने जंगल में अजीगर्त ऋषि को भूख से दुःखी देखा। अजीगर्त के तीन पुत्र थे- शुनः पुच्छः, शुनः शेषः और शुनोलांगल। रोहित ने उससे कहा हे ऋषे! मैं सौ (निष्क मुद्राओं) से इन तीनों में किसे खरीदूँ। अजीगर्त ने मध्यम (शुनःशेष) को बेच दिया। उसे सौ (निष्क) स्वर्ण मुद्रायें देकर वह अयोध्या में आया। और पिता से कहा- मैंने अपने लिये इस शुनःशेष को खरीद लिया है। तब हरिश्चन्द्र वरुण राजा के पास गया और बोला मैं यज्ञ करूँगा। ठीक है, वरुण ने कहा- ब्राह्मण क्षत्रिय से श्रेष्ठतर होता है, अतः राजा को शुनःशेष का राजसूय यज्ञ में बलि करनी चाहिए।

उस यज्ञ में विश्वामित्र ऋषि होता थे, जमदग्नि अध्वर्यु थे, वसिष्ठ ब्रह्मा थे और अयास्य उद्गाता थे। शूनः शेष को पशुबलि के उपाकृत करके यूप में बाँधने वाला नहीं मिला। तब उसके पिता अजीगर्त ने कहा- मुझे सौ सुवर्ण मुद्राएँ और दी जाय। सौ सुवर्ण मुद्राएँ पाकर उसने अपने पुत्र को बलि के लिए यज्ञ के यूप में बाँध दिया। इस प्रकार मृत्यु को समीप जानकर शूनःशेष ने बड़े करुण शब्दों में भगवान वरुण की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर विश्वामित्र उसे अपना पोष्य पुत्र बना लेते हैं। राजा हरिश्चन्द्र रोगमुक्त होकर अपना यज्ञ पूरा करते हैं।

शांखायन श्रौतसूत्र में हरिश्चन्द्र

शांखायन श्रौतसूत्र में भी राजा हरिश्चन्द्र की कहानी ठीक ऐतरेय ब्राह्मण की तरह ही घटित होती है। दोनों ही कथाओं में कहीं कोई वैशम्य नहीं है, अपितु पूर्ण समानता दिखाई देती है। संक्षेप में शांखायन श्रौत सूत्र में हरिश्चन्द्रोपाख्यान इस प्रकार है-

हरिश्चन्द्र नाम के राजा थे जो बेधा कुल में जन्मने के कारण वैधस कहे गये। उनके वंश में एक्ष्वाकु महान राजा हुए। हरिश्चन्द्र राज खानदान के पुत्र थे। इनकी सौ पत्नियाँ थीं किन्तु पुत्र एक भी नहीं। साधन सम्पन्न होने पर भी पुत्र का अभाव था। उसी हरिश्चन्द्र के घर में एक बार पर्वत एवं नारद दो ऋषि एक साथ ठहरे। तब राजा ने नारद से पूछा- हे नारद ऋषि! पुत्र होने का वह कौन सा लाभ या गुण है जिसके कारण विद्वान एवं अविद्वान सभी पुत्र की इच्छा करते हैं। तब नारद ने अनेक प्रकार से पुत्र से प्राप्त होने वाले सुखों की चर्चा की।⁹ नारद के कथनों से ज्ञात होता है कि पुत्र से आनंद की प्राप्ति होती है। वह न केवल इहलोक में अपितु परलोक में भी सुखों का उपभोग कराता है। इस उपाख्यान में कन्या का जन्म दरिद्रता को देने वाला कहा गया है।

पुत्र सुख की बात सुनकर राजा हरिश्चन्द्र ने पुत्र प्राप्ति हेतु नारद से उपाय पूछा तब नारद ने उन्हें वरुण की उपासना करने को कहा। हरिश्चन्द्र ने वैसा ही किया तदोपरान्त वरुण ने हरिश्चन्द्र को पुत्र होने का वचन इस शर्त के साथ दिया कि वह उसी पुत्र से उसका यज्ञ करेगा। हरिश्चन्द्र को वरुण के वरदान से पुत्र हुआ जिसका नाम उसने रोहित रखा। पुत्र स्नेह के कारण हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की बलि देने से टालते रहे। तत्पश्चात् वरुण देव रूष्ट हो गये। उन्होंने हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से आक्रान्त कर दिया। उधर रोहित जंगलों में वरुण की बलि चढ़ने के डर से इधर-उधर भागता रहा। भागते हुए 6 वर्ष बीत गये। सातवें वर्ष में उसने घूमते हुए भूख से व्याकुल अजीगर्त ऋषि के पुत्र थे- शूनः शेषः और शूनोलांगल। रोहित ने उनसे पूछा कि क्या आप अपने बड़े पुत्र का विक्रय करके अपनी क्षुधा शांत करेंगे। मैं इसे बदले सौ स्वर्ण मुद्रायें दूँगा। तब अजीगर्त ने बड़े पुत्र का विक्रय करने से मना कर दिया। छोटे पुत्र को माता ने विक्रय करने से मना किया। दोनों ने मध्यम पुत्र शूनःशेष को बेचने का निश्चय किया। रोहित ने सौ स्वर्ण मुद्रा देकर शूनःशेष को खरीद लिया। तत्पश्चात् वह अयोध्या लौट आया। उसने अपने पिता हरिश्चन्द्र से कहा मैंने अपने लिए इस शूनःशेष को खरीद लिया है। तब हरिश्चन्द्र वरुण राजा के पास गया और बोला मैं यज्ञ करूँगा। ठीक है, वरुण ने कहा- ब्राह्मण क्षत्रिय से श्रेष्ठतर होता है,¹⁰ अतः राजा ने शूनःशेष का राजसूय यज्ञ में बलि करनी चाही।¹¹

हरिश्चन्द्र ने यज्ञ बलि हेतु शूनःशेष को पाकर यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में विश्वामित्र होते हुए। अंगिरस ऋषि उद्गाता थे एवं जमदग्नि ऋषि अध्वर्यु थे। यज्ञ में ब्राह्मण शूनःशेष को यज्ञ के यूप से बाँधनेवाला कोई व्यक्ति नहीं मिला तब उसके पिता अजीगर्त ने सौ योजन भूमि के बदले पुत्र को यज्ञ के यूप से बाँधा। मृत्यु को समीप पाकर शूनःशेष ने बड़े करुण शब्दों में भगवान वरुण की प्रार्थना की उसकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर विश्वामित्र उसे अपना पोष्य पुत्र बना लेते हैं और राजा हरिश्चन्द्र रोग मुक्त होकर यज्ञ पूरा करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक ग्रन्थों में राजा हरिश्चन्द्र की जो कथा है उसके कुछ उद्धरणों में उन्हें 'मिथ्यावादी' दिखाया गया है। वेदों में वर्णित हरिश्चन्द्रोपाख्यान को पढ़ने के बाद हम पाते हैं कि वैदिक कथा में पुत्र के महत्त्व को सर्वाधिक बल मिला है। वैदिक कथा में हरिश्चन्द्र के विचलित होने का कारण पुत्र ही है। हरिश्चन्द्र पुत्र मोह

में पड़कर वरुण से किये गये प्रतिज्ञा को भूलकर वंचकता का व्यवहार करते हैं। जिसके आधार पर उनके मिथ्यावादी प्रवृत्ति प्रकट होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र की भव्य प्रशंसा की गयी है उसके अनुसार पितृ लोग पुत्र के द्वारा ही अत्यन्त बहुत क्लेश को भी पार करने में समर्थ होते हैं पुत्र आत्मा से जन्मने वाला स्वयं आत्मा ही होता है। वह अन्न से भरी नौका है जो इस संसृति-सरित को पार करने में नितान्त समर्थ होती है।

संदर्भ-सूची :

1. पवमानोरथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः। हरिश्चन्द्रोमरूदणः॥ (ऋ0 1/26)
2. ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येज्जेज्जीवितो मुखम्॥11॥
यावन्तो पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्वततः॥12॥
शाश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्याययन्बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी॥13॥
किं नु किमजिनं किमु श्रमश्रुणि किं तपः।
पुत्रं ब्रह्मण इच्छध्वं स वै लोको वदावरः॥14॥ (ऐ0ब्रा0)
अननं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥15॥
पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥16॥
तज्जाया जाया भवति यदस्या जायते पुनः।
आभूतिरेषाभूतिर्बीजगेतनिनधीयज्ञे॥17॥
देवाश्चैतापुषयश्च तेजः समभरन् महत्।
देवा मनुष्यानब्रुवन्नेषा वा जननी पुनः॥18॥
नापुत्रस्य लोकोस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति॥19॥
विततो देवयानो येनाक्रमन्ने पुत्रिण ये विशोकाः।
तं पश्यनित पशवो वयांसि च तसमात्ते मात्रापि मिथुनीभवनित॥10॥ (ऐ0ब्रा0)
3. नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुमः।
पापो नृपद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरेवेति॥ (ऐ0ब्रा0)
4. पुष्पिण्यो चरतो लङ्घे भूषणुरात्मा फलेग्रहि।
शरेऽस्य पात्मानः श्रमेण प्रपश्रे हताश्चरेवेति॥ (ऐ0ब्रा0)
5. आस्त्रे भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेत्रे निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरेवेति॥ (ऐ0ब्रा0)
6. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥ (ऐ0ब्रा0)
7. चरन् वै मधु विन्दति चरन्त्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमानं यो न तन्द्रयते चरन्॥ (ऐ0ब्रा0)
8. चरन्वै मधु विन्दत्यपाजिन्वति परुषकम्।
उत्तिष्ठनिवन्दते श्रियं न निपद्य किंचनावति॥ (ऐ0ब्रा0)

9. स नारद एकयर्चा पृष्ठो दशभिर्वक्ष्यमाणाभिः प्रत्युवाच।
 पुत्रेण जातेन पिता पितृणामनृणो भवतोत्युच्यते। ऋणमस्मिन्संनयतौति। अमृतत्वं च चिन्दति। नैवासौ प्रियते
 यस्य पुत्रः। पिता पुत्रस्य जातस्य पुत्रयोग्यस्य निष्पन्नस्य पश्येच्चेज्जौवतो मुखं संप्रतिकाले।
 सर्वेषां प्राणिनां पृथिव्यां यावन्तो भोगाः क्षुदुपशमादयः। यावन्तो ज्ञातवेदसि आलोकप्रकाशरूपोपलब्ध्याद्यः।
 अक्षु च यावन्तो भोगास्तुदुपशमादयस्तेभ्यो भोगेभ्यः पितुः पुत्रे भूयान्भोगः।
 पितये नरकपातलक्षणं मान्द्रं तमः पुत्रेणात्यायन्। किं चान्यत्। आत्मा हि स आत्मनः सकाशाज्जातो अपृथग्भूत
 एवेत्यर्थः। स इरावत्यतिताऋणौ। दूरावत्यन्नवति श्रद्धोदकदानादौ कर्मणि अतिता। सातत्येन प्रापयिता।
 आवश्यकर्तव्यस्य च श्रद्धादेऋणी।
 हे ब्राह्मणः। ब्रह्मब्राह्मणयोरविशेषात्। हे ब्राह्मण इत्यामन्त्रिताः किं तु मलं धारयच नखलोमादिकं। किमजिनं
 धारयथ कृष्णाजिनं मुमुक्षवः मन्तः। किमु शाश्रूणि धारयथ वैखानसाः मन्तः। किं तपो धारयथ
 कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं। विष्णुलोकप्राप्त्यर्थं किं तर्हि कुर्मः। पुत्रमिच्छूयं म वै लोकोऽवदावद इति। वद स्थैर्यं।
 चिरविष्णुलोकप्राप्तिहेतुः पुत्र एवेत्यर्थः।
 अन्नं ह प्राण दूत्मेवमादीनां दृष्टान्तत्वेनोपादानम्। यथानिश्चितमन्नमेव प्राणः शरणं वस्त्रं सर्वतः परित्राणम्।
 हशब्दोऽवधारणार्थः। रूपं हिरण्यं सर्वद्रव्येभ्यः शोभनद्रव्यम्। पशवो ऽविवाहा विवाहरहिताः। सखा ह जाया
 इहलोकपरलोकसुखधर्मसाधनरूपत्वात्। दुहिता कृपणं। सर्वदादीनैव शोक कसे। यथैतानि ययायथं निश्चितानि
 एवं ज्योतिः पुत्रः परमे व्योमन् परमे स्थाने।
 पतिर्जायां सर्वाङ्कृत्य रेतमा प्रविशति। तत्र गर्भो भूत्वा मातरमिवाश्रित्य तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते
 ऽभिव्यज्यते।
 जायाशब्दस्य निर्वचनार्थं पुनरुक्तं। यस्मादस्यां पुनर्जायते तस्माज्जाया जाया। आमंमारमेषाभूतिर्भवनं
 यदस्यामेवेतद्वीजं निधीयते। देवा ऋषश्च एतां जायां गहतेजः संभारं कृत्वा देवा मनुष्यानब्रुवन्नेष पुनर्युमाकं जननी
 भविष्यति। जायास्तुति रपत्योत्पत्तिस्तुत्यर्था।
 एष इति प्रकृतसंनिहितपरामर्शकः। पन्था मार्गः। विततो विस्तीर्णो देवयानो न पितृयानो येनाक्रमन्ते पुत्रिणः।
 येन गच्छन्ति पुत्रिणः ये विगतशोकाः। तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च पक्षिणाश्च। तस्मात्ते मातर्यपि मिथुनं
 चरन्ति। एवं नाम पुत्रोत्पत्तिः प्रशस्यते येन विरूद्धमप्यभिधीयते। यथा लोके मरतत्वादशीत्वा, निष्पादयितव्यं
 किमपीति।
 अर्थवादो ऽयं पुत्रोत्पत्ति प्रशंसार्थः। गावो वा एतत् सत्तमासलेति यथा। (शां०श्रो० 17/5-23)
 1-वरूणस्तथेत्युक्तवान् प्रशस्ततरो ब्राह्मणः क्षत्रियादिति परितोषेणोक्तवान्।
 2-स हरिश्चन्द्र एतं शुनःशेषं पुरुषं पशुं राजसूये आलब्धवान्। यद्यपि राजसूये पुरुषस्यालम्भो न
 चोदितस्तथाप्याख्यानकवशादेयं ग्रहीतव्यम्। (शां०श्रो० 20/21.2)
10. वरूणस्तथेत्युक्तवान् प्रशस्ततये ब्राह्मणः क्षत्रियादिति परितोषेणोक्तवान्।
11. स हरिश्चन्द्र एतं शुनःशेषं पुरुषं पशुं राजसूये आलब्धवान्। यद्यपि राजसूये पुरुषस्यालम्भो न
 चोदितस्तथाप्याख्यानकवशादेयं ग्रहीतव्यम्। (शां०श्रो० 20/21.2)